20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री जीवन के सवाल (1900–1920)

Questions Regarding Women's life in the Initial Two Decades of Hindi Journals in the Twentieth Century
(1900–1920)

(पीएच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबंध)

शोध–निर्देशक
प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी
मिनाक्षी

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067
2016

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 21/07/2016

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. thesis entitled **"BEESWEIN SHATABDI KE PRARAMBHIK DO DASHKON KEE HINDI PATRIKAON MAIN STRI JEEWAN KE SAWAL (1900-1920)" [QUESTIONS REGARDING WOMEN'S LIFE IN THE INITIAL TWO DECADES OF HINDI JOURNALS IN THE TWENTIETH CENTURY (1900-1920)]** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Meenakshi
(Research Scholar)

Prof. Devendra Kumar Choubey
(Supervisor)
CIL/SL/&CS/JNU

Prof. S. M. Anwar Alam
(Chairperson)
CIL/SL/&CS/JNU

अनदेखे–अनजाने जीवन संघर्षों को समर्पित...

स्त्री जीवन के प्रश्न समग्र जीवन के केंद्रीय प्रश्न हैं, हाशिए के प्रश्न नहीं...

मिनाक्षी

भूमिका

1857 के बाद समाज में स्त्री के वजूद की बहसों से मुख्य आशय पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे, अज्ञात हिंदू महिला, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, स्वामी दयानंद सरस्वती, महादेव गोविंद रानाडे, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महर्षि कर्वे आदि समाज सुधारकों द्वारा चलाए गए आंदोलन से है। देश में आए इस विशेष प्रकार के परिवर्तन के लिए तत्कालीन परिस्थितियाँ तो विशेषकर उत्तरदायी थीं ही, लेकिन अंग्रेजी शासन से स्वाधीनता की प्रबल इच्छा का सन् 1857 में फूट कर सामने आना भी बहुत हद तक उत्तरदायी था। यद्यपि यह क्रांति इतनी सफल नहीं हो पाई, पर इसने जागृति की एक ऐसी लहर भारतीय जन–जीवन में फूँकी, जो 1947 में अंग्रेजी शासन से मुक्त होने पर ही शांत हुई। राष्ट्रीय स्वाधीनता के स्वप्न से उपजी 'नवीन चेतना' जल्द ही 'स्वाधीन चेतना' के रूप में परिणत होकर सामाजिक कुप्रवृत्तियों के विरोध में प्रकट हुई क्योंकि सामाजिक रूढ़ियों से युक्त मानसिकता भी भारतीय पराधीनता का एक कारण था और सामाजिक रूढ़ियों और मानसिक दासता से मुक्त हुए बिना, स्वाधीनता संघर्ष अपूर्ण था। इस प्रकार देश की स्वाधीनता के लिए सामाजिक मुक्ति को अनिवार्य माना गया। चूँकि स्त्री समाज का अभिन्न अंग है और समाज का अभिन्न अंग होने के नाते सामाजिक मुक्ति, बिना स्त्री स्वाधीनता के संभव न थी।

यह वैचारिक परिवर्तन केवल सामाजिक स्तर पर ही नहीं, साहित्यिक स्तर पर भी था। यह वह युग था जिसमें साहित्यिक कुप्रवृत्तियों का विरोध किया गया और मनोरंजन, ऐय्यारी विषयक जैसे साहित्य को त्याज्य समझ कर, साहित्य में मानवतावाद और युगीन बोध को प्रमुखता दी। जब हम इस युग के साहित्य पर दृष्टि डालते हैं तो हमें तीन प्रकार का साहित्य देखने को मिलता है। पहले प्रकार के साहित्य में वे साहित्यकार आते हैं जिनका लक्ष्य मात्र साहित्य सर्जना करना था, इनमें गोपालराम गहमरी, देवकीनंदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी आदि हैं। दूसरे, वे जिन्होंने स्त्री जीवन समस्याओं को विषय बनाकर लिखा। इनमें महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालकृष्ण भट्ट, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि आते हैं। इनकी विशेषता है कि ये सभी लेखक होने के साथ–साथ 'पत्रकार' भी थे। तीसरे प्रकार के साहित्य में स्वयं स्त्री रचनाकार हैं, जिन्होंने महिला अस्तित्व को बचाए रखने और महिला शक्ति बढ़ाने हेतु कलम उठाई। इनमें सुभद्रा देवी, उमादेवी नेहरू, रामेश्वरी देवी आदि के नाम प्रमुख हैं।

आधुनिक काल के सभी सुधारकों, राजनीतिज्ञों, विचारकों, साहित्यकारों ने अपने–अपने अनुसार नवजागरण लाने का प्रयास किया, क्योंकि इन्हें यह भलीभाँति समझ में आ गया था कि समाज के सभी वर्गों की उन्नति से ही, सही अर्थों में समाज की उन्नति और राष्ट्र की स्वाधीनता है। साहित्य में यह कहानी, उपन्यास, कविता, निबंध, नाटक आदि के माध्यम से किया गया। आधुनिक काल जिसे नवजागरण युग की संज्ञा दी जाती है, इसका प्रचार–प्रसार केवल ऊँचे तबकों तक सीमित था, नारी जीवन सुधार की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। अज्ञानता के कारण वह अनेक प्रकार की रूढ़ियों, मान्यताओं एवं कुरीतियों से ग्रस्त होकर अत्याचार सह रही रही थी। ऐसे में साहित्य तो पहले से ही जागरुक था, फिर हिन्दी पत्रकारिता की भी दृष्टि इस ओर गई।

हिन्दी पत्रकारिता का जो स्वरूप आज हमारे समक्ष विद्यमान है, वह आधुनिक युग की देन है। परंतु, 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं के विषय में ऐसा माना जाता है कि साहित्य के विकास और साहित्य के अस्तित्व को बचाने के लिए उसे जनता के बीच लाया गया तथा साहित्य को जनता के बीच लाने और उससे संबंधित समस्याएँ सुलझाने में इन पत्रिकाओं ने विशेष भूमिका निभाई। लेकिन एक सच्चाई यह भी है कि यह प्रकट ही उपनिवेशवाद के विरोध में हुई थी। पत्रकारिता की विशेषता रही है कि इसने समाज के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्ष को बड़ी निर्भीकता से समाज के समक्ष प्रस्तुत किया और मनुष्य के वर्तमान और भविष्य पर चिंता व्यक्त कर, नवीन जीवन मूल्यों को स्थापित किया। एक प्रकार से यह संपूर्ण व्यवस्था को चुनौती देने का सशक्त माध्यम बनी। स्वाधीनता आंदोलन या उसके बाद इसकी भूमिका से सभी परिचित है। ऐसी दशा में इसके अलावा हिन्दी साहित्यकारों एवं विचारकों के समक्ष रचना के माध्यम से अपनी बातों को पूरा जोर देकर कहने का अन्य माध्यम क्या हो सकता था? फलतः हिन्दी साहित्यकारों ने पत्रिकाओं को अपना हथियार बनाया। इन पत्रिकाओं के समक्ष राष्ट्र और राष्ट्रीयता का प्रश्न मुख्य रूप से था, पर इसके साथ–साथ इन पत्रिकाओं ने 'स्त्री' और 'स्त्री साहित्य' को भी स्थान दिया। इन पत्रिकाओं ने स्त्री जीवन से जुड़ी चिंताओं, समस्याओं अथवा प्रश्नों को कहानियों, लेखों, कविताओं, आलोचनाओं, नाटकों, टिप्पणियों, निबंधों आदि द्वारा प्रकट कर सभी वर्गों को जागृत करने का प्रयास किया, विशेषकर स्त्रियों को। भारतेंदु ने स्त्री शिक्षा को लेकर 'बालाबोधिनी' नामक एक पत्रिका भी निकाली।

हिन्दी पत्रिकाओं का आरम्भ 19वीं शताब्दी में हो गया था, लेकिन बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में नवजागरण संबंधी बहसों एवं आंदोलनों तथा पश्चिमी सभ्यता के प्रभावजन्य प्रवृत्तियों के कारण हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं में स्त्री जीवन से जुड़े प्रश्नों को अधिक बल मिला। स्वाधीनता आंदोलन में स्त्रियों ने पुरुषों के साथ भागीदारी निभाकर अपनी शक्ति का परिचय पहले ही दे दिया था। खासकर 19वीं सदी के आखिरी दशकों में पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे, अज्ञात हिंदू महिला आदि के स्त्री जीवन संबंधी सवालों ने समाज को झकझोरा, किंतु वास्तविकता अभी भी कोसों दूर थी।

भारतीय स्त्री का जीवन जिस नियमबद्ध प्रणाली की बाध्यताओं में विवश था, उसके लिए केवल सामाजिक व्यवस्था उत्तरदायी थी। इसी ने स्त्री–पुरुष के बीच के अंतराल को कभी कम नहीं होने दिया, बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ाने का काम किया। इसने स्त्री को अपनी निजी संपत्ति मानकर उसके अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण किया। उसके लिए ऐसा कोई विकल्प नहीं छोड़ा जो उसके जीवन का आधार बन सकता था। इसलिए यहाँ प्रश्न स्त्री जीवन को आधार प्रदान करने वाली शिक्षा का था जो स्त्रियों को समाज में पुरुषों के समान सम्मान, अधिकार और स्थान दिला सकती थी, फिर वह चाहे घर के अंदर हो या घर के बाहर, लेकिन सामाजिक व्यवस्थापकों के धार्मिक कट्टरपन के कारण इसे सरलता से अपनाना कठिन था। वह यह तय नहीं कर पा रहे थे कि स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिए या नहीं, यदि हाँ तो किस प्रकार की शिक्षा स्त्रियों के लिए बेहतर है और किस भाषा अथवा प्रणाली में यह दी जानी चाहिए? जबकि शिक्षा के अभाव में वह उपेक्षित, पद–दलित होकर अनेक प्रकार की रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से जकड़ी हुई अनेकों बुराई जैसे पर्दा प्रथा, वेश्यावृत्ति, बाल–विवाह, कुली प्रथा, दहेज प्रथा आदि का शिकार हो रही थी।

20वीं शताब्दी के प्रारम्भिक दो दशकों में तीन प्रकार की पत्रिकाएँ दिखलाई पड़ती हैं। प्रथम सामाजिक जैसे 'सरस्वती', 'प्रभा', 'मर्यादा' द्वितीय राजनैतिक जैसे 'प्रभा', 'हिन्दी प्रदीप' और तृतीय स्त्रियों द्वारा संपादित जैसे 'स्त्रीदर्पण'। इन तीनों प्रकार की पत्रिकाओं ने भिन्न–भिन्न दृष्टिकोणों से स्त्री जीवन के प्रश्नों पर प्रकाश डाला। कहीं ऐतिहासिक, पौराणिक कथाओं और चरित्रों के उदाहरण भारतीय स्त्रियों के समक्ष प्रस्तुत किए। कहीं पतिभक्ति, वीरता, सतीत्व, एकाग्रता, सहनशीलता आदि गुणों को सर्वोपरि माना। कहीं धर्म, कर्तव्य, अधिकार की बात कही,

तो कहीं एनी बेसेंट और सरोजिनी नायडू जैसी महिलाओं की कीर्ति का बखान किया। या किसी ने स्त्री जीवन पर प्रभाव डालने वाली सामाजिक बुराईयों जैसे दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, कुली प्रथा, बाल–विवाह, वेश्यावृत्ति, सती प्रथा आदि की ओर ध्यान आकृष्ट कराया, तो कहीं नये मूल्यों और संस्कारों पर जोर डाला।

हालांकि विचारकों, साहित्यकारों, लेखकों का स्त्री जीवन के प्रश्नों पर विचार द्विवेदी युग के पूर्व ही प्रारंभ हो चुका था, लेकिन कैसे द्विवेदी युगीन पत्रिकाएँ भारतेंदु युगीन पत्रिकाओं से भिन्नता रखती है? अथवा क्या द्विवेदी युगीन पत्रिकाओं में स्त्री जीवन के सवाल अपने पूर्ववर्ती सुधारकों, विचारकों, लेखकों से साम्य रखते हैं या भिन्न हैं? इनसे किस हद तक द्विवेदी युगीन साहित्यकार, रचनाकार प्रभावित हुए? स्त्री के प्रति इनका अपना दृष्टिकोण कैसा रहा? स्त्री जीवन के सुधार हेतु इन्होंने कौन–कौन से कदम उठाए गए? सबसे महत्त्वपूर्ण कि स्त्री जीवन के प्रश्नों को लेकर स्वयं स्त्री रचनाकारों का नजरिया कैसा था? क्या इनके विचार भी अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन समाज सुधारकों से साम्य रखते हैं या भिन्न हैं? ऐसे कौन–से उत्तरदायी कारक रहे जिसके कारण महिलाओं को लेखन करने के लिए विवश होना पड़ा? स्त्री जीवन के प्रति इनका अपना नजरिया क्या रहा और कौन–कौन से कदम उठाए गए? इसके अतिरिक्त द्विवेदी युगीन पत्रिकाएँ अपने पूर्ववर्ती विचारकों और साहित्यकारों से किस सीमा तक प्रभावित हैं? इनसे इतर इन्होंने कौन–कौन से स्त्री जीवन से जुड़ें सवाल उठाए हैं?

प्रस्तावित शोध–प्रबंध को सात अध्यायों में बाँटा गया है। **प्रथम अध्याय** सैद्धांतिक है। यह अध्याय भारत में स्त्री जीवन पर केंद्रित है। स्त्री जीवन जो सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवधारणाओं से प्रभावित है और लगातार बहसों का विषय रहा है। स्त्री चेतना की दृष्टि से इसका ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके इतिहास के साथ हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री के विकासात्मक स्वरूप को क्रमानुसार समझने का प्रयास किया है।

द्वितीय अध्याय प्रारंभिक दो दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं के स्वरूप और स्त्री जीवन संबंधित सवालों पर केंद्रित है। इस अध्याय में 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में उठने वाले स्वरों (सुधारवादी, उपदेशवादी, आदर्शवादी और मानवतावादी) के विचारात्मक स्वरूपों का मूल्यांकन किया गया है। स्त्री जीवन संबंधी सवालों जैसे स्त्री–शिक्षा, स्त्री–विवाह, स्त्री एवं दूषित

कुप्रथाएँ आदि को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने के अलावा पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री का स्थान को नजदीकी से विश्लेषण किया गया है।

तृतीय अध्याय प्रारंभिक दशकों में उठने वाले सवालों में प्रमुख सवाल स्त्री–शिक्षा पर आधारित है। इस अध्याय में पत्रिकाओं में स्त्री–शिक्षा अर्थ, महत्त्व और विषयों पर विभिन्न विचारकों के व्यक्त मतों के विश्लेषण से स्त्री–शिक्षा के समग्र परिवेश को समझा गया है। स्त्री–शिक्षा स्त्री मुक्ति में सहायक है या नहीं यह इसके सह–संबंध से विश्लेषित है। स्त्री–शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में भाषागत मूल्यांकन में स्त्री–शिक्षा की भाषा पर विचार–विमर्श किया गया है।

चौथा अध्याय प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री–विवाह संबंधी प्रश्न पर आधारित है। इसमें स्त्री–विवाह के विविध संदर्भों यथा विवाह का अर्थ, उद्देश्य, नियम एवं वैवाहिक प्रथाओं के अध्ययन का मूल्यांकन किया है। इसमें विवाह के विविध संदर्भों के पक्ष–विपक्ष में उठाए गए प्रश्नों का विश्लेषण ही नहीं किया बल्कि स्त्री के जीवन में इनकी आवश्यकता पर भी शोध किया है। इसके साथ–साथ विवाह संस्था में पितृसत्ता की भूमिका और उसकी स्त्री समाज में क्रिया–प्रतिक्रिया का अवलोकन किया गया है।

पांचवा अध्याय प्रारंभिक दो दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री के कर्तव्य एवं दायित्व संबंधी सवालों पर केंद्रित है। इस अध्याय में स्त्री के पारिवारिक और सामाजिक दोनों प्रकार के कर्तव्य एवं दायित्वों पर दृष्टि डाली गई है। विधवा स्त्री के कर्तव्य एवं दायित्व पर विचार–विमर्श किया गया है। 'स्त्री लेखन' और 'पुरूष लेखन' के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सही अर्थों में स्त्री के जीवन में कर्तव्यों एवं दायित्वों का महत्त्व एवं उपयोगिता रेखांकित गई है।

छठा अध्याय प्रारंभिक दो दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में धर्म एवं संस्कृति संबंधी सवालों पर है। मनुष्य अपने धर्म और संस्कृति से ऐसे चिपका है कि उससे अलग कभी सोच नहीं पाता है। यह उसके साम्राज्य को फैलाने में मदद करती है। स्त्रियाँ इन सब तथ्यों से अवगत होते हुए धर्म एवं संस्कृति की कैसे वाहक बनती है वह 20वीं शताब्दी की पत्रिकाओं की सहायता से धर्म एवं संस्कृति (हिंदू, मुस्लिम और ईसाई) में स्त्रियों के धर्म, खान–पान, रहन–सहन, परिवेश तथा इससे उसके जीवन पर पड़े प्रभावों के अलावा उसके जीवन में इनके महत्त्व आदि को विभिन्न विचारकों के दृष्टिकोण से समझा है।

सातवां अध्याय स्त्री मुक्ति पर केंद्रित है। इस अध्याय में बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री मुक्ति प्रश्नों पर दृष्टि डाली गई है। इसमें स्त्री मुक्ति के वास्तविक अर्थ को समझने के साथ–साथ स्त्री मुक्ति के तमाम पहलुओं (सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक) को निकटता से जानने का प्रयास किया गया है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में विविध स्त्री संगठन एवं समितियाँ क्रियाशील थी। इन संगठनों एवं समितियों को स्त्री मुक्ति आंदोलन के संदर्भ स्पष्ट किया गया है।

यह शोध प्रबंध 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री जीवन से जुड़े विविध प्रश्नों को खोजने का प्रयास है। इनमें से अनेकों प्रश्नों समकालीन युग से भिन्न होते हुए आम जीवन के बहुत नजदीक है। इनसे आज की स्त्री जुड़ी हुई अनुभव करती है। इस दौरान एक स्त्री होने के नाते बहुत कुछ सीखने को मिला है। इससे जीवन के कठिन दौर में कटु यथार्थ से लड़ने की कहीं न कहीं शक्ति मिली है। जीवन के प्रत्येक मोड़ पर यह क्षण प्रायः अविस्मरणीय रहेगा।

मैं अपने शोध निर्देशक प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे के प्रति उनके कुशल निर्देशन, शोध संबंधित शंकाओं और कठिनाओं के समाधान एवं समयबद्ध ढंग से शोध कार्य करवाने हेतु इस आशा के साथ आभारी हूँ कि उनका कुशल मार्गदर्शन मुझे भविष्य में ऐसे ही प्राप्त होता रहेगा। एक मौन आभार उन सभी चिर–परिचित शुभचिंतकों के लिए जो मुझसे और इस शोध प्रबंध से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से जुड़े रहे।

–मिनाक्षी

अनुक्रमणिका

भूमिका i–vi

प्रथम अध्यायः **9–57**

1. भारत में स्त्री जीवनः समाज, साहित्य और हिन्दी पत्रकारिता

1.1 स्त्री शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

1.2 स्त्रीः सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवधारणाएँ

1.3 स्त्री संबंधी बहसों का इतिहास

1.4 हिन्दी पत्रकारिता में स्त्री का स्वरूप

द्वितीय अध्यायः **58–103**

2. प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं का स्वरूप और स्त्री जीवन के सवाल

2.1 प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं के मुख्य स्वर

2.2 प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री जीवन संबंधी सवाल

2.3 पितृसत्ता और भारतीय समाज में स्त्री

तृतीय अध्यायः **104–139**

3. हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री–शिक्षा संबंधी सवाल

3.1 स्त्री–शिक्षा विषय एवं महत्त्व

3.2 स्त्री–शिक्षा और मुक्ति

3.3 स्त्री–शिक्षा और भाषा

चतुर्थ अध्यायः **140–166**

4. हिन्दी पत्रिकाओं में विवाह के संदर्भ में स्त्री संबंधी सवाल

4.1 विवाहः अर्थ और उद्देश्य

4.2 विवाह के नियम

4.3 वैवाहिक प्रथाएँ

4.4 पितृसत्ता, विवाह और स्त्री समाज

पंचम अध्यायः **167–192**

5. हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री के कर्तव्य एवं दायित्व संबंधी सवाल

5.1 स्त्री कर्तव्य और दायित्व

5.1.1 पारिवारिक

5.1.2 सामाजिक

5.2 विधवा स्त्री के कर्तव्य एवं दायित्व

5.3 स्त्री कर्तव्य एवं दायित्व के मायने

षष्ठ अध्यायः **193–239**

6. हिन्दी पत्रिकाओं में धर्म एवं संस्कृति के संदर्भ में स्त्री संबंधी सवाल

6.1 स्त्री धर्म

6.2 स्त्री और संस्कृति

सप्तम अध्यायः **240–289**

7. हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री स्वाधीनता बनाम मुक्ति का सवाल

7.1 स्त्री स्वाधीनता का अर्थ

7.2 स्त्री की सामाजिक स्वाधीनता

7.3 स्त्री की आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता

7.4 स्त्री मुक्तिः स्त्री संगठन एवं आंदोलन

उपसंहार **290–293**

संदर्भ ग्रंथ–सूची

आज आलोचना और विचारधारा की दुनिया में स्त्री संबंधी बहसें केंद्र में हैं। यद्यपि आरंभ से ही पुरुष प्रधान व्यवस्था में स्त्री को बँधी–बँधाई परिपाटी में देखने की परंपरा रही है। माँ, बहन, बेटी, पत्नी और प्रेयसी से इतर कभी इसे देखा और परखा ही नहीं गया, कभी मनुष्य की श्रेणी में रखा ही नहीं गया। हालात यह हो गए कि उसे हाशिए पर लाकर खड़ा कर दिया गया। जीवन के हर क्षेत्र में स्त्री की अहम् भूमिका होती है, परंतु भारतीय समाज हमेशा से उसकी भूमिका पर प्रश्न चिह्न खड़ा करता आया है। समाज द्वारा उसे नकारने अथवा हाशिए पर रखने से उसकी उपादेयता कम नहीं हो जाती, बल्कि वह मानवीय जीवन और समाज से प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से संबद्ध है।

सदियों से लेकर अब तक स्त्री कहीं न कहीं, किसी न किसी कारण केंद्रीय विषय रही है। यद्यपि वह उसके सौंदर्य को लेकर अधिक चर्चा में रही है, परंतु उसकी जीवन दशा भी किसी से नहीं छिपी है, और न ही नजरअंदाज करने योग्य रही है। इतिहास, कला, साहित्य, संस्कृति आदि लगातार इसके साक्षी रहे हैं कि किस प्रकार स्त्री एक उपादान तुल्य वस्तु थी। यह उसकी उपलब्धि नहीं, बल्कि अधोगति का प्रमुख कारण है। वेद, उपनिषद्, रामायण, मनुस्मृति आदि स्त्री जीवन की गाथा ही तो गाते हैं। वेदों की ऋचाओं में बताया गया है कि एक स्त्री को कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिए, उसके क्या–क्या कर्तव्य हैं, उसकी उपलब्धियाँ क्या–क्या हैं? आदि। वाल्मीकि, व्यास जब रामायण और महाभारत जैसी रचनाओं का निर्माण करते हैं, उसका केंद्रीय बिंदु भी स्त्री जीवन ही है जो सीता और द्रौपदी के माध्यम से इनकी विवशता अथवा असमर्थता प्रकट करती है।

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध रचनाकारों विद्यापति, चंदबरदाई, तुलसीदास, सूरदास, कबीरदास, मीरा, बिहारी आदि के चिंतन में भी स्त्री जीवन एक बड़े पक्ष के रूप में दिखलाई पड़ता है। यह चिंतन–मनन भारतीय परिप्रेक्ष्य के साथ–साथ पश्चिमी परिप्रेक्ष्य में भी देखा जा सकता है। परंतु आज प्रायः भारतीय और पश्चिमी परिप्रेक्ष्य में स्त्री जीवन पर एक विशेष प्रकार की दृष्टि रही है, जिसे 'स्त्री–विमर्श', 'स्त्रीवादी चिंतन', 'स्त्री–चेतना' आदि से जोड़ा जा रहा है। इन्हें आधुनिक अवधारणाएँ अवश्य कहा जा सकता है, परंतु इनके केंद्र में भी तो कहीं न कहीं स्त्री जीवन ही है। एक प्रकार से स्त्री जीवन के एक बड़े पक्ष को समाज,

साहित्य और पत्रकारिता ने प्रभावित किया है। इससे और हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं से पूर्व प्राचीन समाज में व्याप्त स्त्री संबंधी अवधारणाओं को संपूर्ण फलक पर देखना होगा।

1.1 स्त्री शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

स्त्री शब्द का सामान्यतः संबंध 'स्त्यान' अथवा 'स्त्यायति' एवं 'संस्त्यान' से माना गया है। इस अर्थ में स्त्री शब्द की व्युत्पत्ति 'स्त्यै' धातु में 'ड्रट्' प्रत्यय के योग से हुई है। पाणिनी के अनुसार 'स्त्यै' का अर्थ है–शब्द करना, संघात तथा एकत्रित करना।[1] शारीरिक संरचना के आधार पर स्त्री में विविध विशेषताएँ होती हैं उनमें शब्द करना उसकी विशेषता का सूचक है। स्त्री में इस विशेषता का संघात स्त्री होना दर्शाता है। यास्क के अनुसार 'स्त्यै' का अर्थ है– लज्जा से सिकुड़ना।[2] स्त्री की सर्वप्रथम विशेषता लज्जाना तथा शर्माना है। स्त्री की इसी विशेषता के कारण 'स्त्री' को 'स्त्री' से संबोधित किया जाता है। पतंजलि अनुसार 'स्त्यै' का अर्थ है–गर्भ।[3] गर्भ धारण करने की प्रवृति केवल स्त्री में होने के कारण वह 'स्त्री' है। कैयट के अनुसार 'स्त्यान' अथवा 'संस्यान' का अर्थ है–तिरोभाव।[4] स्त्री तिरोभाव से परिपूर्ण है।

1.2 स्त्रीः सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवधारणाएँ

'स्त्री' समाज और साहित्य की मूलाधार कड़ी है। वह सदियों से लेकर अब तक कहीं न कहीं, किसी न किसी कारणवश केंद्रीय विषय बनकर सामाजिक प्राणियों और साहित्य मनीषियों को आकर्षित करती आई है। इस कारण स्त्री, समाज और साहित्य का संदर्भिक अर्थ अलग–अलग होते हुए भी तीनों का आपस में घनिष्ट संबंध है। तीनों का एक प्रक्रिया में एक–दूसरे के इर्द–गिर्द घूमना इनकी अन्योन्याश्रित स्थिति को दर्शाता है। 'जहाँ स्त्री है वहाँ समाज है', 'जहाँ समाज है वहाँ साहित्य है', 'जहाँ साहित्य है वहाँ स्त्री है', 'जहाँ स्त्री है वहाँ साहित्य है', 'जहाँ साहित्य है वहाँ समाज है', 'जहाँ समाज है वहाँ स्त्री है' जैसी स्थिति को सुनिश्चित करता है। इन तीनों में दखलअंदाजी किए बिना भी अनायास एक–दूसरे की दखलअंदाजी का दंश आ जाता है। इनमें जितनी क्षमता एक–दूसरे में दखलअंदाजी करने की है, उतनी ही क्षमता एक–दूसरे को प्रभावित करने की भी है। यही कारण है कि गार्गी, मैत्रेयी को आदर्श बनाने के बरक्स सीता, सावित्री, अहिल्या आदि को आदर्श बनाने वाले

समाज और साहित्य में स्त्री आज तक अबला, निस्सहाय, पराश्रित दिखलाई पड़ती है। साहित्य और समाज में स्त्रियों को अबला, निस्सहाय, पराश्रित प्रतिस्थापित करना उसकी उपलब्धि का नहीं बल्कि उसकी अधोगति का सूचक है। यदि आरंभ से ही गार्गी, मैत्रेयी को आदर्श बनाया जाता तो वह आज एक सशक्त व्यक्तित्व के रूप में स्थापित होती और आज जिस 'स्त्री विमर्श' की बात की जा रही है वह इतना विलंब से आया हुआ प्रतीत नहीं होता। या शायद 'स्त्री विमर्श' जैसे किसी विमर्श की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक प्रणाली में स्त्री जीवन की स्थिरता स्वयं में वाद है। इसका मूलभूत कारक भारतीय समाजिक संरचना में निहित है। भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्री जिन दैवीय प्रतिमानों अथवा अन्य प्रतिमानों से प्रतिष्ठित है उसमें स्त्री विषयक अवधारणाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। इन अवधारणाओं ने 'स्त्री' और 'स्त्री जीवन' को जितना जटिल बना दिया है शायद ही किसी ने बनाया हो। स्त्री के सर्वांगीण विकास के लिए इन्हें तोड़ना अनिवार्य हो गया है क्योंकि इन्हें तोड़े बिना स्त्री–अस्तित्व की पहचान असम्भव है। स्त्री जटिलताओं का नहीं, स्वतंत्र इकाई का सूचक है। इस अर्थ में स्त्री की अवधारणा, स्त्री एवं स्त्री जीवन की पुनर्व्याख्या के लिए उभरी एक स्वतंत्र विचारधारा है। यह विचारधारा स्त्री विषयक प्राचीन एवं परंपरागत अवधारणाओं का खंडन करती है और नवीन अवधारणाओं की व्याख्या करती है।

स्त्री इतिहास को भलीभाँति दृष्टिपात करने पर यह ज्ञात हो जाता है कि प्राचीन काल से ही स्त्रियों को ऊँचा दर्जा देने की बात कही गयी है; यहाँ तक कि उसे देवताओं की श्रेणी में भी रख दिया गया। किंतु आरंभ से ही स्त्री की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न रही है। यदि ऐसा न होता तो वैदिक ऋचाओं के द्रष्टाओं में गार्गी, मैत्रेयी आदि महिला ऋषियों को समय–समय पर याद नहीं किया जाता। भले ही साहित्य में स्त्री चेतना का आरंभ गार्गी, मैत्रेयी आदि महिलाओं से होता है किंतु प्राचीन काल की स्त्रियों में वैसी चेतना अथवा विद्रोह यदा–कदा देखने को मिलता है जैसा पिछले कई दशकों से देखने को मिल रहा है।

भारतीय ऐतिहासिक परिदृश्य में मानव 'आदिमानव' से ज्यादा कुछ नहीं था। उसका रहन–सहन, आचार–विचार सब विलक्षण था। उसका ध्येय मात्र अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना था जो स्त्री–पुरुष की समान भागीदारी के संभव न थी। आदिम अवस्था में

स्वच्छंद यौन–संबंध का प्रचलन था जिसके अनुसार प्रत्येक स्त्री किसी भी पुरुष के साथ और प्रत्येक पुरुष किसी भी स्त्री से यौन–संबंध बना सकते थे। वहाँ एक–दूसरे पर आधिपत्य का प्रश्न ही नहीं उठता। मार्गन के शब्दों में–''परिवार का आरम्भ समरक्तता से हुआ तथा वह भाइयों और बहनों के एक समूह के अन्दर ही विवाह पर आधारित था, पर फिर उसका विकास एक दूसरे रूप में, पुनालुआ परिवार में हुआ।''[5] समरक्त परिवार की सम्भावना स्वतंत्र यौन–संबंध से होती है। आदिम जांगल अवस्था में कोई भी स्त्री–पुरुष किसी भी स्त्री–पुरुष से यौन–संबंध बना सकते होंगे जिसने आगे चलकर समरक्त परिवार का निर्माण किया होगा। जहाँ तक उत्तराधिकार का प्रश्न है आदिम जांगल मानव की संपत्ति नगण्य होने के कारण उत्तराधिकार का प्रश्न नहीं उठता। अतः आदिम समाज की निम्न अवस्था को न पितृसत्तात्मक माना जा सकता है और न ही मातृसत्तात्मक। आदिम युग की जांगल निम्न अवस्था में यौन–स्वच्छंदता के बाद सर्वप्रथम परिवार और विवाह का रूप सामने आया। इसका विवरण मार्गन ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन समाज' में विस्तार से दिया है।

मानव सभ्यता के अग्रिम विकास क्रम और मानव इतिहास में आग[6] की खोज प्रमुख घटना है। यह प्रमुख घटना इसलिए भी है क्योंकि इसी घटना ने स्त्री संबंधी नवीन अवधारणाओं को जन्म दिया। यहीं से उसे स्त्री नामक पहचान मिली जो केवल निर्बलताओं की सूचक है न कि उसकी क्षमताओं की। डॉ. अमरनाथ के शब्दों में–''आग की खोज का सत्ता परिवर्तन में क्रान्तिकारी योगदान है आरम्भ में मनुष्य कच्चा आहार ही करता था परन्तु बाद में जब किसी तरह उसने आग की खोज कर ली तो वह पका मांस भी खाने लगा और जब एक बार उसे पके मांस के स्वाद का अनुभव हुआ तो आग की प्रबल आवश्यकता महसूस हुई। अब जरूरत थी आग को निरन्तर प्रज्वलित रखने की। इसके लिए गर्भवती नारी सर्वाधिक उपयुक्त साबित हुई। गर्भावस्था में चूँकि वह प्रायः कठिन परिश्रम करने में अशक्त होती है अतः पुरुष ने घर में बैठकर निरन्तर आग को जलाये रखने के कार्य में उसे लगा दिया और यही वह ऐतिहासिक घटना थी जब नारी आग और चूल्हे से जोड़ दी गयी। चूल्हे से उसका ऐसा घनिष्ठ रिश्ता कायम हुआ कि आज भी उससे उबर नहीं सकी।''[7]

यह 'शारीरिक भिन्नता' आदिम युग का सबसे बड़ा श्रम विभाजन था। श्रम व्यक्ति की क्षमता पर निर्भर करता है। क्षमता निर्धारित करती है कि किस व्यक्ति को कौन–सा कार्य

करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति में अलग–अलग क्षमता होती है। क्षमता प्रकृति प्रदत्त नहीं होती इसे अर्जित किया जाता है। किंतु स्त्रियों को उनकी एक विशेषता के कारण समस्त क्षमताओं से नगण्य समझ लिया जाता है। यह उसके श्रम–विभाजन का ठोस कारण बना। फ्रेडरिख़ एंगेल्स इसे प्रकृति की उपज मानते हैं–''कबीले में पाया जाने वाला श्रम–विभाजन मात्र प्रकृति की उपज था, अर्थात केवल स्त्री और पुरुष के बीच श्रम–विभाजन पाया जाता था। पुरुष युद्ध में भाग लेते, शिकार करते, मछली मारते, आहार की सामग्री जुटाते और तमाम कामों के लिए आवश्यक औज़ार तैयार करते थे। स्त्रियाँ घर की देखभाल करती थीं और खाना–कपड़ा तैयार करती थीं। वे खाना पकातीं, बुनतीं और सीतीं थीं। प्रत्येक अपने–अपने कार्यक्षेत्र का स्वामी थाः जंगल में पुरुषों का वर्चस्व था तो घर में स्त्रियों का। प्रत्येक उन औज़ारों का मालिक जिन्हें उसने बनाया था और जिन्हें वह इस्तेमाल करता था। हथियार और शिकार करने या मछली मारने के औज़ार पुरुषों की सम्पत्ति थे और घर के साज़–सामान तथा बर्तन–भाँडे स्त्रियों की सम्पत्ति थे।''[8] 'शारीरिक भिन्नता' प्रकृति की उपज अवश्य है किंतु श्रम–विभाजन प्रकृति की देन नहीं हो सकता। इसे सुविधापरक विभाजन कहना ही उचित होगा। देखा जाए यहीं से स्त्रियों को निम्नतर आँकने की एक पृष्ठभूमि तैयार हुई। उसे वह घर की चारदीवारी प्रदान हुई जो उसकी नियति एवं प्रकृति सूचक बन गई है।

आदिम युग में शारीरिक भिन्नता द्वारा श्रम निर्धारित करना स्त्री की पराधीनता का प्रथम चरण माना जा सकता है। इसके विपरीत वह आदिम समाज में इसी भिन्नता के कारण विशेष महत्त्व की पात्र थी, वह समाज जो पितृसत्तात्मक और मातृसत्तात्मक समाज से लैस था, उसे मातृसत्तात्मक समाज कहा गया। मातृसत्तात्मक इसलिए कि ''समूह विवाह के सभी रूपों में इस बात का निश्चय नहीं होता कि बच्चे का पिता कौन है पर इसका निश्चय जरूर होता है कि बच्चे की माता कौन है। वैसे माँ इस कुल परिवार के सभी बच्चों को अपनी सन्तान कहती है और उन सभी के प्रति उसे माता के कर्तव्य का पालन करना पड़ता है।''[9] प्रागैतिहासिक काल को मातृसत्तात्मक समाज कहने का प्रमाण मोहनजोदड़ो और हडप्पा सभ्यता में मिलने वाली स्त्री–मूर्तियों से भी मिलता है। मोहनजोदड़ो और हडप्पा सभ्यता में देवियों का आधिपत्य आदिम व्यक्ति द्वारा अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए अलौकिक

और रहस्यमयी शक्तियों पर विश्वास करने में ही नहीं, बल्कि खेती और गर्भवती स्त्री के सूत्रों में भी छिपा था। के. दामोदरन के शब्दों में–''आदिम मनुष्य यह विश्वास करते थे कि फसलों को पैदा करनेवाली भूमि तथा बच्चों को पैदा करनेवाली स्त्री में अवश्य कोई अदृश्य सम्बंध है और ये दोनों एक–दूसरे को प्रभावित करती हैं।''[10] इस आधार पर प्रागैतिहासिक काल मातृसत्तात्मक होते हुए और स्त्री की स्थिति उन्नत होते हुए भी उसमें कहीं न कहीं स्त्री पराधीनता की जड़ें मौजूद हैं। यहीं से ही स्त्री संबंधी अवधारणाएँ प्रकाश में आती है जो आगे चलकर कृत्रिम से कृत्रिम रूप धारण कर हमारे समक्ष है।

'स्त्री पराधीनता' मानव इतिहास की ऐतिहासिक और भौतिक घटना की उपज है। भौतिक विकास इसका चर्मोत्कर्ष है। भौतिक विकास के पूर्व स्त्री और पुरुष के बीच वे वैवाहिक संबंध जो स्वतंत्रता की नींव पर टिके थे; सभ्यता के विकास की गति में क्षीण होते चले गए। स्त्रियाँ निजी संपत्ति की भाँति निजी धरोहर समझी जाने लगी। उन पर वैयक्तिक आधिपत्य मानवीय प्रवृत्ति या आवश्यकता बन गई। फ्रेडरिख़ एंगेल्स के शब्दों से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है–''पर जब पशुपालन आरम्भ हुआ, धातुओं का इस्तेमाल होने लगा, बुनाई शुरू हो गयी और अन्त में जब काश्त होने लगी, तब स्थिति बदल गयी। जिस प्रकार पहले पत्नियाँ बड़ी आसानी से मिल जाती थीं, पर बाद में उनको एक विनिमय–मूल्य प्राप्त हो गया और वे ख़रीदी जानें लगीं, उसी प्रकार बाद में, विशेषकर पशुओं के रेवड़ों को पारिवारिक सम्पदा बनाये जाने के बाद, श्रम–शक्ति भी खरीदी जाने लगी।''[11]

प्रायः माना जाता है कि बौद्धिक काल में स्त्रियों की स्थिति प्रतिष्ठापूर्ण थी। उन्होंने ऋग्वेद की ऋचाएँ लिखी। परंतु वास्तविकता इससे थोड़ी भिन्न है। यदि बौद्धिक साहित्य में गार्गी, लोपा, अपाला आदि वैदिक स्त्रियों को वैदिक सूक्तों की रचना करते हुए दृष्टिपात होती है तो केवल एक पात्र के रूप में।[12] ये स्त्रियाँ संपूर्ण स्त्री जाति का प्रतिनिधित्व क्यों नहीं कर सकती क्योंकि वह एक पात्र है? वहाँ स्त्री केवल, पुरुष की भोग्य वस्तु हैं उनकी प्रतिष्ठा उसके द्वारा वस्तु बने रहने में है–''अनेक वर्षों तक दिन–रात और उषाओं में काम करती हुई अब बूढ़ी हो जाने के कारण मैं थक गयी हूँ। अब बुढ़ापा मेरे अंगों की शोभा को नष्ट कर रहा है इसलिए तरूण और वीर्यवान व्यक्ति अपनी पत्नियों के साथ सहवास करें,

अर्थात् जवानी में जो लोग संभोग का पूरा आनन्द नहीं उठा पाते उन्हे वृद्धावस्था में मेरी तरह पछताना पड़ेगा।"[13] माना ऋचिका में स्त्री पात्रों के संवाद, उनके शास्त्रार्थ अथवा प्रतिष्ठा के नहीं बल्कि उनकी सामाजिक–मानसिक स्थिति के द्योतक हो परंतु अपने अस्तित्व को तलाशता स्त्री समाज इन्हें इस रूप में कदापि नहीं देखता। इन स्त्रियों द्वारा गिने चुने मंत्रों में शास्त्रार्थ करने पर उनकी क्या स्थिति होती है, उससे स्त्री समाज अनभिज्ञ नहीं है। परंतु स्त्री समाज ने पुरुष समाज की परवाह किए बिना पौराणिक पात्रों को अपना आदर्श मानकर संघर्ष जारी रखा हुआ है।

'तैत्रिरीय संहिता' और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' दोनों ग्रंथों में बहु–पत्नी प्रथा का समर्थन किया गया है। वहाँ अनेक पत्नियाँ होने के बावजूद पति सम्मानीय है। उत्तम स्त्री की संज्ञा उस स्त्री के लिए है जो अपने पति को संतुष्ट करे, उसके पुत्रों को जन्म दे एवं पति से किसी प्रकार का तर्क न करे। एक गृहिणी के रूप में स्त्री के कर्तव्य हैं–बड़े–बूढ़ों की सेवा करना, सौतनों को प्यारी सखी की तरह रखना, पति के कड़वे व्यवहार पर क्रोध तक नहीं करना, आश्रितों के साथ अनुग्रह पूर्ण व्यवहार करना।[14] यह स्त्री के वह उत्तम गुण और कर्तव्य है जिनकी प्रत्येक स्त्री से अपेक्षा की जाती हैः "भग, आर्यमा, सविता और पुरन्धि्र देवताओं ने तुमको मुझे इसलिए दिया है कि इससे गृहपति के कर्तव्यों का सम्पादन हो।"[15]

कालान्तर तक सीता इनका अपवाद नहीं थी। वह चिंतन और कर्म में राम की अनुवर्तिनी है, उनकी अनुगामिनी है। वह अपने पति राम के प्रति पूर्ण समर्पित रहने वाली पतिव्रता स्त्री है। सीता अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती। वाल्मीकि रामायण में कन्या का जन्म अवांछनीय माना जाता है। विवाह स्वयंवरों द्वारा किंतु माता पिता की आज्ञा उपरांत होता है। पति की आराधना स्वर्ग प्राप्ति का साधन है–कौशल्या सीता को यही उपदेश देती है। सीता अपने कर्तव्यों का पालन संपूर्ण निष्ठा से करती है परंतु सीता के आराध्य राम का क्या कर्तव्य था? अपनी पत्नि के चरित्र पर संदेह करके उसका त्याग कर देना या प्रेम प्रस्ताव रखने वाली राक्षसी शूर्पणखा का नाक कटा देना? हालांकि पुरुष वर्ग की ओर से स्त्रियों को आज्ञाकारिता और एकनिष्ठा के साँचे में ढालकर अपने अधीन रखने का एक बड़ा रहस्यात्मक षड्यंत्र था–"इससे बड़ा सांस्कृतिक षड्यंत्र कोई हो ही नहीं सकता कि सीता–सावित्री जैसी बागी स्त्रियों को मूक आज्ञाकारिता से एकाकार करके देखा जाए। न सीता कठपुतली थीं, न सावित्री–दोनों के स्वतंत्र व्यक्तित्व थे और समय आने पर दोनों ने

निर्भीक निर्णय का तेज दिखाया। यह विडंबना है कि अन्यायी–असंस्कृत और भ्रष्ट पति की भी मूक प्रतिछाया बनकर रहने वाली दीन–हीन स्त्रियों को 'सीता–सावित्री' कहा जाता है।"[16] डॉ. अमरनाथ 'अयोध्या समाज' की स्त्रियों की अपेक्षा 'लंका समाज' की स्त्रियों को अधिक स्वतन्त्र व्यक्तित्व रूप में पाते हैं–"शूर्पणखा अयोध्या की राजकुमारियों की अपेक्षा ज्यादा आजाद है और जंगलों में निर्भीक घूमती है। यह सिर्फ राक्षसों के मातृसत्तात्मक चरित्र के कारण है कि पुलस्त्य ऋषि के पुत्र होने के बावजूद रावण और उसके तीनों भाइयों को राक्षस माना जाता है क्योंकि उसकी मां कैकेसी राक्षसी थी।"[17]

महाभारत काल में उत्ताधिकार की समस्या ने स्त्री को नई अवधारणाओं में ढालने का प्रयास किया। यहाँ स्त्रियों को मात्र उत्तराधिकारी देने की वस्तु माना गया। इसके लिए जितने प्रपंच किए जा सकते थे उतने किए। इस प्रपंच में "नियोग प्रथा' स्त्री के कोमल भावनाओं पर प्रहार करने वाली क्रूर प्रथा थी। महाभारतकालीन समाज में लगभग सभी स्त्रियों को इस प्रथा से गुजरना पड़ा–"सत्यवती ने अपनी कौमार्यावस्था में ऋषि पराशर से व्यास को उत्पन्न किया। विचित्रवीर्य की विधवाओं–अम्बिका और अम्बालिका से त्याग द्वारा नियोग करने पर धृतराष्ट्र और पाण्डु उत्पन्न हुए और दासी से विदुर। कुन्ती ने कौमार्यावस्था में ही कर्ण को जन्म दिया। कुन्ती और भाद्री का तो एक भी पुत्र पाण्डु की ओर से न था। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव, सभी की उत्पत्ति देवताओं से हुई।"[18]

द्रौपदी इन सब स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है। वह अर्जुन के प्रति आसक्ति रखती थी किंतु एक फल की भाँति पाँचों भाईयों में विभक्त होना पड़ा। यहाँ तक कि जिनके ऊपर उसके सम्मान का भार था, वह उसे जुए में दाँव पर लगाकार हार जाते हैं। ऐसे पुरुष समाज के लिए स्त्री पदार्थ नहीं तो और क्या है? वह वस्तु भी नहीं, पाप योनि के समान है जिसमें उत्पत्ति पाप लगती है–"गीता के अध्याय नौ के छत्तीसवें श्लोक में जन्म से ही स्त्रियों, वैश्यों और शूद्रों की योनियों को पाप योनियों की संज्ञा दी गई है। इन योनियों में पैदा होना (जो अपने हाथ में नहीं है) आपने आप इंसानी दर्जा पाने के रास्ते में रोड़ा माना जाता गया। हर जाति की स्त्री को योनि के अनुसार वैश्य और शूद्र के समकक्ष रख दिया गया। जिस प्रकार समाज में ऊँची जाति के पुरुषों के लिए हीन समझे जाने वाले काम शूद्र और वैश्य करते थे उसी प्रकार परिवार के भीतर पुरुषों के लिए हीन समझे जाने वाले काम स्त्रियाँ करती थीं।"[19]

संपूर्ण धर्मशास्त्र और सामाजिक व्यवस्था मनुस्मृति पर आधारित है। आज तक जितनी भी स्त्री संबधी अवधारणाएँ या विचारधाराएँ प्रचलित हैं, वह मनुस्मृति पर आधारित है। धर्मशास्त्र और सामाजिक व्यवस्था को व्याख्यायित करने वाला सबसे प्रचलित ग्रंथ–मनुस्मृति है। मनुस्मृति के अनुसार स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। वह किसी न किसी अधीन रहनी चाहिए। स्त्री को कोई भी कार्य पति, पिता, पुत्र आदि की सम्मति से करना चाहिए न कि मनमाना कोई कार्य। मनुस्मृतिकार ने माना है कि स्त्रियों का स्वभाव अपनी श्रृंगारिक चेष्टाओं द्वारा जगत को दूषित करना है। स्त्रियों को प्रायः पति के क्रोधावस्था में भी प्रसन्न रहना चाहिए, वह गृहकार्यों में निपुण, घर को स्वच्छ एवं अधिक व्यंग्य न करने वाली होनी चाहिए। मनु स्त्रियों के विवाह संस्कार को ही वैदिक संस्कार, पति सेवा को गुरुकुल निवास और गृहकार्य को अग्निक्षेत्र मानते हैं–"स्त्रियों का विवाह संस्कार ही वैदिक संस्कार (यज्ञोपवीतरूप), पति–सेवा ही गुरुकुल–निवास (वेदाध्ययनरूप) और गृह–कार्य ही अग्निहोत्र कर्म कहा गया है। (अतएव उनको लिये यज्ञोपवीत, गुरुकुल–निवास और अग्निहोत्र कर्म करने की शास्त्राज्ञा नहीं है)"[20] कर्म गुणों से हीन पति को भी पतिव्रता स्त्री के लिए पूज्य माना गया। स्त्रियों के लिए पृथक यज्ञ और उपवास का कोई प्रावधान नहीं है। केवल पति की सेवा स्त्री का परम कर्तव्य एवं स्वर्गलोक की प्राप्ति है।

"जैन और बौद्ध धर्म ने स्त्री को भिक्षुणी बनाकर स्वायत्त जीवन जीने की स्वतंत्रता तो दी परंतु इससे उसके बारे में न तो प्रचलित धारणा ही बदली न ही उसको इंसानी दर्जा मिला।"[21] गौतम बुद्ध स्त्री–पुरुष समानता और अधिकार के समर्थन की दुहाई देते हैं लेकिन वह स्त्रियों के प्रायः प्रतिकूल रहे। उन्होंने स्त्री को संपूर्ण पापों की जड़ मानकर उसे धर्म क्षेत्र में अवरोधक माना। भिक्षुणी का अकेले विचरणा स्वयं के लिए असुरक्षित माना। उसकी उपस्थिति भिक्षुओं के लिए खतरा मानी गई। डॉ. अमरनाथ के शब्दों में–"वस्तुतः बुद्ध का 'निर्वाण' भी पहले पुरुषों के लिए असुरक्षित था। बुद्ध भी स्त्रियों को चहारदीवारी में बन्द रहकर पति तथा पति के परिजनों की एकनिष्ठ सेवा के प्रति ही हिमायती थे। दासी और पत्नी में मूलतः इस काम में कोई अन्तर नहीं माना जाता था।"[22] हालांकि इन सब आपत्तियों के बावजूद भी समाज के हर वर्ग की स्त्रियों ने बौद्ध धर्म को अपनाया। घर की चारदीवारी के बाहर एक नई भूमिका का निर्माण किया। इसके विपरीत बौद्धकाल के अंत में वज्रयानी साधकों द्वारा इस धर्म में स्त्री को लेकर विद्रूपताओं का संचालन हुआ। जिस कारण स्त्रियों

के साथ भोग विलास की पूर्ति करके सिद्धि प्राप्त की जाने लगी–"इस काल में नारियाँ अतिथियों के सत्कारार्थ अर्पित की जाने लगीं। उत्तर में 'योगिनी' और 'दक्षिण में' 'देवदासी' के रूप में पतियों के यत्न का केन्द्र हुई।"[23]

जैन धर्म में बज्रयानियों की भोगविलास रूपी सिद्धि के विरोध में ब्रह्मचर्य पर बल देने के कारण स्त्रियों को कठोर प्रतिबंध का सामना करना पड़ा। उन्होंने स्त्री को वासनामयी समझकर त्याज्य माना। स्त्रियों का जैन धर्म के आश्रम में संयासियों से एक स्थान पर अकेले मिलना या आश्रम में जाना वर्जित था। वह कितनी भी श्रेष्ठ हो दीक्षा की अधिकारिणी नहीं थी। उसे 'कनक', 'कामिनी' स्वरूप मानकर उसकी निन्दा की, वही उसके 'सतीत्व' और 'शील' की प्रशंसा की–"जैन कवियों ने अपने ग्रंथों में नारी को काकी सम्मानजनक स्थान दिया है। स्वयंभू ने अपने महत्वपूर्ण महाकाव्य 'पउमचरिउ' में सीता और मन्दोद्री जैसी स्त्रियों का अत्यन्त उदात्त चरित्र अंकित किया है, परन्तु उनमें प्रशंसा इन नारियों के शील और सतीत्व की ही है।"[24]

इस्लाम धर्म में 'कुरान' मुस्लिम संस्कृति, रीति रिवाज और मुस्लिम जीवन पद्धति को सुचारू रूप से चलाने वाला धार्मिक ग्रंथ है। किंतु 'कुरान' के अनुसार थोपी गई सामाजिक–सांस्कृतिक रीतियों को चलाने वाली 'स्त्री' ही थी। क्योंकि वह प्रत्येक धर्म, संस्कृति, रीति–रिवाज की संवाहक है। जिसको उसे किसी भी स्थिति में ढोना पड़ता है। इस्लाम एक पुरुष के लिए चार–चार शादियों का प्रावधान करता है बशर्ते "अगर तुमको इस बात का डर हो कि बेसहारा (लड़कियों) में इन्साफ कायम न रख सकोगे तो जो औरतें तुम्हें पसन्द हो, 'उनसे निकाह कर लो, दो–दो या तीन–तीन या चार–चार से। लेकिन तुमको इस बात का भय हो कि (उनके साथ) बराबरी (का बर्ताव) न कर सकोगे तो एक ही बीवी से निकाह काफी है। या (लौड़ी) जो तुम्हारे कब्जे में हो (उसपर संतोष करना) यह (तदबीर) जियादः मुनासिब है क्योंकि उसमें अन्याय न होने की जियादा उम्मीद है।"[25] तात्पर्य है कि स्त्री की स्वायत्त सत्ता नहीं है चाहे हिंदू धर्म हो या इस्लाम धर्म। इस्लाम में 'विवाह' स्वर्ग में निर्धारित जन्म–जन्मांतर का संबंध न होकर कानूनी समझौता है। वह मेहर की राशि तय कर सकती है। वह पुरुष की संपत्ति की अधिकारिणी होती है किंतु संपत्ति में उसका हिस्सा बराबर न होकर, पुरुष की सम्पत्ति का आधे से भी आधा होता है। कुरान में स्त्रियों को पुरुषों की भाँति तलाक लेने का भी प्रावधान है। नासिरा शर्मा के अनुसार–"शिया समुदाय की

लड़कियों को पिता की संपत्ति में पूरा हिस्सा मिलता है। अगर भाई मर जाए तो वारिस लड़की होती है, चचाजाद भाई वगैरह नहीं।.... यानी औरत को आजादी है कि वह अपनी मानसिक, शारीरिक जरूरत पूरी करने के लिए समयबद्ध शादी कर सके और उसके बाद तलाक ले सके।"[26] किंतु इस्लाम धर्म में स्त्री पक्ष में किए गए प्रावधान नाममात्र के लिए हैं जिन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। डॉ. गोपा जोशी के अनुसार–"इसके विपरीत इन रिवाजों पर अमल नहीं किया गया जिनके माध्यम से स्त्रियों को मानवीय दर्जा देने का प्रयास नहीं किया गया था–मसलन मदीना में स्थापित समाज में स्त्रियों का पूरी तरह पुरुषों के साथ पूजा अर्चना करना, या निकाह के समय स्त्री की स्वीकृति आवश्यक होना, या तलाकशुदा स्त्री के शादी का प्रावधान होना आदि। धीरे–धीरे स्त्रियों पर नियंत्रण बढ़ने लगे, उनका मसजिद में नमाज अदा करना बंद हो गया। वे घर पर ही नमाज पढ़ने लगी। पर्दे के कारण शिक्षा भी प्रभावित हुई। कुरान पढ़ने लायक साक्षरता प्राप्त कर लेने के बाद उनको घरेलू कामकाज में दक्ष बनाया जाता रहा।"[27] इस्लाम धर्म पितृसत्ता से लैस नहीं है। यह भी इसी सत्ता का संरक्षण करता है इसलिए इसे यह सब प्रावधान मान्य नहीं। यह उन सभी प्रावधानों को मानता है जिसमें उसकी स्थिति सर्वोपरि है।

प्रायः सभी धर्मों में स्त्री संबंधित विविध धारणाएँ विद्यमान हैं। ईसाई धर्म में भी 'स्त्री' सामाजिक अवधारणाओं का पुंज है। ईसाई धर्म के तीन धर्मग्रंथों में स्त्री संबंधी अवधारणाएँ मिलती हैं। प्रथम जैनेसिस के द्वारा दी गई है इसमें स्त्री को वे सोए हुए व्यक्ति की पसली से बनने के कारण अपूर्ण मानते हैं जिसे गोपा जोशी भ्रांति के अलावा कुछ नहीं मानते। द्वितीय, 'न्यू टैस्टामेंट' में जीसस द्वारा, इसमें स्त्रियों को समानता का दर्जा दिया है। इसका समर्थन गोपा जोशी भी करते हैं। तृतीय, संतपाल जिसने तत्कालीन समाज में ईसाई धर्म की जड़े मजबूत करने के लिए पितृसत्तात्मक समाज के अनुकूल नई–नई चर्च व्यवस्था की। इस व्यवस्था ने स्त्री के सभी अधिकार छीन लिए। गोपा जोशी के शब्दों में–"संतपाल के अनुसार हर पुरुष के मालिक ईसा मसीह है परन्तु हर स्त्री का मालिक पुरुष होता है। ईसा मसीह के मालिक स्वयं ईश्वर है। इस कथन का पादरियों ने औरत को दबाने के लिए निरंतर प्रयोग किया है। ईसाई धर्म ने ब्रह्मचर्य पर जोर दिया है। गृहस्थ को ईश्वर प्राप्ति के रास्ते में अवरोध माना गया। औरत को पाप का घड़ा कहा गया।"[28] एक ओर न्यू टैस्टमेंट में स्त्री और

दलित दोनों को प्रधानता दी गई है। वही ईसाई धर्म में स्त्री अधीनता को संस्थागत तरीके से लागू करने का सर्वप्रथम कार्य संतपाल ने किया।[29]

इस प्रकार विभिन्न धर्मशास्त्रों को दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि स्त्री के प्रति प्रत्येक धर्मशास्त्रों में विचारधारा समय के साथ बदलती रही है। कारण, प्रत्येक काल में धर्मशास्त्रों का उद्देश्य सामाजिक–पारिवारिक व्यवस्था को आर्थिक मजबूती के साथ स्त्री पर धार्मिक–नैतिक मापदंडों द्वारा शिकंजा कसने का रहा। इससे स्त्रियों न स्वयं को आर्थिक रूप से स्वतंत्र कर पाई, न सामाजिक बंधनों से मुक्त हो पाई।

1.3 स्त्री संबंधी बहसों का इतिहास

स्त्री अस्तित्व को लेकर जो बहसें तेज हुईं, वह स्त्री बहसों का प्रमुख हिस्सा है। पिछले कई दशकों से नवीन विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में मानवीय जीवन को विविध आयामों से परिचित करने की अकुलाहट स्त्री संबंधी बहसों का ही परिणाम है। इस बहस में केवल स्त्रियाँ ही इस बहस का हिस्सा नहीं है बल्कि इस बहस के केंद्र में वह पूरी सत्ता आ जाती है जिसने लिंग भेद की नीति से दोहरे मापदण्ड बनाए। इसमें अपने ज्ञान और दर्शन के आलोक में पारंपरिक मूल्यों को चुनौती देना स्वीकार किया। एक ओर जहाँ इनके समक्ष पारंपरिक मूल्य है वहीं दूसरी ओर इनके पास इन्हें ध्वस्त करने वाली विचारपरक शैली है। सीमोन द बोउवार, केट मिलट, बैटी फ्रीडन, इरी गैरो आदि जैसे विचारकों द्वारा स्त्री जीवन से जुड़ें प्रश्नों को प्रमुखता देना था। इन्होंने स्त्री जीवन संबंधित प्रश्नों को वैश्विक स्तर पर एक नई बहस के रूप में जन्म दिया।

वर्चस्ववादी समाज के लैंगिक विभेद ने स्त्री आदर्शों का निर्धारण कर स्त्रियों का मनमाने ढंग से उपयोग किया। वह आज भी इस व्यवस्था द्वारा थोपी गई मान्यताओं को ढोते हुए स्त्री बनने पर विवश है। प्राचीन मूल्यों और परंपराओं पर आधारित पितृसत्तात्मक व्यवस्था की संकल्पना ने स्त्रियों को उसके समस्त अधिकारों से वंचित कर 'वैयक्तिक संपत्ति' के रूप में मान्यता दी।

विश्व साहित्यिक पटल पर स्त्री संबंधी बहसों का आरंभ स्त्री आंदोलन की शुरूआत (1970 के दशक के आसपास) होती है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इससे पहले स्त्री संबंधी बहसें केन्द्र में नहीं थी। वह फ्रांस की क्रांति के बाद से केंद्रीय विषय तब बनीं जब

स्त्रियों को पूर्ण नागरिकता से दरकिनार किया जाने लगा। उनके इस व्यवहार के पीछे का कारण लैंगिक विभेद था। रूसो के शब्दों में–"महिला और पुरुष एक–दूसरे के लिए बने हैं लेकिन उनकी परस्पर निर्भरता समान नहीं थी...हम लोग उनके बिना उनसे अच्छी तरह जी सकते हैं जबकि वे हमारे बिना नहीं...इसलिए महिलाओं की शिक्षा की सम्पूर्ण योजना पुरुषों को ध्यान में रखकर बनाई जानी चाहिए। पुरुषों को खुश रखना/करना, उनके लिए उपयोगी बनाना, उनका प्यार सम्मान जीतना, उन्हें बच्चों जैसे बड़ा करना और बड़ों की तरह उनकी देखभाल करना, उनकी गलतियों को सुधारना और सान्त्वना देना, उनकी जिंदगी को खुशहाल और अच्छा बनाना–ये सब युगों से नारियों के कार्य हैं, और इसके विषय में उन्हें बचपन से ही सिखाया–पढ़ाया जाना चाहिए।"[30]

हालांकि 19वीं सदी के पहले के इतिहास में महिलाओं की राजनैतिक एवं सामाजिक सक्रियता की कोई लंबी परंपरा नहीं मिलती है लेकिन शोषण दमन की परंपरा अवश्य मिलती है। 19वीं सदी के स्त्री आंदोलन की प्रथम लहर से पूर्व की विशेषता यह है कि स्त्रियाँ ने सामाजिक–राजनैतिक भेदभाव के कारण अपने अधिकारों को पहचाना। स्त्री अधिकारों से परिचय कराने वाली मेरी वॉल्स्टोन क्राफ्ट की पुस्तक 'विंडिकेशन आफ दी राइट्स ऑफ विमेन' (1792) है।

यह लैंगिक विभेद स्त्री और पुरुष के स्वभाव में अंतर मानता है। इस स्वाभाविक अंतर के कारण पुरुष राजनीतिक, सामाजिक और मानसिक स्तर पर स्त्रियों को गुलाम बनाता है। श्रीमती हुनो रीड 'Aplea for Women' में (1843) स्त्री और पुरुष में विभेद मानने वालों को चुनौती देती हुई विभिन्न लक्षणों के आधार पर स्त्री–पुरुष को समान मानती हैं–"हम यह नहीं कहना चाहते हैं कि महिला और पुरुष प्राकृतिक रूप से समान है या दिमागी तौर पर बराबर है–लेकिन अपने वृहत्तर लक्षणों के हिसाब से वे समान है और जिस वजह से उनमें अंतर है वह बहुत छोटा है क्योंकि उनमें जो समानता है वह उनके एक–दूसरे के अंतर से बहुत अधिक है।"[31]

17वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में पुरुष लेखकों की बहस में स्त्री के समाजिक दर्जे पर बहस आरंभ हुई। क्योंकि उस समय स्त्रियों को सार्वजनिक रूप से अपनी बातों को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता नहीं थी और राष्ट्र राज्य में आरंभिक वर्षों में स्त्री सुधार की दिशा में जो कदम उठाए गए वह सामाजिक क्षेत्र तक सीमित थे। स्त्रियों को पूर्णतः

राजनैतिक और सामाजिक आधार पर 'सामाजिक धारा' से अलग कर दिया। वर्चस्ववादी व्यवस्था की शोषण–दमन की प्रक्रिया ने स्त्रियों को प्रतिकार करना सिखाया। 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में धीरे–धीरे शिक्षित स्त्रियों ने सामाजिक–धार्मिक–नैतिक मान्यताओं के आधार पर स्त्रियों को दोयम दर्जे पर रखने वाली सत्ता के बंधनों को तोड़ना आरंभ किया। स्त्रियों ने सार्वजनिक तौर पर लेखन द्वारा 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक बड़े रूप का निर्माण करती है। अपने लेखन से सार्वजनिक भागीदारी सुनिश्चित की। उन्होंने अपने आपसी सहयोग और सौहार्द का परिचय दिया। स्त्री संबंधी विषयों पर पुरुषों के समान, पुरुषों के साथ पुरुषसत्तात्मक लैंगिक विभेद के विरुद्ध बहसा–बहसी की। लेकिन उनका यह संघर्ष सामाजिक–सांस्कृतिक क्षेत्र तक सीमित रहा।

राजनीतिक रूप से स्त्रियों के समान अधिकारों का परिचय कराने का कार्य जॉन स्टूअर्ट मिल का 'ट्रीटाइज, दि सबजैक्शन ऑफ वीमन (1873) ने किया। जॉन स्टूअर्ट मिल ने स्त्री शोषण और दमन के लिए विधानों को उत्तरदायी माना। 1884 में फ्रेडरिख़ एंगेल्स की पुस्तक 'आरिजिन ऑफ दी फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी, एंड दी स्टेट' स्त्री को समझने का एक अलग नजरिया देती है। वह स्त्री को जैवविज्ञान की अपेक्षा इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। वह स्त्रियों की समानता और स्वतंत्रता के लिए सामाजिक उत्पादन में भागीदारी को आवश्यक मानते हैं। वे लिखते हैं–''जब तक स्त्रियों को सामाजिक उत्पादन के काम से अलग और केवल घर निजी कामों तक सीमित रखा जायेगा, तब तक स्त्रियों की स्वतंत्रता और पुरुषों के साथ बराबरी का हक पाना असंभव और असंभव ही रहेगा। स्त्रियों की स्वतंत्रता केवल तभी संभव होती है जब वे बड़े पैमाने पर, सामाजिक पैमाने पर उत्पादन में भाग लेने में समर्थ हाती है और जब घरेलू काम उनसे बहुत बहुत कम ध्यान देने की मांग करते हैं।"[32]

सन् 1953 में सीमोन द बोउवार की पुस्तक 'द सैकेंड सेक्स' वैश्विक स्तर पर स्त्रियों की समस्याओं को लेकर सामने आई। यद्यपि इस पुस्तक को तत्कालीन वर्षों में प्रसिद्धि नहीं मिली, लेकिन यह पुस्तक शोषण और प्रताड़ना का प्रतिकार करने वाली परंपरा की अहम् कड़ी प्रमाणित हुई। और स्त्री बहस के अगले चरण की आधार शिला बनी। इसी क्रम में बेट्टी फ्रीडन ने 'दी केमिनिन मिस्टीक' (1963) लिखी। यह पुस्तक स्त्रियोचित रूढ़िवादी परिकल्पना के क्षोभ की आत्मपरक प्रस्तुति है। इसमें शिक्षित स्त्रियों के एक ऐसे समूह को

आंदोलित करने का प्रयास किया जिन्हें सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक सक्रियता का कोई पूर्व अनुभव नहीं था।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में माग्रेट मीड की 'सेक्स टेम्परामेंट इन थ्री परमिटिव सोसायटी' (1935) पितृसत्ता अथवा पुरुषत्ववादी वर्चस्वता के विरुद्ध निरपेक्ष दृष्टि से स्त्री समस्याओं से अवगत कराया।

1970 के दशक के आस–पास केट मिलट की पुस्तक 'सेक्सुअल पॉलिटिक्स' (1970), के बोर्गुइगो की 'एक वर्ल्ड ऑफ वूमेन' (1987), जर्मेन ग्रीयर की 'द फीमेल यूनेक' (1870) आदि पुस्तकों का महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह पुस्तकें स्त्रियों को आंदोलित करने के उद्देश्य से स्त्रियों द्वारा लिखी गई। स्त्रियों का एक बड़े सामूहिक रूप में आना तत्कालीन समाज की आवश्यकता थी क्योंकि ऐतिहासिक रूप में विश्व की प्रथम सर्वहारा 'स्त्री' है और 'पुरुष' प्रथम बुजुर्आ। प्रथम सर्वहारा स्त्री किसी एक स्त्री का प्रतिनिधित्व नहीं करती बल्कि संपूर्ण स्त्री जाति का प्रतिनिधित्व करती है। क्योंकि 'स्त्री प्रश्न' एक स्त्री का प्रश्न नहीं 'सामूहिकता का प्रश्न' है। इस प्रकार 'स्त्री प्रश्न' तो सामूहिक प्रश्न', स्त्री शोषण' तो 'सामूहिक शोषण', 'स्त्री संघर्ष' तो 'सामूहिक संघर्ष' और 'स्त्री प्रतिकार' तो 'सामूहिक प्रतिकार'। यह कथ्य नहीं प्रमाण है–केट मीलट, ई बोगोइयो, जर्मेन ग्रीयर आदि के रूप में। इन्होंने स्त्री संबंधी विमर्श से स्त्रियों को इतना आंदोलित किया कि सौंदर्य प्रसाधनों का बहिष्कार तक किया जाने लगा। स्त्री मुक्ति की माँग यौन स्वच्छंदता की माँग बन गयी।[33]

वैश्विक स्तर पर स्त्री संबंधी विचारों को लेकर दो धाराएँ प्रमुख रही हैं। एक समाजवादी धारा जिसमें जॉन स्टुअर्ट मिल, एंगेल्स, मार्क्स, मिल आदि ऐसे विचारक थे जो स्त्री एवं पुरुष समानता के पक्षधर थे। जबकि अरस्तू, फ्रायड, होमर, रूसो, नीत्शे, माइकलेट आदि विचारक स्त्री को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। अरस्तू स्त्री को अपने कुछ निश्चित लक्षण के कारण स्त्री मानते हैं और नीत्शे स्त्री की सृष्टि ईश्वर की दूसरी गलती। दूसरी उदारवादी धारा है जिसमें वॉल्स्टोन क्राफ्ट, हैरिएट टेलर मिल, बेट्टी फ्रीडन आदि विचारक थे जिन्होंने स्त्री मुक्ति को व्यक्तिगत समस्या माना और जिसे व्यक्ति विशेष से ही हल करने पर बल दिया न कि सामूहिक संगठनों से। ये दोनों धाराएँ स्त्री–पुरुष सामनता की पक्षधर थी लेकिन उदारवादी धारा 'समाजवादी धारा' से भिन्न इसलिए भी है कि इसने स्त्री के प्रारंभिक रूप को महत्त्व दिया–"उदारवादी नारीवाद की परिणति यही हुई कि महिलाओं एवं

छात्राओं को उसने आर्थिक तौर पर स्वतंत्रता तो दिखाई मगर पत्नी और माँ के तौर पर महिलाओं की पारंपरिक भूमिका को सामने रखा।'[34]

भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री बहसों का इतिहास, हालांकि वैदिक काल से गार्गी, मैत्रेयी जैसी स्वतंत्र चेता कहलाने वाली स्त्रियों से अनायास आरंभ हो जाता है। उपनिषद् में गार्गी का याज्ञवल्क्य से प्रश्न करना, उनसे तर्क करना, एक स्त्री के लिए साामान्य नहीं था। तत्कालीन समय में गार्गी के प्रश्न महत्त्व नहीं रखते बल्कि याज्ञवल्क्य की चेतावनी महत्त्व रखती थी। याज्ञवल्क्य की चेतावनी वर्चस्ववादी सत्ता की पोषकता का तत्त्व थी। वह अपनी आकांक्षाओं द्वारा यह दर्शाना चाहते थे कि स्त्रियाँ तर्क–वितर्क नहीं कर सकती। उन्होंने जिस व्यवस्था के पोषक बनकर स्त्रियों को सदियों से अधिकार विहीन बनाया; वह यह भूल गए कि वे जिन वक्तव्यों द्वारा अपनी आकांक्षाओं को स्थापित करने जा रहे हैं वही उनकी सत्ता के लिए चिंता का विषय बन सकती है। वास्तव में वे अपने प्रति स्त्रियों में भय का निर्माण करना चाहते थे। लेकिन मैत्रेयी और गार्गी की अव्यक्त अभिव्यक्ति भारतीय स्त्रियों की अभिव्यक्ति बनती है। वह गार्गी, मैत्रेयी को अपना आदर्श बनाकर अपने संघर्ष को आगे बढ़ाती है। इस क्रम में थेरी गाथाओं की स्त्रियाँ गार्गी और मैत्रेयी की निर्मूक अभिव्यक्ति को स्वर प्रदान करती है। भारतीय साहित्यिक इतिहास में थेरी गाथा स्त्री स्वातंत्र्य को अभिव्यक्त करने वाला दस्तावेज है। थेरी गाथाओं की स्त्रियाँ निर्भीकता से स्त्री स्वातंत्र्य की चर्चा करती है। अबला, निसहाय समझे जाने वाली स्त्री का क्रांतिकारी स्वरूप इनमें समाहित है–

अहो! मैं मुक्त नारी! मेरी मुक्ति कितनी धन्य है!
पहले में मूलसल लेकर धान कूटा करती थी,
आज उससे मुक्त हुई।
मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे–छोटे बर्तन।
जिनके बीच में मैं मैली–कुचली बैठती थी,
और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी
तुच्छ समझता था
जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था

अब वह जीवन की आसक्तियों और मलों को

मैंने छोड़ दिया

मैं आम वृक्ष मूलों में ध्यान करती हुई

जीवन यापन करती हूँ

अहो! अब में कितनी सुखी हूँ।''[35]

पारंपरिक नियमताएँ किस प्रकार स्त्री को बंधनीय लगने लगती है? वह स्वयं को कैसे उन बंधनों से मुक्त करे? यह प्रश्न प्रत्येक स्त्री के लिए विचारणीय है। इन प्रश्नों को थेरीगाथाओं की स्त्रियाँ आत्मसात करती चलती है। इससे यह प्रमाणित होता है कि स्त्रियाँ प्रारंभ से ही प्रारंभिक मान्यताओं से विचलित थी। इनके प्रति आक्रोश था जिन्हें वह जाया नहीं होने देती। उसे वह सामाजिक असमानता के प्रति व्यक्त करती है।

थेरी स्त्रियों के बाद आण्डाल और मीरा में स्वातंत्र्य चेता के लक्षण प्रतीत होते हैं। आण्डाल और मीरा का प्रेम पुरातनवादी रूढ़ियों का अतिक्रमण है–अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए परंपरा से हटकर एक विद्रोह। आधुनिक युग में जहाँ स्त्रियों के स्वतंत्र भोग की बात कही जाती है वहीं मीरा और आण्डाल भोगवाद की अपेक्षा करने वाली स्त्रियाँ हैं। शिवकुमार मिश्र मीरा के विषय में लिखते हैं–"मीरा का विद्रोह बड़ा है, उसके वृहत्तर संदर्भ है। मीरा ने अपने समय में चली आ रही सामाजिक संरचना पर सवाल उठाए, वे मनचाहा समाज न रख सकी हों नारी पराधीनता और पराधीनता से नारी की मुक्ति की आकांक्षा को उन्होंने उजाकर किया, मुक्ति के सपने को नारी मन में जीवित रखा, उनका उस बिंदु पर महज निर्विवाद है।"[36] 'विद्रोह' विद्रोह होता है 'व्यक्तिगत' हो या 'सामाजिक'। 'विद्रोह' 'अस्मिता' से जुड़कर 'व्यक्तिगत अस्मिता' का नहीं, 'सामाजिक अस्मिता' का प्रश्न बनता है। 'सामाजिक अस्मिता', 'व्यक्तिगत अस्मिता' के रूपांतरण की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में मीरा की अस्मिता, सामाजिक अस्मिता है।

पंडिता रमाबाई से पहले आनंदीबाई जोशी पर विचार करना आवश्यक है अन्यथा उनके साथ अन्याय होगा। आनंदीबाई जोशी विदेश से डॉ. ऑफ मेडिसिन की उपाधि प्राप्त प्रथम स्त्री थी। साहित्यिक योगदान न सही; भारतीय स्त्रियों की प्ररेणा अवश्य है। यही पंडिता रमाबाई की प्रेरणा रहीं। पंडिता रमाबाई ने उनके विषय में 'केसरी' समाचार पत्र में

लिखा था–''डॉ. आनंदीबाई जोशी हमारा साथ छोड़कर दूसरे संसार में चली गई, लेकिन उसने जो उदाहरण पेश किया वह व्यर्थ नहीं जाएगा। यह वास्तव में अद्भुत है कि ब्राह्मण स्त्री ने विश्व को बता दिया कि तथाकथित रूप से 'कमज़ोर कहे जाने वाले लिंग (स्त्री)' में भी श्रेष्ठ गुण––दृढ़ता, निस्वार्थता, निर्भीक साहस और अपने देश की सेवा करने की उत्कट अभिलाषा––होती हैं।''[37] (अनुवादित) पंडिता रमाबाई को आनंदीबाई जोशी की अकाल मृत्यु का सबसे बड़ा शोक लगा। इस शोक का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने भारतीय स्त्रियों के बेहतरी जीवन के लिए 'The High Cast Hindu Women' शीर्षक से पुस्तक लिखी। पंडिता रमाबाई ने हिन्दी रूपांतरित पुस्तक 'हिंदू स्त्री का जीवन' में स्त्री जीवन संबंधित प्रश्नों के माध्यम से परंपराओं की दासता को अभिव्यक्त करते हुए भारतीय स्त्रियों की आवश्यकता को सामने रखा है। उन्होंने आचार–संहिताओं की नियमावली पर आधारित स्त्री संबंधी भ्रांतियों को दूर किया। वह बाल्यावस्था में जैविक अंग से पनपे पुरुष वर्चस्ववाद को दर्शाते हुए लिखती हैं–''अधिकांश मामलों में भाई अपने श्रेष्ठ होने पर गर्व करते हैं, वे अपने बारे में और बहन के बारे में जो सुनते हैं उससे अधिक नहीं सोच पाते हैं। इस आधार पर वह खुद भी लड़कियों व स्त्रियों को तिरस्कृत करना शुरू कर देते हैं। एक छोटा लड़का भी अक़सर देखा जाता है कि यह मत भूलो कि तुम लड़की हो और वह लड़का है। साथ–ही–साथ उसे हिदायत भी देता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं। इस अमानवीयता का शिकार होने के कारण अधिकांश लड़कियाँ उदास, अस्वस्थ और मूढ़ बन जाती हैं। फिर भी कुछ उग्र स्वभाव की होती हैं, जो क्रोध बचकानी वाक्पटुता में फूट पड़ता है। वह अपने भाईयों तथा चचेरे भाई–बहनों को कहती हैं कि जल्द ही उनकी शादी होने वाली है तथा वे जाने वाली हैं तथा उन्हें (भाईयों को) देखने वह फिर कभी नहीं आएगी। अगर भाई बुलाने के लिए प्रार्थना करेंगे तब भी नहीं।...अल्पशिक्षित तथा अशिक्षित इन लड़कियों को कुछ प्रार्थनाओं और लोकप्रिय गीतों के सिवाय और कुछ भी अपने दिमाग़ में रखने का अवसर नहीं मिलता। छोटी लड़कियाँ अपने हाल पर छोड़ दी जाती हैं, जैसे खेलो, जिस तरह खेला, छः या सात साल की उम्र में वे अपनी माँ का घरेलू कामों में हाथ बंटाने लगती हैं या अपने से छोटे बच्चों का ध्यान रखने लगती है।''[38] ये बाल मनोस्वभाव की बालक्रियाएँ हैं किंतु यहीं से विकृत मनोवृत्तियों का जन्म का होता हैं। इस वर्चस्ववाद के आधारभूत तत्त्व को पंडिता रमाबाई 19वीं शताब्दी में पकड़ती हैं।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सन् 1882 में एक अज्ञात हिंदू महिला ने 'सीमंतनी उपदेश' लिखकर स्त्री मुक्ति की राह खोज निकालती है। वह अपने समकालीन भारतेंदु युग के स्त्री महामंडित लेखन पर न केवल प्रश्न चिह्न खड़े करती हैं बल्कि स्त्रियों को पुरुष वर्चस्व से मुक्त करना चाहती थी। इन्होंने शास्त्र आधारित ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या एवं शूद्रा में कोई अंतर नहीं माना। वह याज्ञवल्क्य मुनि के हवालिया टिप्पणी पर स्त्री को 'स्त्री' मानती है। अज्ञात हिंदू महिला लिखती हैं–''याज्ञवल्क्य मुनि कहते हैं...पति परदेश में चला जाए तो ब्राह्मणी को आठ वर्ष इन्तजार करना चाहिए और सन्तान न हुई तो चार वर्ष, उसके पीछे दूसरा पति कर ले। क्षत्रिया छह वर्ष, सन्तान न हो तो तीन वर्ष। वैश्या चार वर्ष, पुत्र न हो तो दो वर्ष। शूद्रा को इन्तजार की कोई हद मुकर्रर नहीं, जब चाहे दूसरा पति करे ले।

यह ठीक इन्साफ है, ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, शूद्रा में जो फर्क किया है, यह नहीं होना चाहिए। आज के वक्त में मर्द एक हफ्ते सब्र नहीं कर सकते अगर औरतें इतनी मुद्दत बाद करें तो क्या हर्ज है?''[39] स्त्री मुक्ति के लिए 'अज्ञात हिंदू महिला' वर्ण पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के विभाजन को तोड़ती हैं। उनका मनुष्य को मनुष्य मानने का तर्क नवजागरणकालीन चेतना है।

ताराबाई शिंदे के लिए 'स्त्री की पहचान' धर्मशास्त्र पुराणों से परे की चीज है। ये धर्मशास्त्र स्त्रियों को नैतिकता के बल पर स्त्रियों को दोषी ठहरा सकते हैं, लिंग भेद के आधार पर स्त्री–पुरुष के अधिकारों में फर्क कर सकते हैं, दोहरे मापदंड बना सकते हैं लेकिन पुरुषों को नैतिकता का पाठ नहीं पढ़ा सकते और न ही स्त्रियों को उनकी पहचान एवं अधिकार दिला सकते हैं। ऐसे धर्मशास्त्रों को ताराबाई शिंदे ठुकराती है जो स्त्री–पुरुषों को भेद दृष्टि से मापते हैं। ताराबाई की आलोचना का वह सब शिकार बनते हैं जो नैतिकता के धरातल पर स्त्रियों को आँकते हैं। वीरभारत तलवार 'ताराबाई शिंदे के विषय में लिखते है–"ताराबाई ने अपनी आलोचनात्मक दृष्टि से 19वीं सदी के भारतीय इतिहास के एक महत्वपूर्ण मुद्दे राष्ट्रवाद बनाम सुधारवाद के द्वंद्व को बेनकाब किया और ऐसा करने वाली वह पहली भारतीय स्त्री थी।"[40] ताराबाई शिंदे नवजागरण दौर की महत्त्वपूर्ण स्त्रियों में से एक थी। इन्होंने पुरुषों द्वारा चलाए सुधार आंदोलन के सतहीपन को पहचान कटु भर्त्सना की।

बंग महिला ताराबाई शिंदे के समान समाज के ठेकेदारों से उत्तर–प्रत्युत्तर तो नहीं करती परंतु स्त्री की आंतरिक वेदना से पूर्णतः परिचित है। इनकी 'दुलाईवाली' रचना स्त्री

की दारुण व्यथा है जिसका मुख्य स्वर स्त्री के अकेलेपन को मुखरित करना रहा है। इस स्थिति में स्त्रियाँ अकेलेपन से चिंतित बहुत कम अकेली रह पाने की सोच पाती है। उन्हें समाज का साथ नहीं मिल पाता। ऐसी स्त्री की पीड़ा, दुख, संत्रास, द्वंद्व के माध्यम से बंग महिला 'स्त्री मुक्ति' और 'स्त्री अधिकारों' को पाने की दृष्टि देती है।

महादेवी की रचना 'शृंखला की कड़ियाँ' स्त्री की आक्रोशमयी कृति है। उनकी यह रचना उन विचारकों के लिए जवाब है जिन्होंने यह धारणा बना रखी है कि महादेवी की रचनाओं में रोना–बिलखना होता है। समाज किसी से अछूता नहीं है वह किसी न किसी रूप में प्रकट होता है। महादेवी वर्मा की पीड़ा में प्रकट होता है और जो समाधान वो वहाँ प्रस्तुत नहीं कर पाई उन्हें महादेवी वर्मा 'शृंखला की कड़ियाँ' में प्रस्तुत करने का प्रयास करती है। वह लिखती हैं–"आज हमारी सामाजिक परिस्थिति कुछ और ही है। स्त्री न घर का अंधकार मात्र बनकर जीवित रहना चाहती है, न देवता की मूर्ति बनकर प्राण प्रतिष्ठा चाहती है।

कारण यह जान गई है कि एक का अर्थ अन्य की शोभा बढ़ाना है तथा उपयोग न करने पर फेंक दिया जाता है तथा दूसरे का अभिप्राय दूर से उस पुजापे को देखते रहना है, जिसे उसे न देकर उसी के नाम पर भोग बांट लेंगे।"[41] हेमलता माहेश्वर के लिए बड़े अफसोस की बात है कि 19वीं शताब्दी के दशकों में स्त्रियों द्वारा स्त्रियों को जागृत करने वाली पुस्तकें उर्दू और मराठी में आई। हेमलता माहेश्वर के शब्दों में–"आश्चर्य इस बात का है कि स्त्री दासता या उसकी अधिकार–चेतना को लेकर पहली पुस्तक संस्कृत में नहीं बल्कि उर्दू में आई तथा दूसरी पुस्तक मराठी में।"[42]

स्त्री बहस के इतिहास में कृष्णा सोबती का प्रमुख स्थान हैं। आजादी के बाद कृष्णा सोबती ने 'सिक्का बदल गया' में शाहनी के सशक्त किरदार के बहाने स्त्री बहस के क्षेत्र में कदम रखा। इस कहानी को विचारक 'विभाजन की विभीषिका' मानते हैं कोई इसे आजादी पूर्व या आजादी के बाद की आत्मनिर्भर स्त्री की कहानी के रूप में नहीं देखता। शाहनी एक विधवा आत्मनिर्भर एवं स्वाभिमानी स्त्री है। भारत–पाकिस्तान विभाजन ने मानवीय संबंधों में दरार ला दी थी। आपसी सद्भाव या प्रेम का स्थान संदेह ने लिया। शाहनी विपरीत परिस्थतियों में कमजोर नहीं पड़ी। उसका विकट परिस्थितियों में शान से रहना, वैभवपूर्ण तरीके से देश छोड़ना छोटी बात नहीं है जिस पर विचारकों का कम ही ध्यान गया। इस बहस को परिष्कृत कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो मरजानी' 1967 ने किया। हालांकि प्रायः

हिन्दी में स्त्री बहस का आगमन कृष्णा सोबती के 'मित्रो मरजानी' उपन्यास से माना जाता है। यहाँ तक कि हिन्दी लेखन क्षेत्र में इन्हें 'मित्रो मरजानी' के कारण ही जाना जाता है। उपन्यास में मित्रो मरजानी परंपरागत स्त्री से अलग है। वह उस सामाजिक व्यवस्था से विद्रोह करती है, जो पुरुष के अन्यायों, कमियों व अक्षमताओं को छिपा समस्त दोष स्त्रियों पर आसानी से मढ़ देती है लेकिन स्त्रियों की बारी पर तुरंत उजागर कर देती है। जब दोनों तरफ से सहना स्त्रियों को ही पड़ता है तब सामाजिक व्यवस्थापकों से कैसा डर! मित्रो का पुरुषव्यवस्था से यही विद्रोह स्त्री बहस में अपनी अलग पहचान बनाता है।

स्त्री बहस के इतिहास में अगला बेजोड़ नाम मन्नू भंडारी है। वह अपनी शर्तों पर जीवन जीने वाली स्त्री है। सर्वप्रथम 1958 में मन्नू भंडारी का प्रथम कहानी संग्रह 'मैं हार गई' आया। इसके केंद्र में परिवार और परिवार में स्त्री–पुरुष संबंधों में बदलाव है। प्राचीन संस्कारों से टकराहट है। वह संस्कारों से पराजित होने और उससे आगे निकल जाने के द्वंद्व में भी स्त्रियों को बोल्ड देखना चाहती हैं। वह लिखती हैं–''मैं नारी को उसकी घुटन से मुक्त करना चाहती हूँ, उसमें 'बोल्डनेस' देखना चाहती हूँ...और देखिए 'बोल्डनेस' हमेशा दृष्टि में होनी चाहिए, वर्णन में नहीं, मैंने अपनी कहानियों में इसे इसी रूप में चित्रित किया है।''[43] स्त्री बहस को नई ऊर्जा मन्नू भंडारी के 'आपका बंटी' से मिली। 'आपका बंटी' को आर्थिक रूप से सशक्त, स्वाभिमानपूर्वक दायित्व निर्वहन और पारंपरिक छवि 'आँचल में है दूध और आँखों में पानी' को तोड़ने वाली स्त्री के रूप में आज तक याद किया जाता है। डॉ. राजेन्द्र यादव मन्नू भंडारी के विषय में स्वयं लिखते हैं–''व्यर्थ के भावोच्छावास में नारी के आँचल का दूध और आँखों का पानी दिखाकर उसने (मन्नू भंडारी) ने पाठकों की दया नहीं वसूली...वह एकदम यथार्थ के धरातल पर नारी का नारी की दृष्टि से अंकन कराती है।''[44]

दरअसल स्वतंत्रता के बाद रचनाकारों का ध्यान विशेषकर स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता पर गया। उन्होंने स्त्रियों को आर्थिक दृष्टि से सशक्त दिखाने का प्रयास किया। चाहे वह मन्नू भंडारी हो या फिर उषा प्रियंवदा। उषा प्रियंवदा का 'पचपन खम्भे लाल दीवारें (1961) में नायिका सुषमा आत्मनिर्भर है। आर्थिक रूप से सशक्त स्त्री है लेकिन गृहस्थ जीवन के चुनाव और वैयक्तिक अनुभूतियों के अंतर्द्वंद की पड़ताल में भावात्मक परिणति के सामने बौद्धिक पक्ष न के बराबर है। एक दृष्टि से स्त्री की घुटन, ऊब, संत्रास एवं अकेलेपन से मुक्ति का आधार आधुनिक जीवन की परिस्थितियों व मानव मूल्यों को स्वीकारना है जो

नायिका को कभी स्वीकार्य नहीं; बाद में उसके हाथ सिर्फ पश्चताप आता है। यह उपन्यास स्त्री की सामाजिक–आर्थिक विवशताओं से जन्मी मानसिक यंत्रणाएँ, घुटन, ऊब, संत्रास एवं अकेलेपन से उबरने की आकुलता–व्याकुलता की मर्मस्पर्शी बहस हिस्सा है।

20वीं शताब्दी में आजादी के बाद मंजुल भगत का 'अनारो' 1977 उपन्यास महानगरीय परिवेश के निम्नवर्गीय स्त्री जीवन के संघर्ष की कहानी के साथ स्त्री बहस का केंद्र बना। जैसा कि पहले ही कहा आजादी बाद विचारकों का स्त्रियों को आर्थिक सशक्त बनाना मुख्य मुद्दा था। उसी में यह अनारो या अन्य स्त्रियों की सबसे बड़ी ताकत है। मंजुल भगत इसकी सृजन प्रक्रिया के विषय में स्वयं लिखती हैं–''यह एक निम्नवर्गीय स्त्री की कहानी है, जो घर–घर का चौका–बर्तन कर गुजारा करती है, मदनगीन की झोंपड़पट्टी में अपने दो बच्चों और शराबी, नकारा पति के साथ रहती हैं, उसी का नाम है अनारो। अनारो एक जीवट वाली, संघर्षशील स्त्री है, जो कभी हार नहीं मानती। उसे जीवन से भरपूर लगाव है और यह जुड़ाव जीने के प्रति उसके मोह और उत्साह को कभी मरने नहीं देता। इस तरह की 'छुट्टा' काम करनेवालियों का चलन आज घर–घर है।...इस चरित्र की प्रेरणा मुझे अपने घर की सेविका से प्राप्त हुई थी। इस चरित्र की मैंने इतनी शिद्दत से महसूस किया था कि लिखने के दौरान मैं काफी हद तक उससे आइडेंटिफाई कर गई थी।''[45]

1979 में स्त्री बहस जगत का पर्याय मृदुला गर्ग का 'चित्तकोबरा' उपन्यास है। विवाहेत्तर संबंधों की आलोचनात्मक कृति माना जाता है। इसने स्त्री के स्वातंत्र्य, प्रेम विवाह, अन्य पुरुष के प्रति झुकाव, प्रेम अनुभूति से मानव जीवन की सार्थकता की तलाश के जरिए स्त्री बहस समाज में नए संदर्भ जोड़े। 'चित्तकोबरा' की भूमिका में मृदुला गर्ग लिखती है–''प्रेम अपने आदर्श रूप को तभी प्राप्त करता है, जब प्रेमी–प्रेमिका के लिए शारीरिकता का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। आत्मा तब इतना घनिष्ठ समागम हो जाता है कि एक–दूसरे की उपस्थिति–अनुपस्थिति की महत्त्वहीन हो उठती है। इष्ट का अस्तित्व ही सब कुछ है, उसकी उपस्थिति नगण्य। इष्ट के एब्सट्रैक्ट रूप में स्थापित होते ही प्रेम सार्वभौमिक रूप पा जाता है। ऐसा ही है चित्तकोबरा का प्रेम।''[46]

चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'एक जमीन अपनी' 1990 ने स्त्री बहस को विस्तृत आयाम दिए हैं। स्त्री जीवन को चर्चा का विषय बनाकर ग्रामीण अथवा शहरी, घरेलू अथवा नौकरी पेशा स्त्रियों को किसी प्रकार के शोषण के विरुद्ध सचेत एवं आवाज उठाने के लिए प्रेरित

करना स्त्री विमर्शकारों का मुख्य लक्ष्य है। चित्रा मुद्गल ने विज्ञापन जगत में होने वाले स्त्री शोषण को दिखाकर एक सफल स्त्री विमर्शकार के रूप में स्वयं को स्थापित किया। एक जमीन अपनी की नायिका अंकिता विज्ञापन जगत की चकाचौंध के बीच पुरुष समाज की शोषणपूर्ण नीतियों से टकराती है। अंकिता का देह मात्र से इंकार करना, अपनी शर्तों पर अपनी जमीन तलाशना अहम् है। डॉ. रामचंद्र तिवारी 'एक जमीन अपनी' की सामाजिक पृष्ठभूमि बाँधते हुए लिखते हैं–''आब्जर्वेशन एडवरटाइजिंग' के मुख्य कार्यकारी अधिकार मि. मैथ्यू 'अंकिता' जैसी प्रतिभासम्पन्न 'कापीराइटर' को सिर्फ इसलिए अपने यहाँ से निकाल देते हैं, कि वह पार्टियों में उनके क्लाइंट्स द्वारा की गयी अश्लील हरकतों को बरदाश्त नहीं करती। इसके विपरीत 'नीता' हर तरह के समझौते करके उसी कम्पन्नी में उसकी जगह नियुक्ति पा लेती है। लेकिन इसका मूल्य उसे देना पड़ता है। नित्य के शोषण से ऊबकर अंत में वह आत्महत्या कर लेती है। इस प्रकार पूरे उपन्यास में स्त्री–शोषण के सम्बन्ध में संचार माध्यमों की भोगवादी दृष्टि का पर्दाफाश किया गया है।''[47]

मैत्रेयी पुष्पा स्त्री बहस की दुनिया में अपने विचारोत्तेजक विचारों के कारण अन्यतम हस्ती है। इन्होंने स्त्री–पुरुष संबंधों में सीमा का कोई निर्धारण नहीं किया। वह सीमाओं से मुक्त है। 'चाक' में यह मुक्ति का प्रश्न केवल 'देह मुक्ति' तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह संपत्ति के अधिकारों से लेकर राजनीतिक अधिकारों तक जाकर पूरे सांस्कृतिक ढाँचे से जुड़ता है। स्त्री की संपूर्ण मुक्ति के व्यापक परिप्रेक्ष्य को गाँवों में ले जाकर मैत्रेयी 'स्त्री बहस' को विस्तार देती हैं। डॉ. रामचंद्र तिवारी ने 'चाक' उपन्यास की मूलसंवेदना को प्रकट करते हुए लिखा है–''श्रीधर' सारंग का कल्पना–पुरुष है। वहीं वह 'चाक' है, जिस पर गढ़ी जाकर सारंग एक तेजस्विनी नारी के रूप में प्रकट होती है। वह गाँव की स्त्रियों का संघटन करती है। ग्राम–प्रधान का चुनाव लड़ती हैं और विरोधियों के चक्रव्यूह को तोड़कर विजय प्राप्त करती हैं। सारंग के नेतृत्व में धरती की बेटियाँ लौह जंजीरों को काट फेंकती हैं। लेखिका ने अपनी संपूर्ण रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग इसी नारी–शक्ति को जगाने में किया है।''[48]

दो–तीन दशक पहले स्त्री विमर्शकारों में मीरा, महादेवी, बंगमहिला, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा चार–पाँच नाम स्थापित थे। यहाँ कुछ अर्सों से स्त्री बहस को लेकर बाढ़–सी आ गई लेकिन यह है कि महादेवी (शृंखला की कड़ियाँ), बंगमहिला

(दुलाईवाली), मन्नू भंडारी (आपका बंटी), कृष्णा सोबती (मित्रो मरजानी), मृदुला गर्ग (चित्तकोबरा), मैत्रेयी पुष्पा (चाक), चित्रा मुद्गल (एक जमीन अपनी), उषा प्रियंवदा (पचपन खंभे लाल दीवारें), मंजुल भगत (अनारो) समस्त स्त्री बहस की आधारशिला हैं। परिणाम सबके सामने है कि 90 के दशक और उसके बाद के वर्ष स्त्री बहस की दिशा में कितने मजबूत कदम उठे। इसने विचारों के क्षेत्र में समाज में स्त्री संबंधी बहसों को परिवर्तित कर दिया। आज यह दो धाराओं में दिखलाई पड़ती है एक, जिन्होंने भारतीय नवजागरण के प्रभाव में मर्यादाओं में रहकर सोचा। उनमें मन्नू भंडारी, मंजुल भगत, चित्रा मुद्गल आदि महत्त्वपूर्ण है। दूसरी, जिन्होंने पश्चिम के प्रभाव में पितृसत्ता को चुनौती देते हुए 'स्त्री मुक्ति' को 'देह मुक्ति' से जोड़ा। इनमें कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा आदि हैं। हाल के दशकों में अनेक लेखिकाएँ हैं जो स्त्री बहस को आगे बढ़ा रही हैं। कुछ प्रसिद्ध रचनाकार एवं रचनाएँ इस प्रकार हैंः स्त्रीत्व का मानचित्र (अनामिका, 1999), बाधाओं के बावजूद नयी औरत (उषा महाजन, 2001), स्त्री सरोकार (आशारानी व्होरा, 2002), हम सभ्य औरतें (मनीषा, 2002), स्त्रीत्व–विमर्शः समाज और साहित्य (क्षमा शर्मा, 2002), स्वागत है बेटी (विभा देवसरे, 2002), स्त्री–घोष (कुमुद शर्मा, 2002), औरत के लिए औरत (नासिरा शर्मा, 2003), खुली खिड़कियाँ (मैत्रेयी पुष्पा, 2003), उपनिवेश में स्त्री (प्रभा खेतान, 2003), स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक (चारु गुप्ता, 2012) आदि।

साहित्य और समाज दोनों क्षेत्र में स्त्री बहस नई उभरती दृष्टि है। उनमें कई बड़े–बड़े नाम हैं। यह क्षेत्रीय दायरे से उठकर स्त्रियों में नई चेतना का संचार कर रहे हैं। आज उनके मायने अलग हैं, स्वरूप अलग है। प्रत्येक विचारक इसे अपने नजरिए से देखने का प्रयास कर रहे हैं। इनमें सबसे बड़ा अंतर यह है कि आज स्त्री शोषण, पीड़ा यातना, संत्रास को बतौर हथियार प्रयोग करने की अपेक्षा उनके कारकों को ढूँढ़ने का प्रयास किया रहा है, समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है।

1.4 हिन्दी पत्रकारिता में स्त्री का स्वरूप

पत्र–पत्रिकाएँ आरंभ से समाज को व्याख्यायित करने का सबसे अहम् हिस्सा रही हैं। एक प्रकार से समसामयिक विषयों एवं प्रश्नों की अभिव्यक्ति है। पत्रकारिता की विशेषता है कि इसने समाज के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और साहित्यिक पक्ष को बड़ी

निर्भीकता से उठाया है। यह मनुष्य के वर्तमान और भविष्य पर चिंता व्यक्त कर समाज को सोचने पर विवश करती है। प्राचीन परंपराओं, मान्यताओं, मूल्यों, रूढ़ियों आदि को तोड़ने और जीवन मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास करती है।

1857 की क्रांति को विभिन्न कारणों से याद किया जाता है। उनमें से एक कारण भारत में ब्रिटिश राज की पुनःस्थापना के बाद भारतीय समाज में हो रहे तेजी से परिवर्तन है। हालांकि यह क्रांति इतनी सफल नहीं हो पाई और ब्रिटिश राज का शिकंजा भारत पर मजबूत करने में सहायता करने के कारण देश का सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक शोषण चरम पर पहुँच गया। लेकिन इस क्रांति से एक लाभ यह हुआ कि भारतीय जन को जल्द ही पराधीनता का बोध हो गया, शोषण के विरुद्ध चेतना जागृत हुई। यह चेतना निम्न स्तर पर जागृत हुई (क) सामाजिक और (ख) साहित्यिक। इस चेतना ने हिन्दी साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं को जमीनी आधार प्राप्त हुआ। फलतः हिन्दी साहित्यकारों ने पत्र–पत्रिकाओं को अपना शस्त्र बनाया–"ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद भारतीय समाज की मूल चिंता अपनी–अपनी परंपरा और संस्कारों के संरक्षण के रूप में दिखाई देती है। 1857 की राज्य क्रांति के बाद महारानी विक्टोरिया के घोषणा–पत्र ने भारतीय जन–मानस के घावों पर मरहम लगाने की कोशिश अवश्य की, लेकिन लोगों को स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि परिवर्तित रूप में संघर्ष की शुरूआत तो अब हुई है और यह संघर्ष लम्बा चलने वाला है। भारतेंदु युगीन लेखक भारत विरोधी ब्रिटिश प्रचार और आर्थिक शोषण के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष के लिए जिस माध्यम की खोज कर रहे थे वह उन्हें पत्रों के रूप में मिला। विचारों की लड़ाई के लिए गद्य ही उपयुक्त माध्यम बन सकता था। बहुत सोच–समझ कर बनाई गई इस रणनीति का ही परिणाम यह था कि इस युग में अनेक मासिक एवं साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन हुआ।"[49]

साहित्यिक पत्रिकाओं ने सामयिक प्रश्नों और समस्याओं को प्रस्तुत कर समाज में सामाजिक चेतना, जागृति लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। पत्र–पत्रिकाएँ जन–जीवन को जितना प्रभावित करती है शायद ही कोई करता हो क्योंकि यह प्रत्यक्ष रूप से अपनी बात मनवाने का पूरा सामर्थ्य रखती है। भारतवर्ष साम्राज्यवाद से आजादी के लिए जिस प्रक्रिया से गुजर रहा था। उसमें यह और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है–"किसी प्रकार के अन्याय या

पक्षपात का प्रतिकार करने के लिए जनता जब उठ खड़ी होती है तो उसे अपनी आवाज बुलंद करने के लिए पत्र–पत्रिकाओं का सहारा लेना पड़ता है।[50]

इस युग की आंरभिक साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं कविवचन सुधा, हरिश्चंद्र मैगजीन, हिन्दी प्रदीप आदि। इन पत्रिकाओं के समक्ष राष्ट्र और राष्ट्रीयता का प्रश्न मुख्य रूप से था परंतु इसके साथ इन पत्रिकाओं ने स्त्री जीवन से जुड़ी समस्याओं को स्थान दिया। हालांकि 1857 की क्रांति के बाद भारत में हो रहे परिवर्तनों ने जन–जीवन को प्रभावित करने में कोई कमी नहीं छोड़ी किंतु समाज की आधी आबादी कहलाने वाली स्त्रियों को भी प्रभावित करने से न रह सकी। औपनिवेशिक स्थापत्य के बाद स्त्री जीवन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि स्त्री को औपनिवेशिक और पश्चिमी सभ्यता से बचाने के लिए सभी समाज सुधारकों और साहित्यकारों की दृष्टि स्त्री पर जा टिकी और स्त्री जीवन से जुड़ी समस्याओं, चिंतकों को कहानियों, लेखों, कविताओं, नाटकों, आलोचनाओं, टिप्पणियों द्वारा प्रकट कर, जागृत करने का प्रयास था–हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाएँ। स्त्री जीवन को लेकर प्रथम पत्रिका भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'बालाबोधिनी' (1874) निकाली। यह पत्रिका स्त्री की घरेलू शिक्षा पर बल देती है। स्त्रियों को धर्म द्वारा दिशा–निर्देशित करने का प्रयास किया। अधिकतर स्त्रियों के चरित्र निर्माण, घरेलू प्रबंध, धार्मिक शिक्षा को प्रमुखता दी। यह सब धर्म द्वारा संचालित था।

धर्म और धर्मशास्त्र किसकी सृष्टि है? वस्तुतः पुरुषों की सृष्टि है। जब व्यक्ति का विकास अवरुद्ध किया जाता है तब उसे धर्म की कसौटी पर परखा जाता है। स्त्री को भी परखना उसका विकास अवरुद्ध करना था। अधिकतर साहित्यकारों ने स्त्रियों को धर्म की संवाहिका और सांस्कृतिक सभ्यता की मूर्त समझा–"स्त्रियों को निरंतर अपने पति के अनुसार रहना और मनक्रम बचन करके उत्तम सेवा करनी उनका धर्म और केवल पति की सेवा ही को वे अपना परलोक साधन जानती हैं और शास्त्रों में भी सौ भागवती स्त्रियों के लिए कोई सेवा पूजा पति सेवा के बिना नहीं कही है।"[51] ऐसी शिक्षा की क्या आवश्यकता जो स्त्रियों को पति का अनुसरण करने, पति की सेवा करने, तर्क–वितर्क न करने, घरेलू प्रबंध करने वाली बनाती हो! फिर भारतेंदु हरिश्चंद्र देश की स्त्रियों को इस प्रकार पढ़ा–लिखाकर जो पुरुषों की सहभागिनी होने की चर्चा करते हैं वह कैसे संभव है–"यह जिस 'समता की मांग की गई है, उसके मायने में थोड़ी पेचीदगी है। वे पुरुष ही है जिन्हें इस मुल्क के हालात को

समझना है और उसे दुरूस्त करने के लिए कदम उठाने हैं, लिहाजा, पुरुष ही अपनी जीवनचर्या में स्त्रियों को भागीदार बनाने के लिए उन्हें साधन मुहैया करा सकते हैं।"[52]

वहाँ स्त्री–पुरुष की समानता नहीं, भागीदारी थी। औपनिवेशिक पराधीनता से मुक्त कराने के लिए पुरुषों को नैतिक और भावनात्मक सहारे की भागीदारी। निम्न वर्ग के लिए शिक्षा का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं था, वहाँ लालच का प्रश्न था और उच्च (पंडित) वर्ग के लिए धार्मिकता और नैतिकता का प्रश्न। उच्च वर्ग के लिए शिक्षा केवल शर्मिंदगी से उबरने वाली माँग थी–''आश्चर्य यह है कि जो मूर्ख है वह तो किसी भांति स्त्रियों को पढ़ने–लिखने देते भी हैं पर जो पंडित योग है वे तो स्त्रियों के न पढ़ाने में और हठ करते हैं और न जाने अपने वंश के लोगों को मूर्ख देखकर रात दिन उनकी संगत में उनसे कैसे रहा जाता है क्योंकि विद्वानों को तो कभी मूर्ख का साथ नहीं अच्छा लगता और नीतियों में कहा भी है कि बन्दरों और रीछों के साथ बन परबतों में फिर अच्छा पर मूर्खों के साथ स्वर्ग में इन्द्र के भवन में भी रहना अच्छा नहीं, उस पर विशेष यह है कि अपने को बड़ा चतुर और रसिक लगाते हैं पर घर में मूर्ख स्त्री देख के लाज नहीं करते, करै क्या पुरुषों का भी दोष नहीं बुरे संस्कार की गांठ उनके हृदय में ऐसी दृढ़ बंध रही है कि उसका खुलना कठिन पड़ गया।"[53]

स्त्रियों को दोषयुक्त और पुरुषों को दोषमुक्त मानना भारतीय परंपरावादियों की परंपरा रही है। उनके लिए स्त्रियाँ दोषी थीं, दोषी हैं और दोषी रहेंगी। भारतेंदु हरश्चिंद्र स्त्रियों के न पढ़ने के पीछे पुरुषों को दोषी ठहराने से ज्यादा स्त्रियों को दोषी मानते हैं। वह लिखते हैं–"हम इस बुरे संस्कार का कारण भी स्त्रियों ही का न पढ़ना कहेंगे क्योंकि मनुष्य पाठशालाओं में चाहे जितना पढ़े मातृशिक्षा बिना कभी उसकी विद्या जन्म की विद्या है और गुरु से सीखी विद्या तोता लोगों की विद्या है।"[54] क्या स्त्री–शिक्षा जैसे प्रश्नों पर भारतीय जनता के मानसिक अज्ञान को दूर करना जितना अनिवार्य स्त्रियों के लिए है उतना नवजागरण के लेखकों, नेताओं समाज सुधारकों अथवा प्रांतीय जनता का नहीं है। जब तक स्त्रियों को पढ़ाए जाने के विषय में विचारों में परिवर्तन नहीं आएगा वह कैसे पढ़ पाएगी? क्या मातृशिक्षा सामंती मूल्यों से श्रेष्ठ है जिसकी भारतेंदु हरिश्चंद्र चर्चा करते हैं। यदि मातृशिक्षा सामंती मूल्यों से कहीं श्रेष्ठ होती तो सर्वप्रथम वास्तविक रूप से स्त्री–शिक्षा को बढ़ावा मिलता न कि धर्म समाज और संस्कृति को। वास्तविकता यह है कि भारतीयों के लिए

स्त्रियाँ उनका वैसा पवित्र मामला है जैसे उनका धर्म। इसमें कोई बाहरी दखल नहीं दे सकता।[55]

स्त्री की अजीब विडंबना है वह धर्म, संस्कृति, देश, कुल की मर्यादाओं में ऐसी फँसी है न सामाजिक रूप से स्वतंत्र है, न राजनैतिक, न आर्थिक, न सांस्कृतिक, न देशकालिक, न धार्मिक, न शारीरिक। अगर वह उनसे ऊपर जाती है तो वेश्या कहलाती है–"जो वस्त्र पहनो अपनी सामर्थ और देश और समय के अनुसार पहनो।"[56] और "वस्त्र से जो प्रयोजन अंगों का परदा और शीत उष्ण निवारण है सो ऐसे झीन वस्त्र से कुछ नहीं सरता सौ जो कुलों की बेटी सील सतवाली है वह तो कदाचित भी उस प्रकार का कपड़ा नहीं पहनती चाहे कैसा चलन का कपड़ा हो निदान इस प्रकार का भूषण वस्त्र अंगी कार करना कि दूसरों को अपना अंग दीख पड़े ये वेश्याओं का धर्म्म है।"[57]

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में औपनिवेशिक शासक की संस्कृति से भयभीत भारतीय समाज के लिए अपनी संस्कृति को बचाए रखना आवश्यक था। औपनिवेशिक देश में स्त्रियों का जैसा वर्ग खड़ा हो रहा था वह भारतीय लेखकों, विचारकों, सुधारकों के अनुसार भारतीय स्त्रियों को पथभ्रष्ट कर सकती थी। बालकृष्ण भट्ट स्त्री पराधीनता, अत्याचार की निंदा करते हुए धर्मशास्त्रों और प्राचीन ग्रंथों को उत्तरदायी मानते हैं। उनकी दृष्टि में लज्जा, धैर्य, सब्र, सहिष्णुता, गमखोरी आदि गुण स्त्री में सर्वोपरि है। बालकृष्ण भट्ट के शब्दों में–"यह किस्सा गोल्डस्मिथ की एक कल्पना मात्र है किन्तु इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि उनकी सभ्यता का धब्बा वहाँ स्त्रियों में स्वंत्रता इसी दरजे तक पहुँची हुई है जिसका चित्र गोल्डस्मिथ ने इस ढंग से उतार हंसी उड़ाया है। भारत–ललनाओं में बन्धकी और कुलटायें भी इतना साहस करने की हिम्मत नहीं करेंगी जैसा वहाँ अच्छे–अच्छे घरानों की कुलांगनायें करती हैं। हमारी ललनायें पढ़ी लिखी नहीं होती पर शालीनता, धीरापन, सबर और सहनशीलता में पृथ्वी भर की स्त्रियों के बीच एक उदाहरण है।"[58]

इन्हीं कारणों से स्त्री भारतीय समाज में पुरुषों के समान है। लेकिन यह समानता किसके लिए? क्योंकि जो 'समानता' 'स्वतंत्रता' नहीं दिला सकती या 'स्वतंत्रता' पर आश्रित है उसका कोई औचित्य नहीं है। वह गौरव के अभिमान में विशृंखलित होती रहती है। परंतु कहीं भी बालकृष्ण भट्ट स्त्री स्वतंत्रता का पक्ष लेते दिखलाई नहीं पड़ते। जाहिर सी बात है इन गुणों से लैस स्त्री ही स्वतंत्र है। ऐसी स्वतंत्र स्त्री का बालकृष्ण भट्ट की दृष्टि में कोई

महत्त्व नहीं, वह सभ्यता संस्कृति के लिए कलंक है। ऐसी शिक्षित स्त्रियों से भली उन्हें अशिक्षित स्त्रियाँ लगती है। बालकृष्ण भट्ट के कहने का यह अर्थ हुआ कि 'शिक्षा' स्त्रीत्व के गुणों का नाश करती है इसलिए गृहशिक्षा स्त्रियों के लिए उचित है।

20वीं शताब्दी स्त्री जागृति की दृष्टि से बड़ा महत्त्वपूर्ण काल रहा है। वह स्त्रियाँ जो अभी तक अपने जीवन को संबंधित समस्याओं को पत्रिकाओं के माध्यम से पढ़ सकती थीं अब उन्हें व्यक्त करने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों तक दो विचारधाराएँ आरंभ से लेकर अंत तक विद्यमान रही। प्रथम विचारधारा स्त्रियों को सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक परंपराओं के सीमित दायरे में रखकर सुधार की पक्षपाती थी। दूसरी विचारधारा स्त्री को प्रत्येक दायरे से बाहर निकालने का प्रयास करती है। वह स्त्रियों में जागृति का संचार इस हद तक करती है कि स्त्रियाँ स्वयं धार्मिकता और नैतिकता के आश्रय को छोड़ अपने जीवन को सुचारू बनाने के लिए अधिकारों, सामनता, स्वतंत्रता, नियम बनाने वाले संहिताओं को बदलने की माँग करती है–''स्त्रियों को और शूद्रों को गुलामी में रखने की जिन शास्त्रों ने आज्ञा दी है, हमारे पुरुष योग उनकी महिमा गाया करें, और ऐसे धर्म ग्रंथों की रचना पर मन ही मन मुग्ध हुआ करें, पर कोई कारण नहीं है कि स्त्रियाँ भी उनके साथ वैसा ही करने को तैयार हों। जिस समय ने, स्त्रियों को पशुओं की पंक्ति में ला बैठाया उस समय फिर वह स्वर्णयुग ही क्यों न हो के विषय में स्त्रियों को कृतज्ञ क्यों होना चाहिए।"[59]

सर्वप्रथम आजादी पूर्व स्त्रियों अपना संघर्ष शुचितावादी धार्मिक–सांस्कृतिक–नैतिक परंपराओं से निर्मित संस्था परिवार–घर से आरंभ करते हुए आगे बढ़ी। घर–परिवार स्त्री पराधीनता की प्रथम सीढ़ी है जो उसे घर–परिवार, प्रांतीय, राष्ट्रीय पराधीनता के सोपानों तक पहुँचाती है। इसलिए स्त्रियों ने परिवार संस्था पर प्रहार करना उचित माना। परिवार के अंदर अपने अधिकारों और स्वतंत्रता की माँग की। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की दृष्टि से भारतीय स्त्री के समक्ष वे समस्त समस्याएँ तो थी ही जो भारतीय पुरुषो के सामने थी। इसके अतिरिक्त स्वयं की बहुत समस्याएँ थी जिन्हें भारतीय स्त्रियों को स्वयं ही हल करके समाप्त करना था–"प्रकृति ने जितने अधिकार स्त्री जाति को दिए हैं, उनको स्त्रियों को संभालना चाहिए। अन्य सभी सभ्य कहलाने वाले देशों की स्त्रियों ने अपना बोझ अपने ऊपर

से लिया है। अब उनको कोई भी किसी प्रकार के लांछन लगाने की हिम्मत तक नहीं करता।"[60]

चूँकि शिक्षा के प्रचार–प्रसार द्वारा स्त्रियों में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक चेतना जागृत हो गई थी लेकिन पराधीनता के संस्कारों से अब भी स्त्रियाँ बिलकुल मुक्त नहीं थी। इनसे आत्मनिर्भर होकर ही मुक्त हुआ जा सकता था। फलतः स्त्रियाँ घर से बाहर निकल राजनैतिक, आर्थिक स्वतंत्रता की अभिलाषा रखती हैं–"भारतीय स्त्रियों की मनोवृत्ति में वस्तुतः बहुत परिवर्तन हो गया है। अब ऊँचे घराने की कन्याएँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर स्वयं स्वतंत्र आजीवका प्राप्त करने की अभिलाषा रखती हैं। वे व्यापार करना, वकालत करना, सभा–समितियों, सरकारी कमीशनों और कौंसिलों आदि में भाग लेना इत्यादि अनेक काम करने को उत्सुक है अब वे अपने को घर की चारदीवारी में कैद नहीं समझतीं। अब वे समझने लग गई कि रोटी पकाना, बच्चों का पालन करना शासन प्रबंध में उनका हाथ हो सकता है।"[61] स्त्री जागृति से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली परिवर्तन यह हुआ कि स्त्रियों ने घर की पराधीनता को स्वीकारना बंद कर दिया। वह दैवीय परिधि में स्वयं को न आँकती है न आँकने देती है क्योंकि–"पुरुष हमारी मदद करेंगे और हमारी पूर्ण स्वाधीनता में सहानुभूति दिखायेंगे, ऐसी आशा रखने से शायद कोशिश भी होना पड़े। अगर वे हमारा हित चाहने वाले होते तो अभी तक कुछ क्यों न करते? उन्होंने हमें क्यों कुचल डाला और अपना स्वार्थ सिद्ध किया? यद्यपि ऐसे पुरुष भी है, जो स्त्रियों की स्वाधीनता के सिद्धांत को मानते हैं और उनकी सहायता भी करते हैं, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम हैं। यदि कोई कहे कि पुरुषों की व्यर्थ निन्दा की जाती है, वे स्त्रियों की बड़ी मदद करते हैं तो वे यह भूल जाते हैं कि पुरुषों की कृपा से हमारे अन्दर जंगली प्रथाएँ आयीं, जैसे पर्दे की प्रथा।"[62]

स्वाधीनता पूर्व स्त्री विचारकों का प्रयोजन प्रत्येक स्त्रियों को प्रकृति प्रदत्त अधिकारों की पहचान, स्वयं वहन करने का भाव किसी प्रकार के अत्याचार और भेदभाव को मिटाकर, स्त्री–पुरुष समानता अथवा बराबरी आदि में सहायता प्रदान करने का रहा। सीतादेवी संपादित 'महिला' पत्रिका के अक्टूबर 1938 के अंक में शकुंतला एम. ए. भारतीय पुरुषों के लिए पूरी ललकार से लिखती हैं–"परन्तु वे जो समझते हैं कि स्त्रियाँ हमारी दासी हैं और उन्हें केवल अन्न–वस्त्र पर ही हमारे सब प्रकार के अत्याचार है वह लेने चाहिए थे स्त्रियों की इस जागृति को खूब असंतुष्ट हुए हैं और धर्म की दुहाई देकर, शास्त्र की दुहाई देकर,

हमारी इस बात को समझ लेने की आवश्यकता है कि इस प्रकार वे हमें दबा नहीं सकते। वह समय चला गया जब नीति और धर्म के नाम पर आप हमारा मनमाना बलिदान करते रहे और हम गरीब गाय की तरह कुछ न बोल सकीं।"[63] 1920 से लेकर 1947 आजादी पूर्व तक किसी भी दृष्टिकोण से भारतीय स्त्रियाँ अपने अधिकारों के विमुख नहीं दिखती।

47–70 का दशक बड़ा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस दशक बीच स्त्री जीवन में काफी उतार–चढ़ाव हुए। एक, अनायास स्वाधीनता पश्चात स्त्रियों की पत्रिकाओं में उपस्थिति कम होने लगी दो, उससे मोहभंग भी जल्दी हो गया तीन, दोबारा उन्होंने पत्रिकाओं में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। इस स्थिति का कारण बदली पस्थितियाँ थी। आजादी बाद भारतीयों के लिए कोई विशेष मुद्दा शेष नहीं रह गया था। हाँ, स्वाधीनता प्राप्ति के कुछ वर्षों तक भारतीय स्त्रियों को पश्चिमी सभ्यता से चेताना जारी रहा। स्त्रियों को उनके मार्ग से भटकाने का प्रयास यह कहकर किया कि ''अधिकार परिणाम होता है कर्तव्य का। कर्तव्य की पूर्ति के साथ अधिकार फल रूप में चरणों में लोटता है। बिना कर्तव्य के अधिकार की सत्ता नहीं है और जो कर्तव्यरत है, उसे अधिकार से वंचित करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। नारी माता है और जीवन की शक्ति है। उसने सदा कर्तव्य पूर्ति के कठिन पथ में अग्रसर होकर ही अपने अधिकारों की सत्ता स्थापित की है। यह सत्य इतिहास से व्यक्त होता है और नारी को पुनः वही करना है। 'अधिकार', अधिकार' का हल्ला मचाना छोड़कर कर्तव्य की पूर्ति की ओर ध्यान देते ही वह अधिकारों की अधिकारिणी स्वयं हो जाएगी।''[64] स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय स्त्रियों की स्थिति इस दृष्टि से भिन्न रही कि उन्होंने भारतीय स्वाधीनता को अपनी स्वाधीनता समझा। वह अपना दायित्व समाज के कर्णधारों को छोड़कर निश्चिंत हो गई। ऐसे में आजादी पूर्व स्त्री जीवन का प्रश्न स्त्रियों का न रहकर पश्चिमी सभ्यता से भारतीय स्त्रियों को बचाने का लगने लगा। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद इनका कोई महत्त्व नहीं रह गया। यह मात्र पश्चिमी सभ्यता के विरुद्ध साजिश थी; क्योंकि कुछेक पुरुषों को छोड़कर (वह स्त्री जीवन प्रश्नों को लेकर धार्मिक ग्रंथों अथवा कथा साहित्य में ज्यादा सक्रिय दिखे[65]) कोई पुरुष एवं स्त्री लेखक स्वाधीनता पश्चात् स्त्रियों के प्रति जागरुक नहीं दिखाई पड़ते। कहानी, उपन्यास, कविता में स्त्रियों की स्थिति भिन्न थी। स्वाधीनता के पश्चात स्त्री लेखन के स्वरूप पर मृदुला गर्ग लिखती हैं–''1950 के बाद आने वाले लेखकों ने जिस तरह जैनेन्द्र, अज्ञेय और द्विवेदी की स्त्री की छवि को आत्मसात किया, महादेवी की स्त्री को नहीं किया। इसके

दो प्रभाव हुए। पहला यह कि स्त्री की अस्मिता की खोज पर लिखे जाने वाले उपन्यासों में जितनी भी सबल, विद्रोही और विचारवान स्त्री पात्र आई, उनका संघर्ष प्रमुखतः पुरुष से दिखाया जाता रहा, पुरुष केंद्रित सत्ता या व्यवस्था से नहीं। एक तो इनके लेखन या लेखिकाएँ स्वयं इस वर्ग से आते थे, दूसरे यही वर्ग ऐसा था, जिसके लिए अस्मिता का प्रश्न उठाया जा सकता था। तीसरे इस वर्ग की स्त्री का संघर्ष को जिंदा रह पाने की आपाधापी का संघर्ष है।''[66] 50 के दशक से हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्रियों का स्वरूप अव्यवस्थित रूप से बनता–बिगड़ता है। यह नवोदित लेखिकाओं की लेखन, प्रकाशन और परिवेश संबंधी समस्या भी है। अप्रैल 'कल्पना' 1962 के अंक में कुमारी राधा लिखती हैं–''प्रारंभ में वे जो कुछ भी लिखती हैं उसे पत्रिकाओं आदि में भेजने में झिझकती हैं और दूसरों को दिखाने में भी संकोच करती हैं। प्रारंभ में ऐसा लगता हे कि कहीं यह कुछ बन पायी या नहीं; और जो ग़लत–सलत कुछ हुआ तो लोग खिल्ली उड़ायेंगे। होता भी यही है। और भी अनेक तरह की बातें उठती हैं। ऐसी भ्रमात्मक और अवांछनीय कि उनकी चर्चा भी अनावश्यक लगती है। यह सब प्रतिफलित होता है आगे बढ़ कर समाज द्वारा अपमान, असम्मान, लांछन और अभियोग–आक्षेप के रूप में। परिवार के लोग भी विमुख होते हैं और अंततः बेचारी लिखना छोड़, चुप हो जाती है। हाँ, जब नयी लेखिकाओं के बंधुओं, हितुओं या अपनों में से कोई प्रतिष्ठित लेखक या सम्पादक आदि होता है तो वह उसे प्रोत्साहित करता है, उसे अपकीर्ति से बचाता है, विपरीत परिस्थितियों में उतरने से रोकता है और फल यह होता है कि वह पूर्ण आत्मविश्वास से लिखने लगती है। लेकिन जिनके साथ ऐसा कुछ नहीं होता उन्हें उपर्युक्त स्थिति का ही भाग बनना पड़ता है या लिखने की बात भी सोचनी छोड़ देनी पड़ती है।''[67] स्त्रियों के इसी संकोच के कारण आजादी के कई वर्षों तक हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्रियों के गिन–चुने नाम दिखाई पड़ते हैं।

यह संतोष की बात है कि स्त्रियों ने किसी न किसी विधा के माध्यम से हिन्दी पत्रिकाओं में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। उनके साथ यह स्थिति ज्यादा समय तक नहीं रही; जल्दी ही भारतीय स्त्रियों का स्वाधीनता प्राप्ति से मोहभंग हो गया। वह हिन्दी पत्रिकाओं से फिर दोबारा एक बड़ी संख्या में सक्रिय हुई। हालांकि स्वाधीनता के बाद भी कुछ समय तक वे सभी आदर्श, मानवीय मूल्य रहे जिनका स्वाधीनता पूर्व आग्रह किया जाता था। घर–गृहस्थी की देखभाल, साज–सज्जा, त्योहार, संस्कार को अनूठे नवीन प्रयोग के

साथ भारतीय स्त्रियों के समक्ष रखा। अगस्त 1962 'ज्ञानोदय' पत्रिका के अंक में शांति मेहरोत्रा ने 'गृह–सज्जाः एक नया प्रयोग' लेख के आरंभ में लिखा है–''इस आधुनिक युग में यह कोई ज़रूरी तो नहीं कि नये–नये प्रयोग केवल साहित्य, कला और विज्ञान तक सीमित रहें, दरअसल प्रयोग तो किसी भी क्षेत्र में किये जा सकते हैं, मसलन् गृह–सज्जा के इस नये प्रयोग का ही जायजा लीजिये।''[68] लेकिन धीरे–धीरे ये स्त्रियों पर आदर्श प्रयोग समाप्त होते चले गए। हिन्दी पत्रकारिता क्षेत्र में इन्दु जैन, पद्मा सुधि, विमला राजेन्द्र, मीरा मानिकवाला, कुमारी राधा, शोभा डोगरा, विमल वेद, मन्नू भंडारी, मोहिनी ओबराय, रजनी पनिकर, ज्योत्सना मिलन, मनमोहिनी, शिवानी, रमा सिंह, शुभा वर्मा, शशिप्रभा शास्त्री, ममता अग्रवाल, जया नागर, प्रेमलता वर्मा, सुनीता अग्रवाल, सरस्वती चौधरी, अनामिका, पुष्पा राही, चित्रा मुद्गल आदि नवीन लेखिकाओं का आगमन हुआ। 60 के बाद का दशक एक प्रकार से स्त्री विमर्श और जागरुक होती स्त्री का दशक है–उसका निजी अनुभव रचित इतिहास। लेखिकाओं के विषय क्षेत्र की कुछ सीमाएँ होती है तभी वह स्वतंत्र (Comfort) होकर लेखन कर पाती है अन्यथा उनका लेखन' लेखन नहीं रहता है। एक लेखिका के लेखन का कारण क्या है? उसे अपने निजी अनुभव से देखते हुए 'कल्पना' अप्रैल 1962 के अंक में इन्दु जैन लिखती हैं–''वास्तव में हम अधिकांशतः अपने आवेग को मार्ग देने और मन पर बहत गहरे उतरे बोझ को हल्का करने के लिए लिखती है। हमारे लिए लिखना ऐसा ही है जैसे बोझिल शाम के धुँधलके में हाथों में मुख छिपा कर सिसक पड़ना। उसमें अनुभूति ही अनुभूति है, विचारवान सुलझाव के लिए स्थान कम है। उसमें एक ऐसे अभाव की निष्कृति है जिसे हम स्वयं ही समझ नहीं पातीं।''[69] स्त्रियों के लेखन विषय क्षेत्र की सीमितता का जिक्र प्रसिद्ध स्त्री विमर्शकार अनामिका ने भी किया है। क्या हम इसे आत्मनिर्भर स्त्री की संज्ञा दे सकते हैं। बिलकुल नहीं। स्त्रियों का लेखन आत्माभिव्यक्ति का साधन है। 'आत्मनिर्भरता' स्त्री मुक्ति का दूसरा नाम है जो समस्त इच्छाओं–आकांक्षाओं सहित अपने जीवन के उद्देश्यों में स्वयं को खो देने में है। सीमोन द बोउवार के शब्दों में–''आज बड़े कामों को करने में नारी में जो कमी पायी जाती है वह है–अपने आपको भूलना। लेकिन स्वयं को भुला देने के लिए सबसे पहले इस बात का पूर्णतः निश्चित हो जाना अनिवार्य है कि वह अपने 'स्वयं' को भविष्य में खोजने में बुरी तरह व्यस्त है।''[70] अफसोस 'आत्मनिर्भर' और 'सामान्य' दोनों स्त्रियों में इसकी अधिकतर कमी है। डर के आगे जीत, बड़े से बड़े और छोटे से छोटे काम वाली स्थिति

प्रत्येक स्त्री में होनी चाहिए। 60 के दशक में स्त्रियों के लेखन विषय की संकीर्णता कहने की विषय वस्तु नहीं है। आजादी के बाद सामाजिक परिवर्तनों में मुख्य परिवर्तन यह हुआ कि स्त्रियाँ अपनी परंपरागत जीवनचर्या में लगभग मुक्त हो गई और आत्मनिर्भर बनने के लिए ऐसे व्यवसायों में प्रवेश करने लगी जिन पर पुरुषों का आधिपत्य था। नगरों एवं महानगरों में शिक्षित–नवचेतना युक्त स्त्रियों का वर्ग समाज के विविध क्षेत्रों में अपनी कार्य क्षमता प्रतिभा प्रमाणित कर रहा था। अब स्त्रियाँ आत्मनिर्भर और महत्त्वाकांक्षी थी।

स्वाधीनता पश्चात् 80–90 का दशक मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, मृदुला गर्ग, चित्रा मुदगल, मैत्रेयी पुष्पा आदि का दशक था क्योंकि इनका विमर्श वर्ण, धर्म, जाति, समाज पर आधारित मान्यताओं को अतिक्रमण कर, स्त्री पुरुष के नवीन संबंधों को स्वातंत्र्योत्तर कालीन साहित्य में गढ़ता है। हालांकि हिन्दी पत्रिकाओं में मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल, अनामिका आदि जैसी स्त्रियों के आगमन का आगाज 1970 में हो गया था। इस लिहाज से स्त्री जीवन गाथा, सामाजिक कुरीतियों का विरोध एवं स्त्री जीवन संबंधी विमर्श साथ–साथ चलता है। इसे ऐसे समझा जा सकता है कि स्त्री संबंधी विचार पूर्णतः हिन्दी पत्रिकाओं के केंद्र नहीं बन पाए क्योंकि समाज में स्त्रियों को कानूनी संरक्षण प्राप्त करने के कारण इस विषय पर चर्चा की कोई आवश्यकता नहीं अनुभव हुई। 'आजकल' फरवरी 1975 के अंक में प्रेमा सिन्हा लिखती हैं–''बहुत से लोग संभवतः यह कहेंगे कि आज के भारत में इस विषय पर चर्चा की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि भारतीय समाज में कम से कम कानूनी दृष्टिकोण से अब पुरुषों और स्त्रियों में कोई फर्क नहीं रह गया है और वे सोचते हैं कि अगर स्त्रियाँ उन अधिकारों का उपयोग नहीं करती हैं तो उसके लिए जिम्मेदारी उनकी है, समाज की नहीं। लेकिन प्रश्न यह भी है कि अगर स्त्रियाँ उन अधिकारों का जो उन्हें मिले हैं, पूर्णरूप से उपयोग नहीं कर पाती है तो क्या सारी जिम्मेदारी उन्हीं की है या उनकी परिस्थितियाँ ऐसी हैं जो उन्हें उन अधिकारों का उपयोग करने से रोकती हैं?''[71] यहाँ लेखिका का पूरा इशारा ग्रामीण स्त्रियों की तरफ है।

भारतवर्ष के 'नगरों' में परिवर्तित होने से यही लगता कि यथार्थ में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही सामाजिक स्वतंत्रता है। सामाजिक स्वतंत्रता स्वरूप सरकारी और निजी पद उनके लिए सुनिश्चित थे। ऐसा भारतवर्ष की समस्त स्त्रियों के साथ नहीं था। ग्रामीण स्त्रियाँ न कि सामाजिक दृष्टि से बल्कि अधिकार जागृति एवं प्राप्ति में भी पिछड़ी हुई थी। अतः

1980 के विमर्शकारों का विमर्श स्त्री जीवन गाथाओं से मुड़कर ग्रामीण स्त्री की ओर मुड़ गया। भारत में स्त्रियों की दशा को एक समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखते हुए 'आजकल' जुलाई 1975 में आंद्र बैटीले लिखते हैं–''देश के विभिन्न क्षेत्रों में स्त्रियों को इधर–उधर जाने की जो स्वतंत्रता की भी अलग–अलग सीमाएं हैं। एक आम शहर में जन्में उत्तर भारतीय की तरह जब मैं दक्षिण में काम करने गया तो मुझे यह उम्मीद थी कि वहाँ का सामाजिक जीवन...विशेष कर महिलाओं का कठोर रूढ़िवादी संहिता से नियंत्रित होगा। लेकिन शीघ्र ही मुझे यह मालूम हो गया कि कर्मकांडी जीवन में भी अत्यधिक रूढ़िवाद के साथ एक सीमा तक महिलाओं में इधर–उधर जाने की स्वतंत्रता का समन्वय किया जा सकता है। दक्षिण भारत की ग्रामीण महिलाओं को उत्तर भारत की ग्रामीण महिलाओं की तुलना में इधर–उधर जाने की स्वतंत्रता प्राप्त होती है।''[72] यह इस युग की विशेषता है जिसे भुलाया नहीं जा सकता।

1990 के बाद आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण की प्रक्रिया से सामाजिक अस्मिता का प्रश्न केवल स्त्रियों का नहीं रह गया था; वह अस्मिता से जुड़े लोगों के जीवन के वैचारिक विमर्श का केंद्र बना। परिणामतः उसके शोषण सूत्रों की खोज इतिहास और वर्तमान में समाजशास्त्रीय ढंग से होने लगी। प्रभा खेतान ने लिखा है–''सवाल यह है कि हजारों साल से यह शोषण जारी क्यों है? प्रत्येक जाति और संप्रदाय का पुरुष स्त्री का शोषण क्यों करता है? स्त्री को दलित अवस्था में रखने से समाज के किन उद्देश्यों एवं स्वार्थों की पूर्ति होती है? सही यही होगा कि हम स्त्रियाँ आंदोलन के क्षेत्र को सीमित करें और मानव–मुक्ति के बदले स्त्री–मुक्ति का विशिष्ट क्षेत्र निर्धारित करें, मगर यहाँ भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा चुनाव की क्षमता को स्वीकारने का अर्थ 'उच्छृंखलता' को प्रश्रय देना तो नहीं कहलाएगा? ऐसे उच्छृंखल आचरणों के कारण क्या स्त्री फिर से भोगवादी संस्कृति की गि़रफ्त में नहीं जकड़ जाएगी? विज्ञापन की दुनिया नित नए जंजाल खड़े कर रही है, जहाँ किसी भी स्त्री के लिए वैचारिक रूप से न कुछ उगलते बनता है और न निगलते। मुक्ति का अर्थ यौन न तो उच्छृंखता है, न नग्नता को प्रश्रय देना। उधर मर्यादा के नाम पर स्त्री पिंजरे में बंद, रोती हुई मैना भी तो नहीं रह सकती। अतः स्वाभाविक है कि स्त्रियों से पुरुष समाज की अपेक्षा हो कि यदि वे कोई बेहतर मार्ग न भी खोज पाएं तो मध्यम मार्ग पर चलें, अतिवाद से बचें तथा करूणा एवं ममत्व से ओत–प्रोत स्त्री को चाहिए कि वह प्राणीमात्र के

मंगल पर सोचे। सर्वमंगल में ही स्त्रियों का भी कल्याण निहित है।''[73] जहाँ अस्मितावादी विमर्श ने वस्तु/देह बनती स्त्री को व्यक्ति बनाया वहीं स्त्री 'विमर्शों' से बाहर निकल 'देह विमर्श' में तबदील हो गई। समस्त विमर्श उसे देह से मुक्त करने में लगा है। वास्तव में विचारकों के इस प्रयास से स्त्रियाँ और अधिक वस्तु/देह में परिवर्तित होती जा रही है। वह बाजार के भोग की वस्तु बन गई है जिसका देह मुक्ति के नाम स्त्रियों को आभास तक नहीं है। राजेन्द्र यादव के अनुसार–''सारे साहित्य में था तो स्त्री के रूप का, नख–शिख सौंदर्य का वर्णन है या वह पुरुष के विरह में कितनी संतप्त रही है इसका वर्णन है। वह पुरुष से स्वतंत्र नहीं है, पुरुष उसके उसके शरीर में ही कैद रखना चाहता है। यह शुरू से ही चला आ रहा है कि स्त्री को उसके शरीर में ही कैद रखा जाता है और वह स्वयं भी शरीर से बाहर नहीं आती। तो मैं ये मानता हूँ कि सबसे पहले मुक्ति शरीर के धरातल पर होती है। जब वह यह कहने लगती है कि ये शरीर मेरा है, मैं इसका जैसे–चाहे इस्तेमाल कर सकती हूँ, तभी से स्त्री–मुक्ति का दूसरा दौर शुरू होता है। लेकिन बात इतनी सीधी भी नहीं है, क्योंकि बाहर बाजार बैठा है। बाजार स्त्री की इस इच्छा को बढ़ावा देता है कि 'शरीर तुम्हारा है, तुम इसका जैसे चाहो इस्तेमाल करो'। जैसे चाहो इस्तेमाल करो' का मतलब है कि जैसे हम बताएं वैसे इस्तेमाल करो। बाजार स्त्री की छवि को गढ़ता है–वह उसे एक्ट्रेस बनाता है मॉडल बनाता है, बार गर्ल बनाता है और जैसे चाहे वैसे नचाता है।''[74] वेश्याओं, समलैंगिकता के प्रश्नों को उनकी देह मुक्ति अथवा स्वतंत्रता से जोड़ा रहा है। कई देशों में वेश्या व्यापार खुलेआम होता है। यहाँ तक वेश्या व्यापार एवं समलैंगिक संबंधों को कानूनी मंजूरी मिल गई है। 'देह विमर्श' के प्रतिरोध में विविध प्रतिक्रियाएँ आ रही है। भारतीय समाज इसे लेकर बहुत संवेदनशील है।

स्त्री जीवन संबंधी विमर्श की प्रमुख समस्या चंद बौद्धिक वर्ग में सिमट जाना है। यह विमर्श बौद्धिक वर्ग में शुरू होकर उसी में समाप्त हो जाता है। इसकी विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, पुस्तकों, पत्रिकाओं के बाहर पहुँच नहीं है। शहरी–ग्रामीण स्त्रियों को शायद ही स्त्री विमर्श के विषय में ज्ञात हो! मैनेजर पांडेय की चिंता है कि–''भारतीय समाज में स्त्रियों की सत्ता के प्रसंग में एक विडम्बना यह है कि यहाँ स्त्री मुक्ति की सारी चिन्ताएँ, सोच और कोशिशों के केन्द्र में प्रायः शहरों की पढ़ी लिखी नौकरी पेशे में लगी हुई या बौद्धिक काम करने वाली मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय स्त्रियाँ रही हैं। भारत में अभी स्त्री मुक्ति के किसी

आंदोलन में गांवों की घरेलू स्त्रियों या फिर खेतों, खलिहानों में काम करने वाली स्त्रियों और दलित स्त्रियों की स्वाधीनता की न तो बात होती है, न कोशिश होती है।''। बौद्धिक वर्ग में गोष्ठी–संगोठियों से समाज को कुछ भी लाभ पहुँचने वाला नहीं है। उन्हें शहरी–ग्रामीण स्त्रियों के बीच विमर्श करने पर विचार करना चाहिए। हो सकता है बौद्धिक वर्ग से अलग शहरी–ग्रामीण स्त्रियों का पहले–पहल सहयोग न मिले। इसके अलावा ग्रामीण–शहरी स्त्रियों में चेतना जागृत करने का कोई रास्ता नहीं दिखलाई पड़ता। तब जाकर स्त्री जीवन संबंधी बहस को संपूर्ण साकार अर्थ मिल सकेगा।

1.4 प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रकारिता में स्त्री

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है यह परिवर्तन धीरे–धीरे विकसित होता है। समाज विरोधी शक्तियाँ कितना ही पुरजोर विरोध कर लें, उन्हें सामने आने से कोई नहीं रोक सकता। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्त्री विरोधी ताकतों के नाम पर मिथ्यामयी पूर्वाग्रहों ने स्त्री व्यक्तित्व का नैतिकता और धार्मिकता की आड़ में खूब मज़ाक उड़ाया–"स्त्री की पराधीनता को दीर्घजीवी रखने में धार्मिक व्यवस्था और जाति प्रथा ने बड़ी भूमिका निभाई दोनों को चुनौती देने वाला कोई बड़ा व्यक्तित्व पूरे हिंदी नवजागरण के दौरे में नहीं हुआ कबीर ऊपर ही ऊपर से गुजर गए, दयानंद भी गढ़ तोड़ न सके और बाकी भी असहाय थे।"[76]

19वीं शताब्दी के मिथ्यामयी पूर्वाग्रहों को 20वीं शताब्दी की पत्रिकाओं ने तोड़ने का काम किया। मिथ्यामयी पूर्वाग्रहों को स्त्री को शिक्षित करके ही तोड़ा जा सकता था। वैसे भी स्त्रियों को लेकर पहले से ही बहुत भ्रांतियाँ फैली थी। उनको स्त्री की धार्मिक–नैतिक शिक्षा ने घटाने की अपेक्षा बढ़ाने का कार्य किया। ऐसी स्थिति में इन्हें स्त्री जागृति के आलोक में ही ध्वस्त किया जा सकता था।[77] लेकिन यह जागृति किसी मालिक पुरुष के प्रचार से न होकर 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वयं स्त्रियों के नेतृत्व वाली भूमिका से संभव हो पाई।

20वीं सदी में यूरोपीय स्त्री जागृति के अनुकरणीय व्यवहार से सुसभ्य समाज में स्त्री स्वतंत्रता की स्पष्ट गूँज दिखाई और सुनाई देने लगी थी। इससे सामंतवादी मूल्यों–आदर्शों को कोई हानि न हो, समाज में तरह–तरह के प्रयास किए जाने लगे। मसलन, स्त्रियों के लिए गृहशिक्षा का प्रबंध, नैतिकता और आदर्श का पाठ पढ़ाना, स्त्रियों के कर्तव्यों और

दायित्वों का निर्धारण करना, आदि। इनसे भी न हो सका तो स्त्रियों द्वारा की जाने वाली क्रांति से बचने के लिए बचे–कुचे 'अधिकार' और 'स्वतंत्रता' यह समझकर देने की बात कही कि–"जब किसी को कोई वस्तु दी जाती है जो उसे कभी भयन्कर न थी तो वह उसका इस्तेमाल जैसा चाहता है करता है–कभी स्वप्न में भी हमारे यहाँ की महिला जन स्वतंत्र नहीं रही परकटे पखेरू सी हमेशा पिंजड़े में बन्द रखी गई अब जो इनके पर जमैगा तो मरदों के लिए पूरी मौत का सामान होगा–पति की ओर से निर्भय होनाः सास ननद पर रोष जमाना; भला जो जवान पर आवे बेखटके विकास डालना; किसी की बात न मानना बरन उल्टा उसमें मीन मेख निकालना यही सब इनके स्वतंत्र होने का फल होगा।"[78]

स्वतंत्रता व्यक्ति की निजी पहचान है। स्त्री के परिप्रेक्ष्य में यह स्वतंत्रता अर्थहीन हो जाती है क्योंकि स्त्री सामाजिक प्राणी की गिनती में नहीं आती है। उसके पास निजी कहलाने का कुछ नहीं होता यहाँ तक कि उसका शरीर भी नहीं। उसकी पहचान सामाजिक–राष्ट्रीय पहचान है। पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से स्त्री केवल उत्पाद[79] है–सुशिक्षित, साहसी, उत्साही संतान की उत्पाद। उत्पाद का प्रमुख कार्य उत्पादित की गई वस्तुओं को समर्पित करना होता है। स्त्रियाँ को भी अपने निज उत्पादित गुणों से अपना संपूर्ण जीवन समर्पित करना होता है। कहीं कुशल गृहिणी के रूप में, कहीं सुशिक्षित माता के रूप में, कहीं पतिव्रता पत्नी के रूप में, कहीं आज्ञाकारी पुत्री के रूप में। ऐसी स्त्रियों के चरित्र निर्माण करने में महावीरप्रसाद द्विवेदी सशक्त उदाहरण है। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय और विदेशी स्त्रियों के जीवन चरित्रों को लेकर बहुत से लेख लिखें। भारतीय स्त्रियों के जीवन चरित्र में–झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, ताराबाई, सौभाग्वती रखमाबाई, कुमारी कारनेलिया सोहराबाला, रानी दुर्गावती, श्रीमती निर्म्मलाबाला सोम एम. ए., कुमारी गोदावरी आदि। रानी लक्ष्मीबाई, ताराबाई, रानी दुर्गावती का अपने साम्राज्य को स्वतंत्र रखने के प्रयासापरांत प्राण न्यौछावर करना महावीरप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में वीरता का कार्य है। चूँकि ताराबाई ने अपने पति के वियोग में चिता दाह किया था इस पर उनका संदेश यही था कि वीर बनो, परंतु पति के समर्पित रहो जन्म के साथ भी और मृत्यु के बाद भी–"जिस ताराबाई ने बड़े–बड़े वीरों का सामना किया और जो बाणों और भालों की चोट से भी नहीं डरी, वह अपने प्यारे पति के वियोग से कातर हो उठी और जल मरी। इस देश की स्त्रियों को पति से अधिक और कोई वस्तु प्रिय नहीं और पति के वियोग से बढ़कर और कोई दुःख

नहीं। पति ही उनका सर्वस्व है।"[80] सौभाग्यवती रखमाबाई, श्रीमती निर्म्मलाबाला सोम एन. ए. शिक्षित होते हुए भी अंग्रेजी का भलीभांति ज्ञान होते हुए भी क्या है? एक आदर्शवादी वर्ग है जिनकी चाल–ढाल सीधी सादी है। सीना पिरोना, भोजन–बनाना, बच्चों आदि के पालन–पोषण में प्रवीण है। भारतीय स्त्रियों के साथ–साथ कु. एफ. पी. कॉब, ऐनी कैथराइन बॉयड, लेडी जैन ग्रे भी इन कामों में सिद्धहस्त है। कु. एफ. पी कॉब के अनुसार घर को घर बनाना एक स्त्री का काम है। ऐनी कैथराइन बॉयड लड़कों को अंग्रेजी पढ़ाने में प्रतिदिन सहायता और उत्साहित करती है और लेडी जेन ग्रे गाना, बजाना, कशीदा जरी के काम में निपुण थी।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में स्त्री–शिक्षा एक सामाजिक अनिवार्य आवश्यकता होते हुए भी, वह स्त्री–शिक्षा की अपेक्षा घरेलू कामकाज और घरेलू प्रबंध को प्राथमिकता देते हैं।[80] आदर्शवाद और पति परायणता की ऐसी पट्टी की पति से पहले बी.ए. की परीक्षा देना श्रीमती निर्म्मलाबाला उचित नहीं समझती। कुमारी गोदावरी बाई के पिता संस्कृत के काव्यों से उसका परिचय उनकी सैर करने में विशेष हानि न होने के निश्चय में ही कराते हैं। भारतवर्ष के तारे का अस्त होना युधिष्ठिर, विक्रम और भोज के सापेक्ष राजा शंकर, जैमिनी और भास्कर के समान विद्वान और कालिदास, भवभूति और श्री हर्ष के समान कवियों का देश में उत्पन्न न होने का काल कौशल्या, सीता, द्रौपदी, गार्गी, मैत्रेयी, लीलावती आदि स्त्रियों का अभाव है जो ऐसे महात्माओं को सत्य के मार्ग पर चलाने, देश–प्रेम और देशीय भाषा के लगाव के लिए प्रेरित करें। अर्थात सत्यवादी एवं देशप्रेमी महात्माओं को उत्पन्न करने के लिए स्त्रियों को शिक्षित करो यह आचार्य द्विवेदी का आशय है। राजकुमारी हिमांगिनी' का प्रेमविह्वल होकर स्वयं को अनाथ, निराश्रय मानना एक स्त्री की ही नियति है जिसे प्रेमपात्र बनने के लिए अभिमान, कठोरता का त्याग करना होना–"हे मनोहारी युवक, तुम चाहे जो हो, तुमने धैर्य का सर्वथा नाश कर दिया। मुझे यहाँ रहते अनेक युग हो गये। अब तक मैं यही एकान्त में चुपचाप अपनी आयु क्षीण करती रही। मैं आज तक यह न जान सकी कि किस तरह अपनी उम्र आराम से काटूँ। आज तुम्हारे सुन्दर मुख–कमल की ओर एक ही बार निहारने को मैंने यह चीज पा ली जिसकी खोज मुझे हजारों वर्ष से थी....मैं एक अनाथ, निराश्रय, निराश चिरकुमारिका हूँ। मेरा जीवन आज तक बिल्कुल ही नीरस, निष्फल और कड़वा रहा। अब आप उसे सरस, सफल और मधुर कर देने की कृपा कीजिए।

आजतक तुमने अपना जीवन उदासीनता और एकान्तवास में बुरी तरह काटा...धमण्ड में आकर तुमने एकान्तवास पसन्द किया। दुनिया की नाट्यशाला में होने वाले हजारों तरह के प्रेम–पूर्ण अभिनयों से दूर भागकर यहाँ इस पहाड़ की चोटी पर, सबसे अलग रहने के इरादे से, तुम आ बैठी। क्या तुम नहीं जानती कि पहाड़ों पर प्रेम रूपी वृक्ष के मधुर फल चखने को नहीं मिलते? प्रेम में उष्णता है, तुममें शीतलता। प्रेम प्रवाही है–वह सहकर अपने पात्र तक पहुँचता है, तुम जड़ हो, हजार प्रयत्न करने पर भी तुम अपनी जगह नहीं छोड़ती। फिर तुम्हीं कहो, इस दशा में, किसी एक की प्रेमपात्र हो सकती हो?

अगर तुम मेरी वधु होना चाहती हो; मेरे प्रेम की प्रियतम पात्र बनना चाहती हो; तो तुम मेरे समान हो जाओ। जरा उष्णता प्राप्त करो, कड़ेपन को छोड़ो, प्रवाही बन जाओ, इन सुनसान पहाड़ी से नीचे उतरकर बस्ती में चलो।"[82]

स्त्री अधीन हो परंतु स्वतंत्र न हो। वह शिक्षित हो लेकिन पश्चिमी सभ्यता के अनुसार न होकर भारतीय सभ्यता के अनुसार हो। यदि स्त्री को पश्चिमी सभ्यता से शिक्षित भी किया जाए तो वह शील, गुण, सदाचार, मर्यादा का ध्यान रखे। महावीरप्रसाद द्विवेदी के साथ साथ बालकृष्ण भट्ट भी स्त्रियों के प्रति कुछ–कुछ यही विचार रखते हैं। तब उनके विषय में यही कहना पड़ता है कि इनकी स्त्री–शिक्षा का पक्ष लेना भारतीय स्त्रियों को मूर्ख/अज्ञान गुलाम से, शिक्षित गुलाम बनाने की प्रक्रिया में सामाजिक संरचना के निर्माण का अंश था। भवदेव पाण्डेय महावीरप्रसाद द्विवेदी के विषय में लिखते हैं–''जापानी स्त्रियों के बहाने भारतीय स्त्रियों पर मनु–महादेश (अ. 5, श्लोक 48) का शिकंजा कसने का दृष्टिकोण हिंदी के प्रथम साहित्यचार्य संपादकाचर्य पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी का रहा, जिन्होंने भारतेंदु हरिश्चन्द्र से हिंदी नवजागरण की मशाल लेकर साहित्य सेवा और समाजोत्थान के लिए कमर कसी थी, ऐसा नहीं था कि आ. द्विवेदी नवजागरण में नारियों को शिक्षा और स्वतंत्रता के महत्त्व से अनभिज्ञ थे, परंतु इस युगीन सवाल को भी वे आचार्यत्व के फार्मूले से ही हल करना चाहते रहे।"[83]

धर्म, संस्कृति, परंपराओं को ध्यान में रखते हुए प्राचीन मूल्यों और आदर्शों के स्थान पर नवीन सामाजिक संरचना में ऐसे नवीन मूल्य और आदर्श रखना जो देखने में प्रायः नवीन थे लेकिन अगुवाई प्राचीन धर्म, संस्कृति और परंपराओं की करते, का पूर्ण बहिष्कार आसान नहीं था। विशेष कर स्त्रियों के लिए जिनका इतनी सदियों से शोषण होता रहा हो, जो एक

गुलाम की भांति जीवन यापन के लिए अभ्यस्त हो या उनका जीवन गुलामी में अभिशप्त हो, उनके लिए यह मानसिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक आघात था। इसलिए उनके लिए अपने जीवन संबंधित नवीन विचारों को स्वीकारना मुश्किल नहीं था तो आसान भी नहीं था। यही कारण है कि अधिकतर स्त्रियों का विशेष आग्रह स्त्री–शिक्षा में घरेलू प्रबंध पर था–"नई सभ्यता के अनुसार पढ़ना ही स्त्रियाँ का कर्तव्य नहीं वरन् गृहस्थी के कामों में चतुराई घर और वस्त्र आदि की सफाई भांत–भांत के व्यंजन तैयार करने में निपुणाई भी इनका उचित कर्तव्य है।"[84]

सबसे महत्त्वपूर्ण कि समाज के बदले हुए परिवेश में यह सभी को आभास था कि स्त्रियों का जीवन किन–किन समस्याओं से ग्रसित हो रहा है और उसके लिए प्रयासरत भी हुए। परंतु, स्त्रियों की पराधीनता के आभास ने स्त्रियों को 'स्वतंत्रता' एवं 'अधिकार' माँगने के लिए विवश किया। वे उसे अपने देश और संस्कृति से ही जोड़कर देखती है–"हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हम लोगों को ऐसी आजादी दी जाए जैसी कि आज कल सभ्य समाज कहलाने वालों की लेड़ियों को मिली हुई है। नहीं, कदापि नहीं। हमारा अभिप्राय केवल यह है कि हम लोगों को वैसी ही स्वतंत्रता मिलनी चाहिए जैसी कि प्रताप के समय में क्षत्राणियों को तथा पूर्व समय में ऋषि पत्नियों तथा राज–पत्नियों या राजकुमारियों को मिलती थी जो कि अपने कर्तव्य का पालन भलीभांति करती थीं। अपने देश तथा राज्य की रक्षा करती थीं, अपने अतिथियों का भले प्रकार सत्कार करती थीं, अपने पतिव्रत के प्रभाव को जानती थीं, पति को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाती थी, अपने पति और पुत्रों को उत्साह दिलाती थीं, बड़े–बड़े शास्त्रों को शास्त्रार्थ में हराती थी, राज्य के कामों में योग देती थी, युद्ध में शत्रुओं को पराजित करती थीं, अपनी संतान को सुसंतान बनाती थी।"[85]

विदेशी स्त्रियों की भाँति भारतीय स्त्रियों के लिए जीवन यापन धर्म पालन के विरुद्ध था जिसकी स्त्रियाँ कल्पना भी नहीं कर सकती थी। इससे समाज में यह परिवर्तन आया कि स्त्रियों द्वारा 'स्वतंत्रता' और 'अधिकारों' को स्वीकारा जाने लगा। स्त्रियों को पराधीनता से मुक्त कराने के लिए प्राथमिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा की अपेक्षा उच्च शिक्षा को भी बढ़ावा दिया जाने लगा लेकिन स्त्रियोचित धार्मिक कर्तव्यों और आदर्शों के मद्देनजर–"यह परमावश्यक है कि लड़कों की भांति लड़कियों के लिए हाई स्कूल, कॉलेज और यूनिवर्सिटियाँ खोली जाएँ। हाँ, यह आवश्यक है कि स्त्रियों को गृह–प्रबंध शास्त्र की भी शिक्षा दी जाए जो

लोग समझते हैं कि उच्च शिक्षा में पति–पत्नी–प्रेम नाश हो जाएगा वे देखें कि यूरोप में भारत की अपेक्षा कहीं अधिक स्नेह है। गत वर्ष बहुत सी स्त्रियों ने लाख प्रार्थना किये जाने पर भी प्राण बचाने की अपेक्षा अपने पतियों के साथ 'टाइटेनिक' जहाज पर बैठे हुए रसातल चला जाना ही ठीक समझा।"[86] स्त्री को धार्मिकता और नैतिकता के ऊपर शिक्षित करने के आग्रह में महत्त्वाकांक्षी राष्ट्र के समक्ष 'स्त्री' के दो रूपक थे प्रथम सीता और द्वितीय गार्गी एवं मैत्रेयी। यह बार–बार सीता–सावित्री अहिल्या को साक्ष्य रूप में प्रकट करता रहा। 'क्या स्त्री पुरुष के समान? लेख में श्रीयुत श्रीहरिसुरूप शर्मा, शास्त्री विद्याषण के शब्दों में–"हम कभी नहीं कहते कि स्त्रियों को शिक्षिता मत बनाओ, उनकी ज्ञानचक्षुओं मत खोलो क्योंकि विद्या और ज्ञान की अधिष्ठात्री वीणा–पाणि माता सरस्वती भी स्त्री के ही बाने में हैं–किन्तु उनको ऐसी शिक्षा से सदा वंचित रखा जाए जिसके बुरे परिणाम से सीता और सावित्री के पवित्र आदर्श को वे भुला बैठे। यदि हम से पूछा जाए तो हम यही कहेंगे–चाहे कोई बुरा ही क्यों न माने–कि गार्गी और मैत्रेयी बनने की अपेक्षा सीता और सावित्री, दमयन्ती और पद्मिनी बनना ही आर्यललनाओं का परमकर्तव्य है।"[87] कहीं न कहीं स्त्रियों और अछूत जातियों को शिक्षित कराने के पीछे यही धारणा थी कि–"शिक्षा का उद्देश्य सरकारी नौकरी नहीं है। इसका उद्देश्य अपने अंतःकरण (कानशस्त्र) और समाज की सेवा है।"[88]

साहित्यिक लेखकों और मानव जातियों के लिए गार्गी और मैत्रेयी कोई नया नाम नहीं है जिनसे इतना भयभीत हुआ जाए। यह प्राचीन प्रसिद्ध आत्मचेतस युगीन स्त्रियों के नाम है। गार्गी और मैत्रेयी का साक्ष्य न देकर भी भारतीय स्त्रियों को प्रेरणात्मक रूप में अप्रत्यक्ष साक्ष्य मिलना परिस्थिति का परिणाम है। परिस्थितियाँ किसी की वशवर्तिनी नहीं होती और न साधन किसी के अधीन रहते हैं। वे किसी न किसी प्रकार अपने लक्ष्य तक पहुँच ही जाते हैं। भले ही स्त्रियों को कुशल गृहिणी बनाने के लिए सामंतवादी शिक्षा पर बल दिया गया हो लेकिन स्त्रियों के स्वतंत्र अस्तित्व की कमी खलने को स्त्री संबंधी समस्याओं को सही अर्थों में नवीन परिदृश्य और नीवन परिवेश मिला। 'स्त्रीदर्पण' फरवरी 1917 के अंक में श्रीमती सत्य देवी और लक्ष्मी देवी के शब्द हैं–"हमारा स्पष्ट कथन है कि यदि आप सब लोग देश की सच्ची उन्नति करना चाहते हैं तो स्त्रियों को 'होम रूल' पहिले दीजिए। 'होम' कहते हैं घर को और 'रूल' कहते हैं शासन को, घर पर स्त्रियों का पूरा–पूरा शासन होना चाहिए। अपने पति से लेकर और नौकर पर्यन्त, सब पर स्त्रियों का शासन रहना चाहिए। पति को

चाहिए कि बिना पत्नी की सम्मति के कोई भी गार्हस्थ्य या सार्वजनिक कार्य न करे, पत्नी को साथ लेकर चले। 'परोपकार' का प्रारंभ घर से होता है, इस कथन को चरितार्थ करने का समय यही है। स्त्रियों को होम रूल देने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य जाति का जन्म सिद्ध अधिकार जो 'स्वतंत्रता' है वह स्वतंत्रता परिमिति के अन्दर स्वतंत्रता, उनको भी देनी चाहिए।"[89]

स्त्रियों से जुड़े प्रश्न नैतिक और धार्मिक पक्ष के बचाव में समझौतेवादी नजरिए से हल किए जाने का प्रयास किया जा रहा था। ऐसी परंपरा को तोड़ने का कार्य स्त्रियों द्वारा 'होम रूल' माँग की नीति ने किया। यह स्त्रियों के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि न सही पर एक शुरूआत थी जिसने स्त्रियों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत ही नहीं कराया बल्कि उन्हें अपने अधिकार समाज के सत्ताधारियों से माँगने और सत्ताधारियों का विरोध करने की हिम्मत दी–"हम जन्म पर कुंवारी रहना स्वीकार करेंगी परन्तु 'मृतस्त्रीक' पति को कदापि न करेंगी। इस नयी कुप्रर्था के रोके जाने के लिए हम भरसक प्रयत्न करेंगी और अपने सुख दुख का विचार करते हुए कदापि हम इस निन्दनीय प्रस्ताव को स्वीकार न करेंगी।"[90]

20वीं शताब्दी दूसरे दशक के अंतिम वर्षों में स्त्रियों ने अपने जीवन की समस्याओं को आत्मसात कर यथा स्थिति पर क्षोभ प्रकट करने की अपेक्षा सामाजिक असमानता के विरोध में उत्तर–प्रत्युत्तर करती है। श्रीमती उमा नेहरू का स्त्रियों के 'अधिकरों' और 'स्वतंत्रता' की माँग के विरोध में उठने वाले प्रश्नों के उत्तर दृष्टव्य है–"कौंसिलों के सभासदों के वास्तविक चुनाव का अनुभव तो भारतीय पुरुषों को भी नहीं है, यदि यह ज्ञान उन्हें म्यूनिसिपेलिटी के चुनावों के द्वारा प्राप्त हुआ तो म्यूनिसिपेलिटी के चुनावों में भाग लेने का अधिकार कम से कम हमारे प्रान्त में तो स्त्रियों को भी है। ऐसी दशा में यदि पुरुष इन अधिकारों को बरतने के योग्य हैं तो स्त्रियाँ भी अवश्य उन्हें सफलतापूर्वक बरत सकती हैं। रहा अशिक्षित होने का प्रश्न, सो संसार के किसी देश में कौंसिलों के सभासद बनने या चुनने का अधिकार लोगों के शिक्षित अथवा अशिक्षित होने पर कभी निर्भर नहीं किया जाता। हम पूछती है कि क्या आगामी सुधारों में भारत के केवल उन्हीं सपूतों को यह अधिकार दिया जावेगा जो शिक्षित होंगे। यदि नहीं तो भारतीय स्त्रियों के लिए ही यह प्रश्न क्यों उठाया जाता है।"[91]

शिक्षा व्यक्ति का मूल अधिकार है। यह व्यक्ति में समानता का भाव पैदा करती है। जब स्त्रियों को यह अधिकार प्राप्त ही नहीं हुआ समानता के भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में स्त्री–शिक्षा की जो बात हो रही थी उसमें समानता का भाव न के बराबर था। स्त्रियों ने इसी अबराबरी वाले सिद्धांत को 20वीं सदी के दूसरे दशक के अंतिम वर्षों में ठुकराया। उन्हें स्त्रियोचित गरिमामयी उपाधि नहीं, वह अधिकार चाहिए जिसमें पुरुषों के समानांतर दर्जा दिया जा सके–''देखना यह है कि एक थी विधा होते हुए बराबर दोनों का अधिकार है या नहीं? हमको अब झूठी खातिर तवाजों की जरूरत नहीं, वह तो अब भी काफी है। हमको अब अपना अधिकार चाहिए और वह यह है कि हर बातों में पुरुष की बराबरी सब बातें बराबर होते हुए दर्जा भी बराबर है।"[92]

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री संबंधी पारंपरिक आग्रह है दूसरी ओर उन्हीं के विरुद्ध विरोध है। हालांकि पारंपरिक मान्यताओं का आग्रह, पारंपरिक मान्यताओं के विरोध के समक्ष तुच्छ प्रतीत होता है लेकिन स्त्री विमर्श की दृष्टि से यह विरोध अपने समय की सबसे बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है।

संदर्भ सूची

1. ''स्त्यैशब्द संघातयोः'' धा. पा., 1/935
2. स्त्रियः स्त्यायतेः अपत्रपणकर्मणः। निरूक्त, 1/21/2
3. स्त्यायति अस्यां गर्भ इति स्त्री।
4. स्त्रियः एव एताः शब्दस्पर्शरूपरसगंधहारिण्यः। निरूक्त, अ. 14, ख. 20
5. लेविस हेनरी मार्गन, अनुवाद और संपादनः नरेश 'नदीम', प्राचीन समाज, पृ. सं. 69
6. फ्रेडरिख़ एंगेल्स, अनुवाद और संपादनः नरेश 'नदीम', परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृ. सं. 30
7. डॉ. अमरनाथ, नारी का मुक्ति संघर्ष, पृ. सं. 38

   ''मध्यम अवस्थाः यह अवस्था उस समय से आरम्भ होती है जब मनुष्य मछली का (जिसमें हम केकड़े, घोंघे और दूसर जल–जन्तुओं को भी शामिल करते हैं) अपने भोजन के रूप में उपयोग करने लगा था और आग का इस्तेमाल करना सीख गया था। ये दोनों बातें एक–दूसरे की पूरक हैं। इसलिए कि मछली का आहार पूरी तरह केवल आग के इस्तेमाल से ही उपलब्ध हो सकता है।''
8. फ्रेडरिख़ एंगेल्स, अनुवाद और संपादनः नरेश 'नदीम', परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृ. सं. 170
9. वही, पृ. 49
10. के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा, पृ. सं. 30
11. फ्रेडरिख़ एंगेल्स, (अनु. और सं.) नरेश 'नदीम', परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृ. सं. 62
12. अमरनाथ, नारी मुक्ति का संघर्ष, पृ. 49
13. ऋ. 1/179/1
14. डॉ गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता; एक विमर्श, पृ. 25–26
15. ऋग्वेद 10/85/36
16. अनामिका, मन मांझने को जरूरत, पृ. 13
17. डॉ. अमरनाथ, नारी मुक्ति का संघर्ष, पृ. 59
18. वही, पृ. 61
19. डॉ गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता; एक विमर्श, पृ. 28
20. पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री, मनुस्मृति, पृ. 52
21. डॉ गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता; एक विमर्श, पृ. 28
22. अमरनाथ, नारी मुक्ति का संघर्ष, पृ. 76
23. वही, पृ. 79
24. वही, पृ. 79
25. पार–1, सूरत–4, आयत–3

26. नासिरा शर्मा, औरत के लिए औरत, पृ. 205
27. डॉ गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानता; एक विमर्श, पृ. 33–34
28. वही, पृ. 35
29. वही, पृ. 34
30. निवेदिता मेनन, नारीवादी राजनीति; संघर्ष एवं मुद्दे, पृ. 59–60
31. वही, पृ. 64–65
32. फ्रेडरिख़ एंगेल्स, परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति, पृ. 173
33. अमरनाथ, नारी मुक्ति का संघर्ष, पृ. 185
34. निवेदिता मेनन, नारीवादी राजनीति; संघर्ष एवं मुद्दे,, पृ. 27
35. डॉ. के. एम. मालती, स्त्री विमर्शः भारतीय विमर्श, पृ. 10
36. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आंदोलन और भक्ति–काव्य, पृ. 274
37. पंडिता रमाबाई, हिंदू स्त्री का जीवन, (अनु.) शंभू जोशी, पृ. 14
38. वही, पृ. 14
39. एक अज्ञात हिन्दू महिला, सीमंतनी उपदेश, (स.) डॉ. धर्मवीर, पृ. 77–78
40. तदभव, (सं.) अखिलेश, पृ. 377
41. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृ. 112
42. आलोचना, (सं.) नामवर सिंह, अक्टू.–दिस. 2004, पृ. 176
43. डॉ. बंसीधर, डॉ. राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी का सृजनात्मक साहित्य, पृ. 101
44. मन्नू भंडारी प्रतिनिधि कहानियाँ, प्र. सं. 1984, पृ. अंतरंग आत्मीयता की कहानियाँ
45. मंजुल भगत, समग्र कथा–साहित्य, (सं.) कमल किशोर गोयनका, पृ. 5
46. मृदुला गर्ग, चित्तकोबरा, पृ. भूमिका
47. डॉ. रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य–साहित्य, पृ. 265
48. वही, पृ. 274
49. मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास, पृ. 11
50. नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, (सं.) डॉ. हरदयाल, संस्करण 2013
51. बालाबोधिनी, जनवरी 1875, पृ. 7
52. बालाबोधिनी, वसुधा डालमिया : संजीव कुमार, राजकमल प्रकाशन, सं. 2014
53. बालाबोधिनी, जनवरी 1874, पृ. 3
54. वही
55. वीरभारत तलवार, रस्साकशी, पृ. 35
56. बालाबोधिनी, मार्च 1876, पृ. 18

57. बालाबोधिनी, जनवरी 1846, पृ. 3

58. संपादक, सत्यप्रकाश मिश्र, बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, पृ. 35

59. स्त्रीदर्पण, पृ. 73

60. स्त्री विमर्श का कामजयी इतिहास, (सं.) डॉ. संजय गर्ग, पृ. 64

61. वही, पृ. 67

62. वही, पृ. 88

63. वही, पृ. 94

64. वही, पृ. 183

65. कल्पना, (सं.) डॉ. आर्येन्द्र शर्मा, अक्टूबर 1953, पृ. 812

''कुंती और माद्री ने अपने पाकृत पति पाण्डु के रहते सूर्य, धर्म, वायु, अश्विनीकुमार आदि से पुत्र जने थे और पहले शान्तनु की पुत्र वधुओं ने भी। निश्चय ये उदाहरण नियोग के हैं, परंतु नियोग–द्वारा चाहे जितने कम समय के लिए पुरुष पत्याचरण करता हो, स्थान उसका पति का ही है। फिर पाँच पाण्डवों का एक द्रोपदी से विवाह उसी को पुष्ट करता है। महाभारत में इसे सामान्य बनाने का काफ़ी प्रयत्न हुआ हे परंतु उससे समाधान हो नहीं पाता; विशेष कर जब हम पाण्डु के हिमालयवास को देखते हैं जहाँ (तिब्बत में) सदा से बहुपति–विवाह की प्रथा प्रचलित रही है, जिसका उल्लेख वात्स्यायन ने अपने 'गोयूथिकम्' सूत्र में किया है, और जो आज भी अनेकांश में वहाँ क़ायम है। हाँ यह मानने में कोई हठधर्मी नहीं होनी चाहिए कि बहुपति प्रथा की ओर सम्भवतः ऋग्वेद का संकेत समसामयिक समाज के प्रति न होकर अति प्राचीन के प्रति है, यद्यपि उससे स्थिति में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता।''

आधुनिक हिंदी एकांकियों में यौन (Sex) भावना का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हो रहा है। काम–भाव की जटिल गुत्थियों का विश्लेषण करते हुए, हिंदी एकांकीकारों ने महत्त्वपूर्ण एकांकी नाटकों का निर्माण किया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अध्ययन की पृष्ठभूमि पर इनमें स्त्री–पुरुष के निगूढ़तम रहस्यों का उद्‌घाटन हुआ है। आधुनिक सभ्यता का आवरण पहने हुए, आजकल के पढ़े–लिखे समाज की, यौन दमन के कारण, क्या मनः स्थिति हो रही है, इसका सुंदर अध्ययन इन नाटकों में उपलब्ध है।''

कल्पना, (सं.) डॉ. आर्येन्द्र शर्मा, अक्टूबर 1953, पृ. 931

''इन एकांकीकारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रमुख हैं। आपने 'नारी का रंग', 'एक दिन', 'विषपान' आदि एकांकियों में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यौन भावना का अध्ययन प्रस्तुत किया है। मिश्र जी ने मनोविज्ञान का प्रयोग पाश्चात्य अनुकरण पर न कर, भास और कालिदास की परंपरा में किया है...मिश्र जी की दो समस्याएँ–प्रेम और नारित्व, बर्नाड शो से विशेष प्रभावित प्रतीत होती हैं। इनके एकांकियों में प्रेम, विवाह वैषम्य, पौरुष की व्याख्या, नारी का प्रेम–जीवन, अमर्यादित काम–वासना, काम की दलित अनुभूतियाँ (Sex-competition), काल्पनिक व्यभिचार, घनीकरण, मानसिक भावना–ग्रंथियों की जटिलता, अचेतन और अवचेतन में दूषित वासनाओं का निवास तथा उसकी प्रतिक्रिया इत्यादि का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है।''

कल्पना, (सं.) डॉ. आर्येन्द्र शर्मा, नवंबर 1957, पृ. 19–20

''असल में मध्यवर्ग को समझने के लिए शहरी परिवार को समझना पड़ेगा। अर्थ–संचालिका न होकर, उस सारे परिवार को अपने जर्जर कंधों पर उठाये रखने वाली नारी ही है। लेकिन नारी वह कहीं भी नहीं है–उसके केवल दो ही रूप सामने है; या तो वह पैर की जूती है या वेश्या। अर्थात जब वह पैर की जूत बनने से इंकार कर देती है तो समाज उसे वेश्या बनने को मजबूद कर देता है–इस तरह परिवार से तोड़ कर फेंकी गयी नारी ही वेश्या है। यहाँ तक तो नारी की स्थिति, या कहिए मध्य–वर्गीय–परिवार को प्रेमचंद बहुत अच्छी तरह समझते हैं। लेकिन चाहे वह 'सेवासदन' हो, 'निर्मला' हो, 'गबन', उनका आग्रह यही है कि बाल–विवाह, दहेज इत्यादि कुरीतियों, कुसंस्कारों और रूढ़ियों को हटा कर नारी की पैर की जूत नहीं, परिवार की रानी बनने का अवसर दिया जाए, ताकि उसे वेश्या न बनना पड़े। प्रेमचंद का नारी–संबंधी दृष्टिकोण अपने संपूर्ण रूप में उनकी कहानी 'बड़े घर की बेटी' में देखा जा सकता है कि किस तरह एक समझदार लड़की टूटते हुए परिवार को बना कर खुद अपना सम्मान बढ़ा लेती है। वे स्त्री की अधिक शिक्षा या उसके अपने पाँवों पर खड़े होने के बहुत अधिक पक्षपाती हैं, ऐसा नहीं लगता। पुरुषों में घुलने–मिलने वाली 'गोदान' की मालती को उनका समर्थन प्राप्त नहीं है। बिखरते और टूटते हुए संयुक्त–परिवार को ठीक उन्हीं पुरानी परंपराओं के अनुरूप पुनगर्ठित करने का मोह प्रेमचंद और शरत् में बिलकुल एक–सा है। 'शंखनाद', बड़े घर की बेटी' और बिंदो का लल्ला' की थीम पर शरत् की एकाधिक रचनाएँ इस बात के समर्थन में प्रस्तुत की जा सकती है। शिक्षा पाने या नौकरी करने के लिए मानसिक या भौतिक रूप से बाहरी दुनियाँ में आये युवक लिए संयुक्त–परिवार में सास–ससुर की सेवा करने वाली शीलवती बहू या घर की रोटी–कपड़े पर पलने वाली नौकरानी की अपेक्षा अपने लिए सहधर्मिणी और सह–गामिनी की आवश्यकता अधिक है–इस सत्य को शरत् ने अपनी सारी रूढ़िवादिता के बावजूद प्रेमचंद की अपेक्षा अधिक हमदर्दी से सोचा जरुर है, लेकिन पुराना परिवारिक ढाँचा टूट ही जाए, यह उन्हें भी सह्य नहीं है।''

66. जगदीश्वर चतुर्वेदी, स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृ. 188
67. ज्ञानोदय, (सं.) लक्ष्मीचन्द्र जैनः शरद देवड़ा, अप्रैल 1962, पृ. 185
68. वही, अगस्त 1962, पृ. 86
69. वही, अप्रैल 1962, पृ. 169
70. वही,मई 1966, पृ. 8
71. आजकल, (सं.) केशवगोपाल निगम, फरवरी 1975, पृ. 26
72. वही, जुलाई 1975, पृ. 6
73. हंस, (सं.) राजेन्द्र यादव, दिसंबर 1996, पृ. 31
74. स्त्रीकाल, (सं.) संजीव चंदन, अप्रैल 2010, पृ. 118
75. वही, पृ. 119
76. शंभुनाथ, हिंदी नवजागरण और संस्कृति, पृ. 104
77. वीरभारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियाँ, पृ. 124
78. हिन्दी प्रदीप, जुलाई–अगस्त 1900, पृ. 22–23

79. वही, जन. फर., मार्च–अप्रैल 1904 पृ. 32

80. स्त्रियों का सामाजिक जीवन एवं निबंध, (सं.) ओमलता पृ. 18

''जिस समय पुरुष हम अनेक विपत्तियाँ आ पड़ती है और धीरज कूट निराश हो जाता है उस समय साहस धीरज चित्त की उदारता आदि स्त्रियों के अनेक स्वाभाविक गुण एकाएक विकसित हो जाते हैं और प्राण सभा वल्लभ पति को सभ्रांत सहारा दे दुःख सागर की लहरों को टक्कर देने के लिए अटल रहती है।''

81. वही, पृ. 19

82. वही

''रखमा बाई ने कृष्णा जी से अंग्रेजी पढ़ना आरंभ किया, और थोड़े ही दिनों में वे यह भाषा बहुत कुछ जान गई। यह सब उन्होंने, घर का काम करके जो समय मिलता था उसी में सीखा।''

83. हंस, (सं.) राजेन्द्र यादव, जून 1997, पृ. 42

84. हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1907, पृ. 8

85. सरस्वती, फरवरी 1910, पृ. 279

86. मर्यादा, मई 1913, पृ. 55

87. वही, पृ. 92

88. प्रभा, जनवरी 1916, पृ. 587

89. स्त्रीदर्पण, फरवरी 1917, पृ. 75

90. वही, पृ. 75

91. मर्यादा, जनवरी 1919, पृ. 72

92. स्त्रीदर्पण, जुलाई 1919, पृ. 45

पत्रकारिता अभिव्यक्ति के सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यमों में एक माध्यम है। इसमें अपनी अभिव्यक्ति को जितनी सहजता और प्रभावी ढंग से संप्रेक्षित करने की क्षमता होती है, शायद उतनी किसी और माध्यम के पास हो! साहित्य को समाज का दर्पण मानने वाले समाज में कतिपय संकोच नहीं होना चाहिए कि पत्रकारिता भी समाज का दर्पण है। समाज और पत्रकारिता का संबंध सर्वोपरि और अन्योन्याश्रित है। समाज और पत्रकारिता को अलगाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। ऐसी अभी तक कोई भी कला विकसित नहीं हो पाई है जिसमें समाज अभिव्यक्त न हो। समाज किसी भी माध्यम से अपनी घुसपैठ कर ही बैठता है। हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता इसका सशक्त उदाहरण है। इसमें भारतीय समाज अपने समय के बदलावों के साथ आरंभ से लेकर अंत तक बदलता रहा है। यह 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में किन स्वरों और प्रश्नों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है; यह हिन्दी पत्रिकाओं के आलोक में विचारणीय है।

2.1 प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्वर

1857 की असफल क्रांति के बाद ब्रिटिश शासन की पुनः स्थापना से देश में नई सभ्यता का विकास होने लगा। नवीन सभ्यता के संपर्क से प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में सामाजिक प्रतिक्रियात्मक रूप में विविध स्वरों का उद्‌भुत होना है। एक सजग प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए प्रतिक्रिया अनिवार्य होती है। इसे सामाजिक आवश्यकता से उभरी माँग एवं सामाजिक विकास के लिए की जाने वाली भावात्मक क्रिया भी कहा जा सकता है यह किसी भी लेखन, वाचन, आंदोलन आदि के रूप में हो सकती है। सामाजिक विकास को स्वर प्रदान करने के लिए समाज का कोई भी व्यक्ति स्त्री–पुरुष, नेता, समाज सुधारक, साहित्यकार, पत्रकार आदि अपना सहयोग देने के लिए प्रतिबद्ध है। हालांकि 'द्विवेदी युग' जागरण–सुधारवादी युग की दृष्टि से सर्वोपरि है लेकिन देश में सुधार के साथ–साथ वैचारिक–मानसिक परिवर्तन भी आवश्यक था। यह केवल सुधार आंदोलन से नहीं हो सकता था। इसके लिए समाज के सभी वर्गों को एक–साथ मिलकर 'सामाजिक विकास' की प्रक्रिया में साथ देना होता है किंतु विविधता वाले इस देश में भावात्मक विविधता भी मायने रखती है। 'सामाजिक विकास' विभिन्न दृष्टिकोणों से सामाजिक आवश्यकता थी जिसे 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में एक दृष्टि से नहीं देखा गया। युग परिवर्तन की दृष्टि

से प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में वे लेख महत्त्व रखते हैं जिनमें स्त्री जीवन पर दृष्टि डालकर भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ प्रकट की गई है। जो इस प्रकार है–

2.1.1 सुधारवादी स्वर

प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में सुधारवादी स्वर परिलक्षित होता है। हालांकि भारतेंदु युग में समाज सुधार की भावना का उदय हो चुका था, लेकिन इसका पूर्णतः विकास द्विवेदी युग में हुआ। इस युग के समस्त 'नेता', 'समाज सुधारक', 'साहित्यकार' समाज–सुधार के पक्षपाती थे। ये सुधारक जिस नवीन समाज का निर्माण करना चाहते थे, इस समाज के निर्माण के लिए इन्होंने प्राचीन रूढ़ियों और परंपराओं को खंडनात्मक–मंडनात्मक शैली द्वारा व्यर्थ सिद्ध करने का प्रयास किया। समाज के सर्वांगीण विकास के लिए समाज के सभी पक्षों पर दृष्टि पड़नी अभीष्ट थी इसलिए इन्होंने समाज के सबसे उपेक्षित वर्ग पर सुधारक की आदर्शवादी दृष्टि डालकर आदर्शवादी चित्र प्रस्तुत किए। इन्होंने बाल–विवाह, अनमेल विवाह, पर्दा प्रथा आदि कुरीतियों का विरोध किया।

सीमोन द बोउवार का कथन है कि स्त्रियाँ पैदा नहीं होती, बनाई जाती है। वास्तव में लिंगीय पहचान के साथ मानव की उत्पत्ति सर्वसत्य है। इसके बाद से 'स्त्री' सूचक स्वरूप में ढालने का कार्य सामाजिक संरचनाएँ करती हैं। स्त्री जीवन सुधार के लिए स्त्री–शिक्षा की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता, लेकिन जब वही आवश्यकता उसे लैंगिक पहचान में ढाले, तब वह स्त्री पर कुठाराघात है जो 20वीं शताब्दी के समाज–सुधारकों और साहित्यकारों ने किया–"साधारण लिखने पढ़ने की शिक्षा के साथ स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी शिक्षा देना स्त्रियों के लिए विशेष आवश्यक है। स्त्रियों की इस विषय की शिक्षा मिलने और उन्हें आहार–विहार तथा सदाचार की विधि बताने से उनकी संतान अच्छी हष्ट–पुष्ट सुख और धीमान् होती है।"[1]

स्त्रियों को 'अज्ञानता' और 'अवनति' से उबारने के लिए शिक्षा आवश्यक है लेकिन कैसी शिक्षा? वह शिक्षा जिससे स्त्रीत्व गुणों की पहचान होती है। स्त्रियाँ अपने स्त्रीत्व के कारण पहले से ही पुरुषों से भिन्न श्रेणी में आती हैं और वही सब उसे शिक्षा के माध्यम से सिखाया जाता है, वह उसे और भी भिन्न अनुभव करती है। समान दर्जा होने पर भी दोनों (स्त्री–पुरुष) समान नहीं कहलाते, परस्परावलंबी होने पर भी आश्रित 'स्त्री' ही रहती है।

समस्त भेदभाव स्त्री के साथ किया जाता है जब स्त्री–पुरुष समान है, पुरुषों के समान 'स्त्री' भी वहीं शिक्षा पाने की अधिकारिणी है तब उसे अंग्रेजी शिक्षा से वंचित क्यों रखा जाता है। स्त्री की 'अंग्रेजी शिक्षा' के पक्ष में राष्ट्रपिता क्या कहते हैं वह दृष्टव्य है–"मैं यह नहीं समझता कि यह शिक्षा स्त्रियों के लिए सर्वथा योग्य होगी। स्त्रियों और पुरुषों का दर्जा एक है, परंतु वे दोनों समान नहीं है। उनके कार्य एक दूसरे के पूरक हैं, वे दूसरे के आधारभूत है वे इतने परस्परावलम्बी है कि एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व नहीं हो सकता। स्त्री और पुरुष दो में ये किसी के भी स्थान भ्रष्ट होने पर, दोनों का नाश हो जाता है।"[2] महात्मा गांधी के विचारों से यह व्यक्त होता है कि स्त्री–पुरुष में असमानता होने के कारण स्त्री को अंग्रेजी शिक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि वह पथभ्रष्ट हो सकती है अर्थात पराश्रित मुक्त हो सकती है जो पुरुष सत्ता पर बहुत बड़ा प्रहार है। इसलिए महात्मा गांधी द्वारा पुरुष वर्चस्वशाली सत्ता को कायम रखने के लिए गृहप्रबंध बच्चों के लालन–पोषण की शिक्षा पर बल देने का कारण मानना चाहिए।

'स्त्री–शिक्षा' और अधिकार एक–दूसरे को अधीन रखने अथवा सत्ता स्थानांतरण का मामला नहीं है बल्कि एक–दूसरे की कमी को जानकर उन्हें दूर कर, जीवन को परिपूर्ण करने का प्रश्न है। 'मर्यादा' अगस्त 1915 के अंक में श्रीमती एनी बेसेंट लिखती हैं–''स्त्री और पुरुष इसलिए नहीं बनाये गये हैं कि एकदूसरे को गुलाम बनावें किन्तु इसलिए कि स्त्री और पुरुष में जो विभिन्नताएँ हैं जीवन को परिपूर्ण करने में उनका वे उपयोग करें। मातृभूमि के लिए पुरुषत्व और स्त्रीत्व दोनों का उत्सर्ग होना चाहिए क्योंकि उन्हीं की एकता में भारत वर्ष की शक्ति और दृढ़ता है।"[3] भारतीय पुरुष के विपरीत भारतीय स्त्री का वक्तव्य स्त्री–पुरुष को समान मानने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

स्त्रियों का दहेज प्रथा से सबसे अधिक जीवन प्रभावित होने का कारण शिक्षा का अभाव हैं इसने बाल–विवाह, अनमेल विवाह आदि कितनी ही समस्याओं को जन्म दिया। वैसे सभी प्रथाएँ स्त्रियों के लिए बुरी हैं किंतु इन प्रथाओं में जो सबसे अधिक बाल–मन पर अपनी छाप छोड़ती है वह 'बाल–विवाह' है। यद्यपि इस कुरीति से दोनों प्रभावित होते हैं, लेकिन पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक अभिशापित होती है। उनकी माता–पिता, दादा–दादी की इच्छाओं पर आहुति दी जाती है। उन्हें धर्मशास्त्र और परंपराओं के नाम पर शिक्षा से वंचित कर शारीरिक और मानसिक अप्रौढ़ता में संतानोत्पत्ति के लिए बाध्य किया जाता रहा है।

सुधारवादी लेखक उन्हीं धर्मशास्त्रों की दुहाई देकर बाल–विवाह का विरोध करते हैं। जर्नादन भट्ट के शब्दों में–"पुराने ख्याल के लोग जो बाल–विवाह के पक्षपाती है, कहा करते हैं कि ऋतुमती का विवाह न सिर्फ शास्त्रनिषिद्ध ही है बल्कि भारतवर्ष में कभी भी प्रचलित नहीं था। मैं यहाँ तक यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि ऋतुमती का विवाह पूर्णतया वेद और शास्त्रविदित है और प्राचीन भारतवर्ष में ही युवती ही का विवाह होता है और वही उचित विवाह समझा जाता था।"[4]

यह वही 'धर्मशास्त्र' है जिसने स्त्री जीवन को बाधित किया। स्त्री के पक्ष में नियम, कायदे–कानून का निर्माण किया। चाहे शास्त्रादि ऋतुमती स्त्री को 'विवाह' की अनुमति दे या न दे! इनसे निरपेक्ष क्या स्त्री जीवन नहीं चल सकता? अधिकतर सुधारवादियों के स्वरों में धर्मशास्त्रों का ही आग्रह है। पर्दा प्रथा के विरोध में भी यह देखा जा सकता है–"हमारे पर्दा प्रचलित रखने वाले माता–पिताओं से ही श्री पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र जी के साथ पतिव्रता सीता जी का बन जाना छिपा नहीं हैं यदि उस समय पर्दा होता तो सीता जी को वनों, जंगलों में पति की सेवा करना, लक्ष्मण देवर को पुत्रवत् समझना, अनेक कष्टों में पड़ते हुए भी साथ न छोड़ना, धैर्य करना और कराना, कैसे विख्यात हो सकता था जो कि आज कल मूर्खों अल्पक्षों के दृष्टांत रूप से परिणत हो रहा है।"[5] अब अल्पज्ञ और मूर्ख कौन है वे जो धर्मशास्त्रों के आधार पर प्राचीन परंपराओं और मान्यताओं को मानते हैं या वे जो धर्मशास्त्रों के आधार पर प्राचीन परंपराओं का विरोध करने के लिए उसी का समर्थन करते हैं। पर्दे के पीछे सामाजिक, आर्थिक बातों से अनभिज्ञ स्त्रियों का चूल्हा घर, चौका ही उनका ज्ञान–विज्ञान हैं लेकिन यह ज्ञान–विज्ञान सिखाता कौन है–धर्मशास्त्र!

सुधार प्रिय नेता ऊँच–नीच और जातिगत भेदभाव के विरोधी थे। जिस तत्कालीन समाज में जाति के नाम पर स्वयं को सर्वोपरि मानने और अन्य को निम्न कोटि का समझकर, तिरस्कार करने में जीवन चलता हो! वहाँ 'सरस्वती' दिसंबर 1917 में जगन्नाथ खन्ना 'जाति' के बाहर योग्य वर–वधु विवाह का विकल्प देते हैं और जाति के अंदर विवाह करने के दुष्परिणामों से अवगत कराते हैं।[6] एक ओर असवर्ण विवाह का पक्ष है दूसरी ओर जाति प्रथा के विरोध के निम्नजातियों के लिए अलग से स्कूलों का प्रबंध करना! क्या जातिगत भेदभाव को नहीं बढ़ाता–"जिस प्रकार 20 मुसलमान बालकों के मिलने पर इस्लामियाँ स्कूल खुल सकते हैं उसी प्रकार अछूत जातियों के बालकों के लिए भी स्कूल

खोले जा सकते हैं। क्या ही अच्छा होता यदि ऐसे ही स्कूलों का निरीक्षण करने और वन जातियों को उत्साहित करने के लिए जातियों के डेप्यूटी और सब डेप्यूटी इन्स्पेक्टर भी नियत किये जाते।"[7] हम देख सकते हैं कैसे 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों के विचारों में मतभेद मिलता है। इसलिए ऐसे सुधारक नेताओं को सुधारवादी कहना ही उचित है।

2.1.2 उपदेशीवादी स्वर

उपदेश देना बड़ा सरल कार्य लगता है। उपदेश कोई भी दे सकता है लेकिन जो व्यक्ति निरर्थक उपदेशों का पालन करने के बाध्य हो, वास्तविकता उसे ही ज्ञात होती है। भारतीय समाज में विद्वनजन प्राचीनता से उपदेशक की भूमिका का निर्वहन करते रहे और स्त्रियाँ उपदिष्ट की। उपदेशों का महत्त्व स्त्रियों से अधिक भलीभाँति कोई नहीं बता सकता। उसके द्वारा लिया गया तुच्छ–सा निर्णय विद्वनजन की सीख की परिधि से निकाल देता है और विद्वनजन का उपदेश फिर स्त्री को उसी परिधि में लाकर खड़ा कर देता है। किसी भी सुधार के लिए उपदेश अपरिहार्य माने गए हैं। उपदेश सामाजिक सुधार में सहायक हो सकते हैं यदि वे किसी विशेष वर्ग की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व न करते हो अन्यथा वह प्रतिबंधन या उपदेश बनकर रह जाते हैं। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री जीवन सुधार के लिए बहुत से उपदेश दिए गए। देखना यह है कि उपदेश कहाँ तक सार्थक होते हैं।

स्त्री की पराधीनता किसी से नहीं छिपी। वह पराधीन थी, पराधीन है और पराधीन रहेगी ऐसा कहना सर्वथा संभव नहीं क्योंकि जिस प्रकार समकालीन समय में स्त्रियाँ अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही हैं उसे देखकर यही लगता है कि वह स्वाधीन होकर रहेगी। प्राचीनता से स्त्री की स्थिति भिन्न रही है वह किसी न किसी के अधीन रही है। किसी के अधीन रहना 'पराधीनता' है। पराधीनता किसी गुलामी से कम नहीं है परंतु उपदेशवादियों के लिए यह बिलकुल स्वीकार्य नहीं है–"यदि राजशक्ति के अधीन होना गुलामी नहीं यदि आचार्यों और विद्वानों का आज्ञा मानना गुलामी नहीं, यदि शास्त्रों के विधि–विधान का पाला करना, गुलामी नहीं तो स्त्रियों को अपने पिता, पुत्र और पति के अधीन होकर रहना भी गुलामी नहीं।"[8] राजशक्ति और धर्मशास्त्र यदि किसी का हित साधते हैं तो वह पुरुष सत्तात्मक समाज का। चूँकि स्त्रियों में शारीरिक शक्ति पुरुषों की अपेक्षा बहुत कम होती है,

अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकती, सुकुमारी है, स्वभाव से दुर्बल है इस लिए वह पिता, पुत्र और पति के अधीन रहे। सर्वप्रथम स्त्रियों के प्रति यह धारणा पुरुष सत्तात्मक समाज ने बनाई जिसमें स्त्री परिवर्तित होती चली गई। यदि सदियों से पुरुषों को इसी प्रकार अधीन रखा जाता तो पुरुष भी स्वयं को गुलाम ही अनुभव करते। यह तत्कालीन स्वाभाविक नियम को प्रमाणित होता है क्योंकि तत्कालीन समय में स्त्रियों को शिक्षित करने का उद्देश्य भावी देशभक्त संतानों को सुशिक्षित और साहसी बनाने के लिए स्त्री–शिक्षा की माँग की जा रही थी।[9]

शिक्षा के अभाव एवं पारंपरिक रूढ़ियों के कारण स्त्रियों को अपनी संतानें खोनी पड़ी। ऐसा अन्य स्त्रियों के साथ न हो इसलिए स्त्रियों की स्वास्थ्य संबंधी रक्षा जागृति का प्रयास किया गया। साथ ही स्वास्थ्य रक्षा हेतु उपदेश दिए–"यदि रमणियों की स्वास्थ्योन्नति करनी है तो घर को हवादार बनाना चाहिए और उन्हें नित्य प्रति गृहकार्यों को व्यायाम समझकर आलस्य त्याग कर करना चाहिए।"[10] अपने स्वास्थ्य की देखभाल करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। उसके लिए स्वच्छता अनिवार्य तत्त्व है। लेकिन स्वास्थ्योन्नति के लिए आलस्य त्यागकर गृहकार्यों को व्यायाम करने की छूट नहीं देती किंतु क्या आलस्य में पड़े रहने की छूट देती है।[11] इसका तात्पर्य यही हुआ कि स्त्रियाँ आलसी होती है, उन्हें आलस्य त्यागकर गृहकार्य करना चाहिए। गृहकार्य व्यायाम का रूप है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में कहीं न कहीं स्त्रियों के स्वास्थ्य रक्षा संबंधी उपेदश के माध्यम से भारतीय स्त्रियों को गृहकार्यों की ओर ही अधिक उन्मुख किया जा रहा था। 'स्त्री' को एक शिक्षित परिपूर्ण स्त्री के रूप में तराशा जा रहा था–"स्त्री को परिपूर्ण स्त्री बनाना ही उपयुक्त शिक्षा है, स्त्री को पुरुष बनाने की चेष्टा करना बंजर में बरसने के समान निष्फल और हवा में महल बनाने के भांति असंभव है। माता को माता बनाना ही उसके लिए शिक्षा है, उसको पिता बनाने की चेष्टा करना प्रमाद और धृष्टामात्र है।"[12]

'स्त्रियों' पर पुरुष बनने का आक्षेप तत्कालीन समाज की समस्या नहीं, बल्कि समकालीन समाज की भी समस्या है। स्त्रियों द्वारा अपने अधिकार माँगने पर उस पर पुरुष बनने का आरोप लगाया जाता है। स्त्रियाँ न पुरुष बनना चाहती है न पिता। वह मनुष्यत्व की श्रेणी में आना चाहती है। पर अफसोस, उसे समस्त कायनात स्त्री रूपी साँचे में ढालने का प्रयास करती है। उसके सामने इंग्लैंड की बहू और बेटियों के उदाहरण रखे जाते

हैं–"वहाँ की स्त्रियाँ प्रातः 6 बजे उठती हैं, मुँह हाथ धोकर चाह बनाती है और पति के शयन गृह में जा उन्हें चाह पिलाती है पुनः रसोई में आ आग जला पानी गरम करती है पति के उठते ही गरम पानी से हाथ मुँह घुलाती हैं और फिर अपना (ब्रेकफास्ट) कलेवा तैयार करती है और सब इकट्ठा होकर भोजन करते हैं (जिस गृह में बच्चे होते हैं वह उन के हाथ मुंह धुला कपड़े पहनाती और अपने ही साथ उन्हें भोजन करवाती हैं) जब पति कार्य को जाता या दफ्तर जाता तो वह गृह को झाड़ती मेज कुर्सियों को कपड़े को पोंछती और सब वस्तुओं को सफाई करती झूठी चाह के पियालियों को और बर्तनों को अपने हाथ से साफ करतीं और पति के आगमन से पहिले भोजन प्रस्तुत कर लेती है।"[13] अजीब मानसिक नीति है जबकि 'मर्यादा' 1915 के अंक में विदेशी कामकाजी स्त्रियों के चित्र से साफ–साफ स्पष्ट है कि भारतीय परिवेश में विदेशी स्त्रियों के अस्तित्व को झुठलाया जा रहा था। यह सब इसलिए न कि स्त्रियाँ उच्छृंखल न हो जाए। अधिक स्वतंत्रता से धर्मच्युत न हो जाए। आप पर्दा–प्रणाली के विरोधी है लेकिन स्त्रियों को घर से बाहर कदम रखने के पक्षपाती नहीं–''घर में परदा–प्रणाली को बनाये रखना ठीक नहीं। उन्हें घर में पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। वे घर पर जहाँ चाहे वहाँ घूम सकती हैं। स्त्रियों को पाक साला में या जनाने कमरे में बन्द रखना मानों उन पर अत्याचार और अनाचार करना चाहिए। हाँ, शिक्षित स्त्रियों को, यदि वे चाहे पति को साथ लेकर जाना चाहिए। मेरी समझ में यह भी ठीक नहीं। उन्हें बाजार प्रायः परन्तु बिलकुल ही नहीं जाने देना चाहिए, क्योंकि ज्यादा घूमने और अच्छी चीजें देखने से चंचलता बढ़ती है और स्त्री जाति में चंचलता अति बुरी है।"[14] फिर क्या घर किसी पर्दे से कम हैं? स्त्रियों का आदर्शवादी, वेश्या होना सब नैतिकता का प्रश्न है। स्त्रियाँ सामाजिक और आर्थिक विसंगतियों के कारण ही समाज में विसंगतियों का शिकार होती हैं, लेकिन बहिष्कार का दंश केवल स्त्रियों को झेलना पड़ता है–"हमारे समाज से वेश्याओं का और साथ ही साथ वेश्या नृत्य का बहिष्कार होना चाहिए। स्वयं नृत्य कोई बुरी चीज नहीं है, पर वह जैसे लोगों के हाथ में पड़ रहा है, उसे देखते हुए नृत्य का नाश संतोषजनक ही है।"[15]

स्त्रियों को बहिष्कृत करना समाज का शास्त्र है कि प्रथमतः स्त्री को निसहाय, अशक्त जानकर, अपनी सांस्कृतिक मर्यादा में फिट (Fit) करने का प्रयास करो अन्यथा असफल होने पर 'वेश्या' कहकर बहिष्कृत करो। वेश्यावृत्ति का मूल कारण 'आर्थिक' विषमता

है क्यों नहीं, आर्थिक विषमताओं के मूल कारणों की खोज की जाती है। कारण हमारे समक्ष मौजूद है लेकिन हम उन्हें नजरअंदाज कर देते हैं। गरीबी और बेकारी वेश्यावृत्ति में लिप्त स्त्रियों को वो साधन उपलब्ध कराती हैं जिससे स्त्रियाँ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो सकें। वेश्याओं के बहिष्कार से क्या वेश्यावृत्ति समाप्त हो जाएगी? यह सब विचारों को ध्यान में रखकर उपदेशकों को उपदेश देने चाहिए थे।

2.1.3 आदर्शवादी स्वर

द्विवेदी युग के साहित्य का प्रयोजन सामाजिक जीवन में उच्चतर आदर्शों की स्थापना के माध्यम से तत्कालीन समस्याओं से मुक्त होना रहा। इसलिए पत्रिकाओं के लेखों में ऐतिहासिक कथा प्रसंगों को आधार बनाकर स्वार्थपरकता, त्याग, कर्तव्य पालन–आत्म गौरव आदि उच्चादर्शों को स्थापित करने का प्रयास किया। आदर्शवाद में उच्च आदर्शों को ध्यान में रखकर सामाजिक जीवन को उसी के अनुरूप परिवर्तित करने का प्रयत्न किया जाता है। 'स्त्रीदर्पण' 1918 के अंक में श्रीमती उमा नेहरू तत्कालीन समय में 'आदर्श' को परिभाषित करते हुए लिखती हैं–''आदर्श वह ख्याल है जो किसी व्यक्ति या समाज या जाति का पथ प्रदर्शक बनकर उसे वर्तमान जीवन की त्रुटियों के झाड़ झंकाड से निकाल कर सत्य, शान्ति और आनन्द की ओर ले जाता है। यह वह दीपक है जिसके उजाले में मानव जन अपने अपने जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल होकर अपनी मनोकामना पाते हैं।"[16] विचारों में प्रवाह होना अतिआवश्यक है, अन्यथा वह जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति नहीं, जीवन को अत्यधिक जटिल बना देते हैं। बदली सामाजिक परिस्थिति में समाजिक, नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदर्शों का ह्रास होना स्वाभाविक था। उसी स्थिति में वापस लाने के लिए आदर्श जीवन मूल्यों ने उच्चतर जीवन स्तर के निर्वाह की प्रेरणा दी। चूँकि स्त्री सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदर्शों का आधार है इसलिए उसी को उच्च आदर्शों में ढालने का कार्य किया। समाज में उन स्त्रियों की आवश्यकता नहीं, जो आत्मनिर्भर है बल्कि सीता और द्रौपदी जैसी स्त्रियों की कामना की जाती है–''हम इसी आंख से फिर सीता और द्रौपदी सी देखें और एक श्रीमती सरोजिनी नायडू और सरला देवी के बदले लाखों ऐसी देवियों का देश में भरमार पावें।"[17] सीता, सावित्री, द्रौपदी ही क्यों! जो अपने पति का अनुगामिनी बनकर रहे अपने कर्तव्यों का पालन एकनिष्ठा से करें क्योंकि अन्यायी और भ्रष्ट पति की मूक प्रतिच्छाया बनकर रहने वाली दीनहीन स्त्रियों को सीता–सावित्री, द्रौपदी कहा जाता है।[18] सीता, द्रौपदी,

सावित्री गार्गी और मैत्रेयी का यथार्थ किसी से नहीं छिपा। हालांकि आज सीता, द्रौपदी को किसी स्वतंत्र चेता से कम नहीं माना जा रहा। अनामिका के शब्दों में–"सीता और सावित्री सुलझे हुए चरित्र हैं, पर वे घरपोसू या पालतू कहीं से भी नहीं। सीता के बारे में सबसे बड़ा मिथ निश्शब्द समर्पण (डोसिलिटी) का है। सीता अपने समय की पहली महिला थी, जिसने पति के साथ ही, घर की चौखट लांघकर अपनी आंखों से दुनिया देखी।"[19]

आदर्शवाद असौंदर्य प्रधान होकर, सौंदर्य प्रधान है। आंतरिक गुणों के आधार पर आंतरिक सौन्दर्य की परीक्षा। आंतरिक सौन्दर्य त्याग, कर्तव्यपरायणता, एकनिष्ठता, समर्पणता, सहजता, पवित्रता, पतिव्रता, सरसता, शालीनता, सहनशीलता आदि गुणों पर टिका है। इनके अभाव में स्त्रियों का जीवन मानों कुछ भी नहीं। प्राचीन आदर्श के बल पर स्त्रियों को आदर्शवादी बनाना 'आदर्शवादियों' का मुख्य उद्देश्य रहा। जैसे "कम से कम सात–आठ वर्ष तक अपनी सन्तानों का पालन–पोषण करने के साथ–साथ उन्हें आचार और धर्म्म–विषयक उत्तोतम शिक्षायें सदा दिया करें। किन्तु इस कार्य के लिए प्रथम उन्हें स्वयं विदुषी और शिक्षिता होना चाहिए। जगत के महान् पुरुषों और आदर्श महिलाओं के जीवन चरित एवं नीति और आदर्श–महिलाओं के जीवन चरित एवं नीति और धर्मशास्त्र की बातों का उन्हें ज्ञान होना चाहिए। यहीं नहीं, उन्हें सच्चरिता और धर्मपरायणता होने की भी आवश्यकता है। क्योंकि ज़बानी उपदेश की अपेक्षा चरित्र का प्रभाव बच्चों पर अधिक पड़ता है।"[20]

स्त्री को भुक्तभोगी बनाकर तुरंत अपने बँधनों में बाँधने का प्रपंच 'पवित्रता' और 'पतिव्रता' है। उसी के द्वारा उसका मोक्ष निश्चित होता है। वह स्त्री जो सामाजिक प्राणी होकर भी कभी मनुष्य नहीं मानी गयी, मृत्युपर्यांत भी स्वर्ग देवी के तमगों से उसके मानवीय व्यक्त्वि को छिपा दिया जाता है। मानवीय प्रतिष्ठा केवल असत् और उन पतिव्रता स्त्री को मिलती है, वह भी मृत्युपर्यांत। आदर्शवादियों की दृष्टि ये पतिव्रता स्त्री 'अशिक्षित' होकर 'शिक्षित', 'दरिद्र' होकर 'संपन्न' और 'निम्न कोटि' की होकर भी 'शिरोमणि' है। कैसी विडंबना है जिन्हें निम्न कोटि का मानकर शिक्षा से वंचित रखा जाता है उनके पतिव्रता होने पर वह शिरोमणि है।[21] पतिव्रता के क्या लक्षण है वह एक आदर्शवादी के स्वर में इस प्रकार है–"पति का जिस पर प्रेम हो वह व्यक्ति पत्नी को भी अन्तःकरण को प्रिय हो तभी उसे पतिप्रेमवती कहना चाहिए और जो व्यक्ति की सच्ची सेवा करे वही सच्ची सेविका हो सकती है। ऐसी पतिप्रेमवती और सेविका को ही सच्ची पतिव्रता कहना चाहिए। जो स्त्री अपने पति

के माता–पितादि अन्य जनों की अवज्ञा, अनादर या अश्रद्धा करती है उसका अपने पति पर कितना प्रेम क्यों न हो वह न पतिव्रता ही है और न पतिप्रेमवती ही। अपने पति और अपने बाल–बच्चों की चिन्ता करने वाली और सास–ससुरादि वृद्धजनों का तिरस्कार करने वाली आजकल की प्रायः कुशिक्षित स्त्रियाँ पतिप्रेमवती नहीं है और पतिव्रता वे कदापि हो ही नहीं सकती।"[22] पतिव्रता स्त्री के समक्ष 'शिक्षित स्त्री' का कोई महत्त्व नहीं लेकिन स्त्री–शिक्षा में नैतिकता, जिसमें पतिव्रता का विशेष आग्रह हो, की घुसपैठी उसी सुशिक्षिता स्त्री को पतिव्रता, आज्ञाकारिणी बनाने में देर नहीं करती। यह नैतिक चरित्र–निर्माण है जो स्त्री–शिक्षा के नाम पर निर्मित किया जाता है। इसके निर्माण में श्रृंगारपरक रचनाएँ अश्लीलता का दस्तावेज हैं इनसे दूर रखकर स्त्रियों का नैतिक चरित्र निर्माण संभव हो पाता है। स्पष्ट रूप में आदर्शवादी कहते हैं–"पढ़ाने से हमारा मतलब केवल अक्षर सीख लेने या ब्रजविलास इन्दर सभा, लैला मजनूँ सरीख नष्ट किताबों के पढ़ने से नहीं है किन्तु, सदुपदेश पूर्व पुस्तकें भूगोल तथा इतिहास के पढ़ने से है। यह उसकी मूर्खता का ही कारण है कि विवाहों में महा अश्लील सिठनियों का गाना इत्यादि कुरीतियों का परम्परागत मान छोड़ना नहीं चाहती।"[23] तात्पर्य यह है कि परंपरागत मान–मर्यादाओं के ढोने का ठेका पुरुषों का है। यदि स्त्रियाँ श्रृंगारपरक रचनाएँ पढ़ती हैं तो वह परंपरागत मान–मर्यादा तोड़ती हैं। पुरुष ही नहीं, शिक्षित स्त्रियों का भी यही विचार है। वास्तव में यह संकीर्ण मानसिकता का परिणाम है जो प्राचीन आदर्शों को भूलने नहीं देती और नवीन मूल्यों को अपनाने नहीं देती।

2.1.4 मानवतावादी स्वर

मानतावाद भारतीय दृष्टि से समाजसुधार के लिए मनुष्य की समस्या पर विचार करता है। वह नवीन मानव–मूल्यों द्वारा मानवीय विकास पर बल देता है। एक प्रकार से इसमें समानता की भावना निहित होती है। सामाजिक परिवेश में आए तेजी से परिवर्तन के कारण मनुष्य की समस्याओं को विभिन्न शक्तियों के रूप में देखा जा सकता है। इसमें मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास स्वतंत्रता और समानता के पक्ष पर विशेष आग्रह होता है। वह सामाजिक संकीर्णताओं का विरोध ही नहीं करता बल्कि इनके विरुद्ध प्रत्येक प्रकार के संघर्ष के लिए तत्पर रहता है। इससे समाज की उन परिस्थितियों को नष्ट करने का प्रयास किया जाता है जिनमें मानवता घुटती और उत्पीड़ित होती है। जिसे नष्ट करने में मानवतावादी कहीं हद तक सफल भी हुए हैं। सामाजिक विषमताओं से किया गया संघर्ष मानवतावादियों

का अपना संघर्ष है। वह समाज की प्रत्येक समस्याओं को आत्मसात करते चलता हैं। प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में ऐसे कितने विचारक हैं जो समाज की समस्याओं को आत्मसात कर चले। उन्होंने सही अर्थों में सामाजिक समस्याओं को समझा, उनके विरुद्ध संघर्ष किया।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के कारण उसकी कुछ मूलभूत आवश्यकताएँ होती है। वह उन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रकृति पर निर्भर रहता है। चूँकि स्त्री भी पुरुषों की भाँति सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के कारण उसकी भी मूलभूत आवश्यकताएँ हैं लेकिन उसे अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पुरुषों पर आश्रित रहना पड़ता है। स्त्रियों के लिए पराश्रित रहना; उनके व्यक्तित्व के विकास में बेड़ियां है। इससे मुक्त होने की प्रथम शर्त शिक्षा है जिससे समाज के सभी बृद्धिजीवियों का आभास था किंतु मानवतावादियों ने स्त्रियों की आवश्यकता को आत्मसात किया। ये सुधारवादियों की भांति सतही सुधार नहीं चाहते। आदर्शवादियों की भाँति स्त्रियों का प्राचीन आदर्शों में ढालने का प्रयास नहीं करते और न ही उपदेशवादियों की भाँति उपदेश देकर शांत हो जाते हैं। वे स्त्रियों के व्यक्तित्व का पूर्णतः विकास चाहते हैं जो सतही सुधार, सतही शिक्षा अर्थात सामान्य शिक्षा या आदर्शवादी शिक्षा से नहीं होने वाला था। उसके लिए उच्च से उच्च शिक्षा और उच्च से उच्च अध्ययन और विषय की आवश्यकता है। स्त्रियों की आवश्यकताएँ उनकी स्वयं की आवश्यकताएँ है जिनके लिए स्त्रियों को स्वयं आगे बढ़कर संघर्ष करना होगा। श्रीमती बाला जी के शब्दों में "स्त्रियों की आवश्यकताओं और उनकी आकांक्षाओं, उनके अधिकारों और कर्तव्यों को स्त्रियाँ ही पूर्ण रीति से समझ सकतीं तथा उन्हें प्रकट कर सकती हैं। किन्तु क्या शिक्षा के बिना उनकी विचारशैली और लेखनशक्ति पूर्ण रूप से विकसित हो सकती है? कदापि नहीं। अतएव स्त्रियों के योग्य साहित्य की उन्नति और वृद्धि के लिए सबसे पहिली आवश्यकता यह है कि देश में साधारण स्त्री शिक्षा के अतिरिक्त उच्च से उच्च स्त्री शिक्षा का प्रचार किया जाए। मेरी तुच्छ बुद्धि में स्त्रियाँ ज्योतिष, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, सम्पत्तिशास्त्र, समाजशास्त्र, वैधकशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि सब शास्त्रों और विधाओं को जानने और अध्ययन करने की पूर्ण अधिकारिणी है।"[24]

स्त्री–शिक्षा वैयक्तिक स्तर पर स्त्रियों को जागृत करने का प्रथम साधन है। स्त्रियों का शैक्षिक विकास अर्थात अस्मिता और अधिकारों के प्रति जागृति में समस्त प्रयास तब तक

निरर्थक है जब तक स्त्रियाँ स्वयं आगे बढ़कर अपनी इच्छा–अनिच्छा को प्रकट नहीं करती। पुरुषों के बने–बनाए शास्त्रों को अपने अधिकारों और स्वतंत्रता लिए नहीं तोड़ती। पुरुषोत्तम अग्रवाल भी कहते हैं कि संसार में यदि न्याय का कोई एक विश्वव्यापी संघर्ष है, तो वह है स्त्री के लिए स्त्री का संघर्ष। चार्लस् पामर के शब्दों में–"स्त्री की इज्जत उसी के हाथ में है और वह उसकी स्वामी है वह बात जितनी जल्दी समाज समझ ले उतना ही अच्छा हो। हम स्त्री को पुरुष के बराबर कर रहे हैं, परन्तु पुरुष के बनाये हुए शास्त्र अब भी स्त्री को वही स्वंतत्रता नहीं देते जो पुरुष को दे रखी है। जब तक कि पुरुष को यह अधिकार रहेगा कि जब चाहे जिससे प्रेम करने लगे, और किसी से भी न डरे, और स्त्री को जरा सी भी भूल पर सजा तलाक का डर रहेगा, बराबरी नहीं हो सकती।"[25] स्त्री पराधीनता का दौर घर से आरंभ होकर, सामाजिक स्तर तक पहुँचता है। पारिवारिक स्तर पर धार्मिक संहिताएँ स्त्री को दासी समझकर, उस पर आधिपत्य अथवा अत्याचार करने की छूट देती है और कानून व्यापक क्षितिज देते हैं। इसलिए सर्वप्रथम घरों के पारंपरिक गढ़ों को तोड़ना सामाजिक गढ़ों को तोड़ना है। यह स्त्री–शिक्षा के बिना संभव नहीं क्योंकि शिक्षा व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाती है। 'आत्मनिर्भरता' वैयक्तिक धरातल पर आरंभ किए संघर्ष को सामाजिक धरातल पर ले जाने की क्रिया भी कही जा सकती है। कानून स्त्री के लिए भय का विषय नहीं, अपने खोए स्वत्व और अधिकार पाने का विषय है–"कानून से स्त्री पति की दासी है। किसी समय तो पति को अपनी पत्नी बेच देने या मार डालने का अधिकार था। अब भी बहुतेरे पति पत्नियों को मारते, पीटते और पीड़ित करते हैं। यदि कोई कानूनी कारवाई की जाए तो कल चाहे कुछ भी हो, कभी अपने अत्याचारी और निर्दयी पति को तलाक का अधिकार स्त्रियों को मिलना चाहिए।"[26] मानववादियों के अनुसार स्त्री को 'स्वत्व' प्राप्ति के लिए आत्मनिर्भर होना अतिआवश्यक हैं इससे अन्याय और अमनुष्यत्व पर आधारित संबंधों को तोड़ने का दोनों (स्त्री–पुरुष) को समान अधिकार होगा। जो विचार आंदोलित करें, उन्हें क्यों न ग्रहण और अनुकरण किया जाए? मानवतावादी उन्हें पश्चिम का अनुकरण कर आत्मनिर्भर बनने के लिए प्रेरित करते हैं–"पुरुष के दबाने से स्त्री को पराजित होना पड़ता है क्योंकि स्त्री धनहीन हैं अतः पुरुष की इच्छा के विरुद्ध नहीं चल सकती। और यह दशा इंग्लैंड में है जहाँ बहुत सी स्त्रियाँ भी अपनी रोजी रोटी कमाती हैं। भारतवर्ष की स्त्रियों ने भी अब घर से समाज में पैर

रक्खा है इन्हें भी अब अपने स्वत्वों की ओर ध्यान देना होगा अतः इन्हें भी धनार्जन करना होगा।"[27]

संघर्ष या क्रांति संकल्पित होती है, उसे भाग्य पर छोड़कर निश्चित नहीं बैठा जा सकता। चूँकि मानवतावाद मानव शक्ति में विश्वास करता है इसके लिए प्राचीन आदर्श मिथ्या है। उसका अपना एक 'आदर्श', 'कर्तव्य' और 'धर्म' है—आत्मपरिचय और परहित। मानवतावाद में आत्मविकास और परहित के लिए ईश्वर का कोई स्थान नहीं। किसी भी प्रकार का किया गया 'आत्मत्याग' व्यक्ति को कमजोर बनाता है। वह आत्महत्या के अलावा कुछ नहीं है। इसलिए वे स्पष्ट शब्दों में आह्वान करते हैं—"हम आत्मत्याग की निन्दा नहीं करती। आत्मत्याग एक स्वर्गीय भाव है। किसी आदर्श के लिए अपने आपको मिटा देने को उत्तमतर कार्य संसार में और कुछ नहीं। किन्तु इतना हम अवश्य कहती है कि जो आत्मत्याग अपनी आत्मा, अपने शरीर, अपने ह्रदय का विनाशक हो, जो दूसरों को स्वार्थी, अन्यायी और अत्याचारी बनाता हो, जो अपनी संतान के उन्नति के मार्ग में कण्टक और विष बोता हो—वह आत्मत्याग नहीं हत्या है। हम आत्मत्याग से बचना चाहती है और यह हमारा सांसारिक कर्तव्य है और आध्यात्मिक धर्म है।"[28]

व्यक्ति का 'वैयक्तिक' स्तर पर अपना संघर्ष चलता रहता है लेकिन कुरीतियों को मिटाने के लिए सामाजिक स्तर पर एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता होती है जो मानवीय उत्पीड़न को समझ उसे क्रांति के रूप में लें। वह उसे आशामात्र व्यक्त न कर, वह अपने जीवन में इस प्रकार उतारें कि उसे अपने कर्मों द्वारा मिटा दे। मानवतावादियों को ऐसा कर्मण 'युवा वर्ग' लगता है। इसलिए वह युवा वर्ग को सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए प्रेरित करते हैं। वे देश के युवा शिक्षित वर्ग को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं कि—"वे स्वयं दहेज न ले और दूसरों को भी ऐसा करने से रोकें। उनके उदाहरण का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा और यह प्रथा धीरे—धीरे उठने लगेगी। हमारे विद्यार्थी भी इस विषय में बहुत कुछ कर सकते हैं उन्हें जो शिक्षा मिल रही है उसके योग्य पात्र वे तभी समझे जाएँगे जब वे अपने समाज की कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न करेंगे। उन्हें चाहिए कि वे ऐसा विवाह करने से साफ इनकार कर दें जिसमें दहेज दिया जाए। यदि ऐसा करने से उनके माता—पिता नाराज हो जाए तो भी उन्हें इसकी परवा न करनी चाहिए, क्योकि माता—पिता की अप्रसन्नता बहुत दिनों तक नहीं ठहर सकती।"[29]

किसी सुधार के लिए कामना महत्त्व नहीं रखती, संघर्ष महत्त्व रखता है। संघर्ष भी तभी महत्त्व रखेगा जब वह किसी विशेष वर्ग के स्वार्थ से लैस हो। अन्यथा सुधार के लिए किया गया 'संघर्ष', संघर्ष' रह जाएगा जैसा कि उपदेशवादी, सुधारवादी और आदर्शवादियों के स्वरों को परिलक्षित होता है।

2.2 प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री जीवन संबंधी सवाल

19वीं शताब्दी में समाज सुधार आंदोलनों द्वारा स्त्री जीवन से जुड़े प्रश्नों को हिन्दी पत्र–पत्रिकाओं में केंद्रीय महत्त्व मिला। इन पत्रिकाओं में स्त्री आंदोलन की झलक मिलती है। प्रगतिशील स्त्री–पुरुष विचारकों के लेख अधिकांशतः स्त्रियों की समस्याओं पर होते थे। इनके विचार विमर्शों से सामाजिक रूढ़ियों और बंधनों को तोड़ स्त्री जीवन सुधार के प्रयासों में तेजी आई। चूँकि राष्ट्र और राष्ट्रीयता के विकास का प्रश्न स्त्री मुक्ति एवं विकास से होकर गुजरता था। इसलिए समाज सुधार आंदोलनों द्वारा राष्ट्र–राष्ट्रीयता के प्रश्नों में स्त्री संबंधी प्रश्नों का विशेष महत्त्व है। तत्कालीन समय में स्त्री जीवन से जुड़े प्रश्न इस प्रकार है–

2.2.1 मृतस्त्रीक विवाह

मृतस्त्रीक का अर्थ जिसकी स्त्री या पत्नी मर चुकी हो और मृतस्त्रीक विवाह का अर्थ पुरुष या स्त्री के मृत्युपरांत किए गए विवाह से है। मृत्युपरांत पुनर्विवाह से कोई आपत्ति नहीं लेकिन तभी जब ये नियम स्त्री–पुरुष दोनों पर समान लागू हो। भारतीय परिवेश में स्त्री के पुनर्विवाह का प्रचलन न होने के कारण इसने स्त्रियों के अस्तित्व पर गहरी चोट की। क्योंकि इससे समाज की संस्कृति और संस्कारों के नष्ट होने का भय था परंतु पुरुषों का पुनर्विवाह सामाजिक–सांस्कृतिक उत्थान माना जाता था। स्त्रियों ने स्वयं समाज की असमान व्यवस्था अथवा बुराई का विरोध किया। श्रीमती हुक्म देवी स्त्री को उत्पादक रूप में उसके अस्तित्व की महत्त्वहीनता के लिए मृतस्त्रीक विवाह को उत्तरदायी कारक मानते हुए लिखती हैं–"पशु पक्षी अथवा पक्षी पालने वाले पुरुष को उसके मरने अथवा उड़ने पर कहीं अधिक शोक होता है परन्तु जिंदा पत्नी के रोगग्रस्त होने अथवा मरने पर उतना भी नहीं। इस पदवी के देने का कारण केवल यही है कि एक निर्दोष धर्मज्ञ ब्रह्मचारिण कन्या का विवाह मृतस्त्रीक पुरुष के साथ कर दिया जाता है। धर्म अधर्म का कुछ भी विचार नहीं दिया जाता। वर्तमान समय

में यह अन्याय बढ़ा हुआ है कि कुछ कहा नहीं जाता। एक लड़का जिसकी आयु 25 या 26 वर्ष की होगी, सुना गया होगा कि उसके चार या पांच विवाह हो चुके हैं। बस भली भांति विचार कर जो यह विवाह ही कन्याओं का नाश है।"[30]

हुक्म देवी कहती है कि रोगावस्था में 'स्त्री' के रूप–गुण, पवित्रता और पतिव्रता कोई महत्त्व नहीं रखती। पुरुष स्त्री को पाप समझता है। उससे छुटकारा पाकर नई स्त्री के साथ आनंद उड़ाने के लिए तत्पर रहता है। स्त्रियों को पैर की जूती समझने वाले देश में जिस प्रकार पुरानी जूती फटने पर नई जूती पहनने का प्रचलन है, उसी प्रकार विवाहित पुरुष की स्त्री मरने पर नई स्त्री लाने का भी प्रचलन है। चाहे किसी पुरुष की (मृतस्त्रीक) कितनी ही अवस्था क्यों न हो और 5 अथवा 7 पुत्र पुत्री भी हो परंतु वह विवाह एक खिलती हुई कली रूपी कुमारी कन्या के साथ करेगा।[31] इस कृत्य में केवल स्वार्थ निहित है प्रथम यौन संबंधी आवश्यकताओं का स्वार्थ, द्वितीय आर्थिक स्वार्थ। लेखिका उस स्वार्थ को उदारहरण स्वरूप बताती है कि पुरुष कैसे अपनी स्त्री के जीवित रहने पर भी, एक कन्या के पिता को 3000 रुपये देकर पुनर्विवाह करने का आयोजन करता है किंतु कन्या की माता द्वारा लिया गया एक प्रण पुरुषवादी स्वार्थ पर विराम चिह्न लगा देता है। लेखिका इस प्रथा के विरोध में स्वयं स्त्री को प्रेरित करती है अर्थात कन्या की माता के साथ कन्याओं को भी प्रेरित करती है। वह लिखती हैं–"आज को अपने में प्रण करना चाहिए कि हम अपना विवाह सर्वदा कुमारों के साथ किया करेंगे यदि भाग्यवश कुमार न मिला तो कुमारी रहेगी परन्तु मृतस्त्रीक से विवाह न करेंगी...विवाह माता–पिता के अधीन नहीं बल्कि कन्या की प्रसनन्नता से होना उचित है।.... इसमें संदेह नहीं माता पिता की आज्ञा मानना पुत्र और पुत्री का कर्तव्य है, परन्तु जो धर्म के विरुद्ध हो उसको कदापि न माननी चाहिए।"[32]

हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता क्षेत्र में मृतस्त्रीक विवाह का प्रश्न समस्त स्त्रियों के लिए विचारणीय रहा। प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में इस प्रश्न पर अत्यधिक विचार–विमर्श 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका में हुआ। स्त्रियों द्वारा किए गए विचार–विमर्श से ज्ञात होता है कि यह प्रथा कोई 'नया अत्याचार' नहीं, यह प्राचीन वैवाहिक अत्याचार है। इस विषय में श्रीमती गुलाब देवी चतुर्वेदी का हुक्म देवी द्वारा मृतस्त्रीक विवाह के विरोध समर्थन पत्र पर संपादिका रामेश्वरी नेहरू के विचार दृष्टव्य है–"नया नहीं, स्वार्थी पुरुष इस अत्याचार का भी बहुत दिनों से प्रयोग करते आते हैं।"[33] यह तय है कि मृतस्त्रीक विवाह का प्रश्न भारतीय स्त्रियों

के लिए नया नहीं था, हाँ रूप और कथन अलग अवश्य हो सकता है जिससे श्रीमती गुलाबदेवी चतुर्वेदी इस प्रथा को 'नया अत्याचार' की संज्ञा देती हैं श्रीमती हुक्म देवी स्त्रीगत समस्या (मृतस्त्रीक विवाह) को हल करने के लिए स्त्रियों को संगठित होकर 'कन्या हितकारिणी महासभा' को स्थापित करने का प्रस्ताव रखती है। जिसका उद्देश्य मृतस्त्रीक विवाह के प्रति स्त्रियों में चेतना जागृत कर मृतस्त्रीक विवाह को रोकना था।

2.2.2 बाल विवाह और विधवा विवाह का प्रश्न

हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं ने 'बाल विवाह' और 'विधवा विवाह' के प्रश्न पर संघर्षीय अभियान चलाया। पत्रिकाओं में व्यक्त विवाहों की समस्या सामाजिक व्यवस्था में स्त्री के प्रति दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं। भारतीय प्रणाली में विवाह माता–पिता की रूचि अनुसार होने के कारण बालकों की प्रौढ़ता और अप्रौढ़ता पर ध्यान न देने से बाल विवाह की समस्या को स्थान मिला। इस विषय पर महावीरप्रसाद द्विवेदी स्त्री–पुरुष के सुखमयी जीवन के लिए स्त्री–पुरुष की परस्पर प्रीति को अनिवार्य मानते हैं। इसके लिए स्त्री–पुरुष का प्रौढ़ होना आवश्यक है जिससे दोनों विवाह प्रस्ताव स्वयं रख सकें। द्विवेदी पश्चिम वैवाहिक प्रणाली के विषय में बताते हैं कि पश्चिम सभ्यता में पहले पुरुष 'स्त्री' के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है किंतु बड़े–बड़े राजघरानों और स्त्री का स्वयं उच्च पद पर आसीन (महारानी) होने पर यह नियम बदल जाता है। इसके विपरीत भारतवर्ष में बालक–बालिकाओं के लिए 'विवाह' खेल से ज्यादा कुछ नहीं–''वास्तव में माता पिता का यह धर्म होना चाहिए कि अपनी सन्तति के सुख पर ध्यान रखें। हमारे भारतवर्ष में तो आजकल प्रायः विवाह ऐसी छोटी अवस्था में कर दिया जाता है बिचारे लड़के–लडकियों को ज्ञान ही नहीं रहता कि उस कौतूहल घटना को वे किस प्रकार अनजाने अपने समस्त जीवन के दुःख सुख का निपटेरा कर रहे हैं उन्हें तो वह एक खेल सा जान पड़ता हैं पर हाँ इस खेल ही से देश का देश अद्योगति को चला जा रहा है।"[34]

भारतीय समाज में इस कुप्रथा के परिणाम को प्रस्तुत करते हुए महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि इस विवाह से लड़के और लड़कियाँ कुचरित्र निकल जाते हैं, या ईर्ष्याद्वेष में घर का नाश कर बैठते हैं या उनकी संतान बलहीन उत्पन्न होती है। वहीं 'स्त्रीदर्पण' 1917 'विवाह के अनन्तर मनुष्य में अन्तर' नाम लेख में श्रीयुत पं. ब्रज कृष्ण गुर्टू भी 'बाल विवाह'

की प्राचीन पूर्व कथित धारणाओं का खंडन करते हुए 'बाल विवाह' को तत्कालीन समय से जोड़ते हैं। वह निश्चित समय पर विवाह करने पर बल देते हैं।

जिस प्रकार विवाह बालक–बालिकाओं के लिए खेल होता है उसी प्रकार सितंबर 1913 'प्रभा' पत्रिका में 'एक सुधार प्रिय' बाल विवाह को माता–पिता की मौज का साधन कहते हैं। बाल–बालिकाओं की इसमें कोई भूमिका नहीं होती और न ही उनके बारे में विवाह करने से पूर्व सोचा जाता है। उन्हें गौण रखना दूर की बात है बल्कि उन्हें संपूर्ण अंशों में अनाधिकारी बनाकर, अबोध संतानों का विवाह करना पाखंड के अतिरिक्त कुछ नहीं लगता है। 'सुधार प्रिय' पितृप्रधान समाज में विवाह संबंधी पिता के अधिकार पर व्यंग्य करे हुए लिखते हैं–"विवाह निश्चित करने का अधिकार पिता को और उसके साथियों को है, रूप और गुणों को पसन्द करने का अधिकार पिता को है, वधू विद्या पढ़ी हुई है या नहीं, इस बात पर विचार करने का अधिकार पिता को है, कन्या के पिता के साथ आनन्दपूर्वक ठहरावादि करने का अधिकार पिता को है विवाह को निश्चित रखना या तोड़ देना और विवाह होने देना या प्रथम ही उन विचारों को चूर–चूर कर देने का अधिकार भी पिता ही को है। ऐसी दशा सोचकर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उस 'वधु' के साथ विवाह करने का अधिकार पिता ही को है, वही अपनी इच्छाओं की परिपूर्ण तृप्ति कर लें।"[35] तात्पर्य यह है कि माता–पिताओं को बालक–बालिकाओं का विवाह करके उनके जीवन से खेलने का कोई अधिकार नहीं है। 'सुधार प्रिय' का बाल–विवाह का विरोध करने का यह बिल्कुल अर्थ नहीं है कि बालक–बालिकाएँ अपने माता–पिता के विरुद्ध हो जाए या अपनी मनमर्जी करें। मात्र माता–पिताओं को अपनी संतान के विवाह संबंध के समय शिक्षा, वय, गुण, रूप, शील, व्यवहार, प्रेम और रूचि का ध्यान कर 'वधू' और 'वर' की परीक्षा कर विवाह करना चाहिए।

पत्रिकाओं में 'बाल विवाह' के प्रमुख कारण श्रीयुत हरिहरसुरूप शर्मा, शास्त्री विद्याभूषण के अनुसार पितृऋण से जल्दी से जल्दी मुक्त होना और कट्टर सनातनी के अनुसार धर्मशास्त्रों में लिखित ऋतुमती कन्या के विवाह को अनुचित ठहराना है। कट्टर सनातनी कहते हैं यदि बाल विवाह की कुरीति को उठाकर लड़कियों का विवाह ऋतुमती होने के बाद किया जाए तो स्त्री संबंधी समस्त बुराईयाँ स्वतः दूर हो जाएगी।

'बाल–विवाह' और 'बाल–वैधव्य' भारतवर्ष में कम नहीं है। यह ऐसी पैदावर है जिसकी जो भारतीय समाज के अतिरिक्त देश किसी हिस्से में नहीं होती होगी। इसका

आधिपत्य केवल इस भातरवर्ष में ही है। 'मर्यादा' 1915 के अंक में हिंदू समाज की दशा पर श्रीयुत विश्वेश्वर दयालु चतुर्वेदी के लेख में विधवाओं की स्थिति ज्ञात होती है। वह बताते हैं कि भारतीय देश के तात्कालीन समय में सात लाख से अधिक बाल विधवाएँ मौजूद है और बड़ी उम्र की विधवाओं को मिलाकर यह मालूम हुआ है कि बंगाल, गुजरात व कुछ अन्य प्रांतों को मिलाकर प्रत्येक पाँच स्त्रियों में से एक विधवा है। इस प्रथा का प्रचलन अत्यधिक कुलीन ब्राह्मणों में प्रतिव्यक्ति के दस–दस विवाह से है। स्त्रियों पर हो रहे इस अन्याय को रोकने के लिए सोचने पर विवश करते है–''बंगाल में कुलीन ब्राह्मणों में एक व्यक्ति दस–दस विवाह कर लेता है। आप सोचें कि एक पुरुष के पीछे दस विधवाएँ जो प्रायः बालविधवाएँ होती है अपने जीवनों को नरक के सदृश यमयंत्रणा भोगने के लिए तैयार कर रही है संसार के जितने शोक–प्रद और दुःखी पदार्थ है हिन्दू विधवा की अवस्था उन सबसे अधिक शोचनीय है।"[36] इस समय स्त्रियों और पुरुषों दोनों ने मिलकर बाल विवाह का विरोध किया और बाल–वैधव्य से मुक्त कराने के लिए उनके पुनर्विवाह और उनकी शिक्षा पर बल दिया। चतुर्वेदी 'शिक्षा' का अर्थ फुटनोट में लिखते हैं–''शिक्षा किसे कहते हैं इस विषय में हरबर्ट स्पेंन्सर का यह मत है–"जिस ज्ञान को पाकर मनुष्य अथवा स्त्री शारीरिक और मानसिक उन्नति करते हुए सदाचार युक्त लौकिक वा परलौकिक बातों को सुलभता से ग्रहण कर सके उसका नाम शिक्षा है। भारतीय ललनाओं की आधुनिक शिक्षा दोषपूर्ण है। उसमें धार्मिक शिक्षा का अभाव है। एक विदेशीय विद्वान के कथनानुसार "Drink or touch not" अर्थात "या तो उन्हें पूर्ण शिक्षा दो या बिलकुल कोरी ही रक्खो।" हमको चलना अधिक उत्तम होगा क्योंकि जब तक हम उन्हें पूर्ण रूप से शिक्षित न बना लें हमारे लिए उनकी अधूरी विद्या लाभ के स्थान में हानिकारक ही होगी।"[37] बाल विधवाओं के पुनर्विवाह पर सभी ने समर्थन किया किंतु युवती विधवाओं के पुनर्विवाह पर लगभग सभी विचारक मौन रहे। कारण, विधवाओं द्वारा विवाह न करना उनके एकनिष्ठ प्रेम को दर्शाने का साधन माना गया। 1917 के 'स्त्रीदर्पण' में विधवा विवाह के असमर्थन में छपे एक लेख में भारतीय विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह न करने के लिए यूरोप में पुनर्विवाह से हुई आनंद क्षति से अवगत कर भारतीय विधवा स्त्रियों से पुनर्विवाह न करने की अपील की। विधवाओं के पुनर्विवाह की अपेक्षा उनको आत्मनिर्भर बनाने के लिए विधवा आश्रम खुलवाने और उनमें उन्हें शिक्षित करने की माँग की गई। वीरभारत तलवार भी विधवाओं की इस वास्तविक स्थिति से भलीभांति परिचित है उनके शब्दों

में–"विधवाओं के जीवन के एकाकीपन और उदासी को दूर करने के लिए उन्होंने तरह–तरह की व्यस्तताओं और जीवन में रचनात्मक कामों को करने का इंतजाम करने पर ही जोर दिया। विधवा आश्रमों को कायम कर विधवाओं को नए–नए हुनर सिखाने और उन्हें पढ़ना–लिखना सिखाने जैसे कार्यक्रमों में उत्साह दिखाया।"[38]

1910 'सरस्वती' पत्रिका में 'हिन्दू विधवा–आश्रम' लेख ऐसे विधवा आश्रम की जानकारी देता है जो 20 वर्ष पूर्व शिक्षित सज्जनों में 'अबला रक्षिणी' नामक सभा स्थापित करने के बाद विधवा आश्रम की आवश्यकता के अनुभव से 14 वर्ष पूर्व 'पूना' में खोला गया। आश्रम में प्रारंभिक वर्षों में 4 विधवाओं से शुरू हुआ। आश्रम में 100 स्त्रियाँ तत्कालीन समय में शिक्षा पाती है। इस आश्रम का उद्देश्य ऊँचे वर्णों की विधवाओं को, जिनमें पुनर्विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं थी, शिक्षा देना रहा जिससे वे विधवाएँ प्रतिष्ठापूर्वक अपनी जीविका प्राप्त कर सकें और शिक्षित भी हो जाएँ। विचारणीय बिंदु यह है कि कुलीन और उच्च कहलाने वाले ब्राह्मणों से बाल विधवा अथवा विधवा समस्या आरंभ होती है और उनकी स्त्रियों द्वारा पुनर्विवाह करना उनके धर्म को ठेस पहुँचाना है इसलिए उनके लिए 'विधवा आश्रम' जैसे आश्रमों की व्यवस्था की जाती है।

तत्कालीन समाज में 'बाल विवाह' और 'बाल वैधव्य' के आँकड़ों पर दृष्टि डाल लेनी आवश्यक है। इन आँकड़ों की जानकारी सर्वप्रथम जनवरी 1919 'स्त्रीदर्पण' में संपादकीय टिप्पणी 'जबरदस्ती वैधव्य' में 5 अक्टूबर 1916 को अलीगढ़ में हुई कांफ्रेंस में समाज सुधारकों की सभा के सभापति की ओर से दिए गए आँकड़ों से मिलती है–

आयु	विधवाओं की संख्या
1 वर्ष की आयु वाली	113
2 वर्ष की आयु वाली	70
2 से 3 आयु वाली	151
3 से 4 तक आयु वाली	603

4 से 5 तक आयु वाली	1131
5 से 10 तक आयु वाली	13069
10 से 15 तक आयु वाली	38849
15 से 20 तक आयु वाली	49555

इसके बाद अगस्त 1920 'स्त्रीदर्पण' में एक भारत महिला द्वारा प्रकाशित लेख 'महात्मा गांधी जी और भारत की विधवाएँ' में हिंदू–मुस्लिम बाल विवाहिता और बाल वैधव्य के आँकड़े प्रस्तुत किए गए। इसे खंडवाला ने 'नवजीवन' नामक पत्र से अंकित किया–

आयु	विवाहित स्त्रियाँ	विधवाएँ
0 से 1 वर्ष	13,212	1,014
1–2 वर्ष	17,753	856
2–3 वर्ष	49,787	1,807
3–4 वर्ष	134,105	9,273
4–5 वर्ष	302,425	17,703
5–10	22,19,778	94,240
10–15	1,00,87,024	2,23,032

इस तरह ज्ञात होता है कि भारत में साढ़े तीन लाख विधवाएँ 15 वर्ष से कम अवस्था की है जिनमें सत्रह हजार 5 वर्ष से कम अवस्था की है। हिंदू और मुसलमान विधवाओं की संख्या इस प्रकार है–

आयु	हिंदू विधवा	मुसलमान विधवा
0—1	866	109
1—2	755	64
2—3	1,564	166
3—4	3,987	5,809
4—5	7,603	1,281
0—5	14,775	2,133
5—10	77,585	14,276
10—15	1,81,507	36,264

प्रांतों अनुसार विधवाओं की संख्या इस प्रकार है–

बंगाल	17,583	संयुक्त प्रांत	17,209
बिहार	36,257	बड़ौदा	783
बम्बई	6,726	हैदराबाद	6,782
मद्रास	5,049		

इन आँकड़ों के पश्चात् 'प्रभा' नवंबर 1920 में 'भारत में जनसंख्या की समस्या' के ह्रास के कारणों से समस्त स्थिति स्पष्ट हो जाएगी–

	विवाहित		अविवाहित		राँड	रँडवा
हिंदू	50	47	31	47	19	6
मुसलमान	47	49	38	53	15	4

लेख में आँकड़ा प्रस्तुत करने वाला लेखक बताता है कि 5 वर्ष से कम की लड़कियाँ हिंदुओं में 18 प्रति मील के हिसाब से विवाहित है, जबकि मुसलमानों में केवल 5 प्रति मील के हिसाब से ही विवाहित है। 5 से 10 वर्ष तक लड़कियाँ हिंदुओं में 1000 से 132 विवाहित है मुसलमानों में 1000 में केवल 65 ही। 15 से 40 वर्ष तक की स्त्रियाँ हिंदुओं में 1000 में 837 प्रति मील और मुसलमानों में 860 प्रति मील विवाहित है। अर्थात 10–15 वर्ष तक, जब तक कि लड़कियाँ कम अवस्था की ओर पत्नित्व एवं मातृत्व के सर्वथा अयोग्य होती है तब तक तो विवाहित लड़कियों की संख्या हिंदुओं में अधिक होती है परंतु ज्योंहि 15 से 40 वर्ष तक उत्पादक शक्ति की अवस्था का समय आता है त्योंहि विवाहित हिंदू स्त्रियों की संख्या से कम हो जाती है।

'प्रभा' और 'स्त्रीदर्पण' दोनों पत्रिकाओं में हिंदू–मुस्लिम विधवाओं के दिए गए आँकड़ों में अंतर का कारण हिंदुओं में प्रचलित 'बाल विवाह' और 'विधवा विवाह' का न होना है–"मुसलमानों में हिन्दुओं की प्यारी प्रथा बालविवाह नहीं और हिन्दुओं की त्याज्य प्रथा विधवा विवाह मुसलमानों में प्रचलित है। इसी से मुसलमान विवाह की हानियों से भी बचते हैं और अपनी संख्या भी बढ़ा लेते हैं।"[39]

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में देखा जाए तो स्त्रियों की अपेक्षा अत्यधिक पुरुष विधवा विवाह का समर्थन करते दिखते हैं। ऐसी स्थिति में जब 'स्त्रीपदर्पण' की संपादिका ही विधवा विवाह की माँग पर लड़कियों के विवाह योग्य उम्र को बढ़ाने की

सिफारिश करती है। तब यह कहना आसान हो जाता है कि वास्तव में स्त्रियाँ विधवा विवाह की विरोधी नहीं थी क्योंकि स्त्री विचारकों का विधवाओं के प्रश्न पर नजरिया सुधारक और पुरुषों का उद्धारक जैसा था। जबकि इसमें पुरुषों द्वारा किया गया उद्धार स्त्रियों का नहीं, पुरुषों जाति के उद्धार के रूप में विधवा विवाह को देखा। उनके उद्धार का संबंध ऐसी कन्याओं और विधवाओं की गुहार से जो अपने पति के साथ न रहती हो और जो 15 वर्ष से कम की अवस्था हो। जबकि स्त्रियों का दृष्टिकोण इससे भिन्न मई–जून 1919 के 'स्त्रीदर्पण' की संपादकीय टिप्पणी में प्रकट होता है–"जो विधवाएँ देवी पद पर सुशोभित रहकर निष्काम धर्म की मूर्तिमती देवी बनी है वे हमारी और सारे संसार की पूजनीया हैं। पर प्रश्न है उन बेचारियों का जो लालसा दमन नहीं कर सकती और विवाह के लिए तरसती हैं। वे बालाएँ भी है और युवतियाँ भी है। हमारी समझ में यही बात नहीं आती कि हमारे देश के नेता एक विवाह के लिए सम्मति देते हैं तो दूसरी के लिए क्यों नहीं देते।"[40] ध्यान देने योग्य बिंदु यह है कि स्त्रियाँ सुधार के नाम पर भिन्न वर्गों में बाँटी जा रही थी।

2.2.3 पर्दा प्रथा का प्रश्न

स्त्री का अस्तित्व प्राचीनता से पुरुष के लिए संपत्ति के रूप में रहा है। पुरुषों की तथाकथित संपत्ति पर किसी की दृष्टि न जा पाए इसलिए उसे अनेक बंधनों में बाँधने का प्रयास किया जाता रहा है। उनमें से एक बंधन 'पर्दा' है। पुरुषों का यह स्वार्थवादी विचार अपनी संपत्ति सुरक्षित रखने का माध्यम बना और इसने पुरुषों को स्त्रियों पर आधिपत्य रखने का अवसर प्रदान किया। इस प्रथा से जितना लाभ पुरुषों को हुआ उससे अधिक इसने स्त्रियों को वैयक्तिक शारीरिक, मानसिक रूप से हानि पहुँचाई। श्रीमती कमला देवी श्रीवास्तव के शब्दों में–"पर्दे की प्रथा ने तो भारतीय स्त्रियों को अजायबखाने का एक अनोखा जन्तु बना रखा है। ये संसार की गति से नितांत अनभिज्ञ रहती है और घर के भीतर की गंदी वायु के सेवन से क्षीणकाय भी हो जाती है। दशा इतनी खराब हो गई है कि विपत्ति आने पर ये अपनी रक्षा तक नहीं कर सकतीं। पुरुषों के विचार से स्त्री एक अधम प्राणी है जो सबकुछ सहन करने के लिए बनाई गई है।"[41]

राष्ट्र विकास की आवश्यकता के रूप में चुनिंदा स्त्री जीवन सुधार में पर्दा प्रथा एक बहुत बड़ी अड़चन थी। स्त्री को नरकीय जीवन जीने को विवश करने वाली इस प्रथा को

हटाने से पूर्व विचारकों ने इस प्रथा की उत्पत्ति के कारणों को जानना आवश्यक समझा। उन्होंने इस प्रथा के प्राचीनतम संबंध को धार्मिक–पौराणिक व्यक्तित्व सीता, सावित्री, दमयंती, शकुंतला और द्रौपदी के उदाहरणों से नकारा।[42] उन्होंने इस प्रथा के प्रचलन का कारण मुस्लिम संस्कृति और विदेशियों के आगमन को माना। उनके अनुसार मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव इस हद तक भारतीयों पर पड़ा कि उनके लिए अपनी संस्कृति को बचाना मुश्किल हो गया। श्रीयुत रामलाल पहारा के शब्दों में–''यथार्थ हिन्दुस्तान के हिन्दुओं ने इतनी उग्रता से और निष्ठुरता से परदा चला दिया है, कि परदे वाले मुसलमानों के स्वास्थ्य पर परिणाम बहुत ही बुरा व्यक्त हुआ है। मुसलमानों की परदानशीन ललनाओं की नसों में वही रक्त प्रवाहित होता है, परन्तु यह देखा गया है कि बुरका के कारागृह–वास के कारण मुस्लिम स्त्रियाँ धीरे–धीरे एक प्रकार के चर्म रोग से ग्रसित हो रही है। वे शुष्क और बहुत पीली दीखती हैं, यद्यपि वे भी वही वायु–सेवन करती है और उसी स्वास्थ्यजनक प्रदेश में रहती है।"[43] स्त्रियों का जीवन यथा–नष्ट हो जाए[44] किंतु धर्म और संस्कृति नष्ट नहीं होनी चाहिए! पर्दा के रूप में मुस्लिम धर्म और संस्कृति को अभिन्न अंग मानकर, अनुशीलन करने वालों के भ्रम का निवारण श्रीमती सत्यवती देवी मिश्र अपने इन शब्दों में करती हैं–"हिन्दुओं के धर्म में ढूँढ़े से भी कोई ऐसी बात नहीं पाई जाती कि जिसे पर्दे के पक्षपाती तोड़ मरोड़कर, खींच तानकर भी अपने पक्ष में कह सकें। दुर्भाग्य से हमारे मुसलमान भाइयों के धर्म में कुछ बातें आ गई है जिनसे पर्दे के पक्षपातियों का बहुत काम निकल रहा है। मैं मुसलमानी धर्म को जानती नहीं, इसलिए इस संबंध में केवल एक ही दो बात कहकर शेष में उन लोगों पर छोड़ती हूँ जो विषय के जानकार हैं। सुना जाता है कि जिस जमाने में मोहम्मद साहब पैदा हुए थे उस जमाने में अरब में स्त्रियाँ ऐसे वस्त्र पहिना करती थीं जो स्त्री के लिए शर्म का कारण थे। स्त्रियों से यह वस्त्र छुड़वाने के लिए मोहम्मद साहब ने आज्ञा दी कि स्त्री को उचित है कि वह ऐसा वस्त्र पहिने जिसे से उसका सारा शरीर ढक जाए इसी आशा को लेकर पुरानी चाल के पक्षपातियों ने कहना आरंभ कर दिया कि बुरके बिना मुसलमान स्त्री को कहीं जाने की आज्ञा नहीं और धीरे धीरे पर्दे की कैद ऐसी सख बढ़ा दी कि किसी किसी जगह वह असहनीय है। इसके सिवा मोहम्द साहब ही के जमाने में अपने कुटुम्ब की स्त्रियाँ घोड़ों पर चढ़ा करती थीं, यदि जो पर्दा मुसलमान घरानों में आज दिन किया जाता है उसकी आज्ञा

मोहम्मद साहब ने दी होती तो काहे को उनके घराने की स्त्रियाँ घोड़ों की सवारी कर सकतीं।"[45]

स्त्रियों के लिए पर्दा 'पराधीनता' और 'परतंत्रता' का प्रतीक है। देखा जाए स्त्री पर अरोपित 'पर्दा प्रथा' स्त्रियों की पराधीनता और परतंत्रता की तुलना में, कुछेक देशों (भारत और इस्लामी देशों को मिलाकर) के कुछेक भागों में 'पालन किए जाते हुए भी अधीन से अधीन होने की क्रिया है। इसलिए श्रीमती रामेश्वरी नेहरू स्त्रियों के लिए पर्दा प्रथा को अस्वीकार करना, उनकी स्वतंत्रता का पहला पड़ाव मानती है–"पर्दा केवल हिन्दुस्तान और वह भी हिन्दोस्तान के कुछ भागों ही में और कुछ मुसलमानी देशों में किया जाता है परन्तु स्त्रियों की अधीनता और परतंत्रता संसार व्यापक है। किसी बेपर्दा स्त्री का स्वतंत्र होना आवश्यक नहीं जबकि हर पर्देवाली स्त्री का अधीन और परतंत्र होना लाजिम है पर्दे को तोड़ना स्वतंत्रता को प्राप्त करने का पहिला जीना है।"[46]

भारतीय समाज का दुर्भाग्य कहिए कि इन कुरीतियों को चलाने वाले संचालक (उच्च और मध्यम वर्ग के लोग) इन प्रथाओं का आरंभ सहज कर डालते हैं। इन प्रथाओं को चलाने के लिए उनके पास उपाय भी काफी होते हैं किंतु उन निम्न वर्ग के लोगों का क्या? जिनके पास इन प्रथाओं को मानने के अलावा और कुछ उपाय नहीं। अभिप्राय यह है कि ये प्रथाएँ कहीं न कहीं उच्च और मध्यम वर्ग की पोषक तत्व है जिसके चक्र में आकर पिसना निम्न वर्ग को पड़ता है। उनमें न उच्च और मध्यम वर्ग की कुप्रथाओं को अपनाकर पूर्णतः अनुकरण करने का सामर्थ्य होता है, न उन्हें तोड़ डालने का। यह श्रीमती भाग्यवती देवी के शब्दों से स्पष्ट हो जाता है–"अधिकतर भारतवासियों की तो आय ही कितनी सी है? पुनः जिनके पात्र थोड़ा बहुत धन है भी तो उसे पहिले तो कुटुम्ब का उदर पोषण किया जाएगा, तब यदि थोड़ा बहुत धन शेष रहा तो उसमें से गृहस्थी के व्यय यथा रोगों की औषधि तथा दूसरे प्रयोजन पूरे किये जाएँगे। यह भी चिंता होगी कि कन्या के विवाह के लिए धन एकत्र करें। अब विरोधियों को निष्पक्ष होकर सम्मति प्रकाश करना उचित है कि कितने भारतवासी हैं जो अपनी बालिकाओं को शिक्षित बनाने के प्रेमी होते हुए भी पाठशाला जाने आने के लिए गाड़ी का प्रबंध करने में असमर्थ होंगे?[47]

पर्दा प्रथा स्त्रियों को जितना डरपोक बनाती है उतनी ही उनमें बेपर्दा की भावना स्वतंत्रता का आभास कराती है। यह ऐसे भीरूपन और स्वतंत्रता का पक्ष लेती है। जिसमें

स्त्रियाँ अपने अस्तित्व के विषय में सोचने पर विवश होती है न कि अपने अस्तित्व से इतर।[48] परंतु यह स्त्रियों की विडंबना है कि स्त्रियाँ ही इसे संदेह की दृष्टि से देखती है। यह वैचारिक दोष स्त्रियों का नहीं बल्कि परिवेश का है–"स्त्रियों को अपने ही विरुद्ध ऐसे हानिकारक विचार रखना कोई अचम्भे की बात नहीं है। हम अपने विचार अपने आस–पास के लोग और चीजें हमारे विचार अपने विचार बन जाते हैं। इसलिए यदि हम स्त्रियाँ अपनी आजादी ही को संदेह की दृष्टि से देखती है तो इस में कोई आश्चर्य की बात नहीं है।"[49] प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में पर्दा प्रथा का हटाया जाना स्त्री अस्तित्व के विकास के लिए अनिवार्य आवश्यकता थी। भारतीय समाज में स्त्री–शिक्षा की अनिवार्यता अथवा जागरूकता संबंधी अभियान ने 'पर्दा प्रथा' की कम अवश्य किया।

2.2.4 सती प्रथा का प्रश्न

'सती प्रथा' पुरातन भारतीय हिंदू समुदायों में प्रचलित धार्मिक कुरतियों में से एक थी जिसमें किसी विवाहित स्त्री के पति के मृत्युपरांत हुई विधवा अपने पति के अंतिम संस्कार के दौरान उसकी जली हुई चिता में प्रविष्ट होकर आत्मदाह करना पड़ता था। कानूनी रूप से सती प्रथा को 1829 में गैरकानूनी घोषित करने के बावजूद सती की कुरीति का विशेष आग्रह समाज में देखने को मिल जाता था। सती प्रथा या सती का आग्रह समाज एवं स्त्रियों को आहत करने वाला था। प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं को भारतीय समाज की सतियों की संख्या और समाज में उनके प्रति दृष्टिकोण दोनों विचारणीय लगा। जहाँ तक प्रश्न सतियों की संख्या का है जनवरी 1911 'सरस्वती' के अंक में त्रिलोकचन्द सतियों की संख्याओं से आहत होकर सती प्रथा समर्थन करने वाले पौराणिक ग्रंथों का खंडन करते हैं। वह जहाँगीर के राज्य में जयपुराधिपति महाराजा भावसिंह की 60 रानियों के उनके शव के साथ सती होने, मारवाड़ के राजा अजित सिंह की 5 रानियाँ और 58 दासियों के चितानल में उनके शरीर विसर्जन से 1840 ईस्वी में राजा रंजीत सिंह के देहान्त उपरान्त उनकी 4 रानियाँ और 9 दासियों के सती होने से आहत होते हैं। वह पौराणिक ग्रंथों का यह कहकर खण्डन करते हैं कि–"कहा गया है, महाभारत के समय इस देश में यह प्रथा प्रचलित थी। 'राजतरंगिनी' ग्रंथ के अनुसार कवियुग के 657 वर्ष बीतने पर कौरवों–पाण्डवों का समय प्रतीत होता है।

इस विचार से (यदि यह मत स्वीकृत हो) न्यूनाधिक 4500 वर्ष पूर्व इस देश में यह प्रथा वर्तमान थी। परन्तु पुराणादि से मालूम होता है। उस समय में भी अब आर्य–विधवायें पति का अनुगमन न करती थी। कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा, कुन्ती इत्यादि सती नहीं हुई।"[50]

दृष्टव्य है कि यह प्रथा 1829 को कानूनी रूप से रोक लगाने पर भी 1846 तक इसे गैरकानूनी घोषित करने का समर्थन किया जाता रहा। यहाँ तक कि स्वाधीनता के पश्चात् यह प्रथा छिट–पुट घटनाओं के रूप में जारी रही।[51] इसका कारण सतियों को महिमामंडित देखने की परंपरा में निहित था। जिसका विरोध श्रीयुत महेन्द्र लाल गर्ग इन शब्दों में करते हैं–"जुलाई के स्त्री दर्पण के फतेहगढ़ की एक मिश्रानी जी की उस स्त्री की बड़ी प्रशंसा की है जिसने अपने पति के पहिले मिट्टी के तेल के सहारे आत्मघात कर लिया। इस कर्म का नाम 'सती होना' बताया जाता है। उस स्त्री के कई बालक भी वर्तमान थे। उसे केवल इस बात का भय लग रहा था कि वह कहीं विधवा न हो जाय। इस आचरण की मिश्रानी जी ने बड़ी प्रशंसा की हैं परंतु मैं इसको निरा पागलपन समझता हूँ। और 'स्त्रीदर्पण' की चूँकि संपादिका जी से आग्रह करता हूँ कि वे ऐसे लेख अपने पत्र में कभी प्रकाशित न किया करें।

'स्त्रीदर्पण' में एक ओर तो स्त्रियों की स्वाधीनता का पाठ पढ़ाया जाता है, उनको जिम्मेदारी के काम उठाने के लिए उत्साहित किया जाता है, और दूसरी ओर उन्हें आत्मघात सरीखे महापाप के लिए सराहा जाता है। जो स्त्री आत्मघात करके मर गयी है, उसके संतान भी वर्तमान थी और स्त्री का सबसे बड़ा धर्म उनको लालन–पालन करके योग्य बनाना था, न कि उनको बुड्ढ़ों ससुर के ऊपर छोड़ जाना! मुझे उन बच्चों पर बड़ा तरस आता है जिन पर माँ का भी मोह स्थिर नहीं रहा।"[52] आत्मघात और आघात दोनों में भेद है पर दोनों का संबंध बड़ा जटिल है। आघात के बिना आत्मघात संभव नहीं हो पाता। एक स्त्री अपने पति के बिछुड़ने पर अपने प्राणों की परवाह क्यों नहीं करती क्योंकि उस पर बचपन से विचारात्मक आघात किया जाता है। वही आघात आगे चलकर उसे आत्मघात के लिए प्रेरित करता है। अजीब सामाजिक नियम है–निष्ठुर भीषण परिस्थितियों में किया गया 'आत्मघात' आत्मघात है और पति प्रेम में किया गया 'आत्मघात' पागलपन रूपी उत्कट विचार। 'स्त्रीदर्पण' की संपादिका के शब्दों में–"सती स्त्री अपने पति के विछोह से अपने प्राणों या प्राणप्रिय सन्तति तक की परवा नहीं करती और पति के पहले ही इस लोक से चलना अच्छा समझती हैं यह शायद कहीं कहीं पागलपन समझा जावे, परन्तु सती ऐसा नहीं समझती।

इसमें संदेह नहीं कि संसार में किसी प्रकार का भी उत्कट विचार और उसका कार्यरूप में कर डाला, चाहे वह कितना ही उत्तम क्यों न हो, पागलपन के बिना पूर्ण नहीं हो सकता, पर निष्ठुर भीषण उपायों से आत्मघात कर बैठना धर्म है या नहीं, इस बात में भारी शंका होगी।"[53]

यह आश्चर्यजनक है कि एक ओर स्त्रियों को जागृत करने का प्रयास किया जाता है दूसरी ओर उन्हें आत्मघात करने के लिए प्रेरित भी करते हैं। पति को परमेश्वर मानकर जीवन नष्ट करने के पीछे समाज का भावात्मक दबाव होता है।

2.2.5 दहेज प्रथा का प्रश्न

तत्कालीन समाज में सामाजिक समस्याओं के रूप में सती प्रथा और पर्दा प्रथा के अलावा दहेज प्रथा भी मौजूद थी। इस प्रथा को 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका में एक अन्य नाम 'तिलक दहेज' से भी व्याख्यायित किया है। इस प्रथा ने पहले से ही असमानता से ग्रसित समाज में भारी असमान असंतुलन बनाने का काम किया। यह प्रथा मानो ऊँचाईयों तक पहुँचाने वाला व्यवसाय थी। इसमें जिस स्त्री से विवाह किया जाना होता है उसे और उसके दहेज लेने–देने वाले पक्ष से कोई सरोकार न होकर पैसों से सरोकार होता है। ऐसी स्थिति में यह भुगतान स्त्रियों को इन रूपों में करना पड़ता है–"धन की कमी के कारण कभी कभी वह उसका विवाह किसी अयोग्य व्यक्ति के साथ कर गुजरना है जिससे उस बेचारी का जीवन आमरण कष्टों से घिरा रहता है। हिन्दू समाज में जो साठ वर्ष के बूढ़े बाबा के साथ कभी–कभी आठ वर्ष की अल्प–व्यस्यक कन्या का विवाह हो जाता है। ब्याह हो जाने पर पति के घर में नववधू को यथेष्ठ सुख नहीं मिलता। वहाँ भी उसकी बड़ी उपेक्षा और तिरस्कार होता है। यदि वह बेचारी बीमार हुई तो उसकी चिकित्सा और सेवा भी ठीक ठीक नहीं होती। और जहाँ, वह मरी वहाँ उसका पति आनन्द से दूसरा विवाह करके अपने घरवालों के लिए हजारों रुपये ला देता है।"[54] सर्वप्रथम यह प्रथा अमीर वर्ग के कारण समाज में विराजमान है द्वितीय कुलीन वर्ग इसके प्रचलन का प्रधान कारक है। गोपालशरण सिंह के शब्दों में–"ये बातें उन लोगों के घरों में और भी अधिक होती है जो अपने को कुलीन मानते हैं। उन लोगों का विवाह बिना परिश्रम के हो जाता है और उन्हें दहेज में और लोगों की अपेक्षा अधिक धन भी मिलता है। कुलीन होना चाहिए, फिर चाहे वह गरीब और मूर्ख भी हो

तो भी उसकी कीमत विवाह के बाजार में बहुत अच्छी होगी। यह कृत्रिम कुलीनता इस कुप्रथा के प्रचलित होने का प्रधान कारण है।"[55]

इस प्रथा को समाप्त करने के लिए तीन बातें आवश्यक समझी गई है। चूँकि भारतीय समाज धनी–संपन्न और कुलीन व्यक्तियों के दहेज प्रथा के संक्रमण से संक्रमित है इसलिए प्रथमः धनी–संपन्न व्यक्तियों को इसे समाप्त करने की पहल करनी चाहिए क्योकि गरीब एवं निम्न असंपन्न व्यक्ति इस कुप्रथा के चक्रव्यूह में फँसते हैं–"इस बात का ध्यान हमारे धनी भाइयों को करना चाहिए, क्योंकि सब लोग धनी भाइयों की ही देखा देखी सब कार्य करना चाहते हैं। यदि किसी धनी भाई ने पांच हजार तिलक के लिये तो दूसरे भाई कहेंगे "भाई, राय साहब ने तो पांच हजार लिया, हम क्या दो हजार से भी गये है? हमारा लड़का एफ.ए. पढ़ता है, अब बी.ए. में जायेगा तो चार हजार मिलेगा, मैं क्यों हजार पांच सौ में विवाह करूँ? क्या मेरी इज्जत राय साहब से कुछ कम है या मेरा लड़का राय साहब के लड़के से कम पढ़ा है? मैं तो बिना दो हजार लिये कभी तुम्हारी कन्या से विवाह नहीं करूँगा।[56]

द्वितीय शिक्षा के अज्ञान से अशिक्षित व्यक्ति भी दहेज लेने और देने से नहीं चूकते। स्वयं को प्रगतिशील और शिक्षित बनाने की होड़ इनके जीवन को नष्ट कर देती है। इसलिए पत्रिकाओं में शिक्षित और युवावर्ग (दृढ़ निश्चय के साथ) दहेज न लेने और न देने का प्रेरणास्रोत बना–"समाज के शिक्षित लोगों से मेरा कुछ निवेदन है। शिक्षित लोगों पर ही समाज के हिताहित का ध्यान रखने का भार रहता है। वे ही कमाल के नेता है और जो कुछ वे करते हैं उसी का अनुसरण धीरे–धीरे अशिक्षित लोग भी करने लग जाते हैं। अतएव हमारे शिक्षित भाइयों का कर्तव्य है कि वे इस हानिकारक कुप्रथा का निर्मूलन करने की चेष्टा करें। मैं यह मानता हूँ कि उन्हें ऐसा करने में कठिनाईयों का सामना करना पड़ेगा और कष्ट भी उठाने पड़ेंगे। परन्तु दृढ़ रहने से सफलता भी अवश्य प्राप्त होगी। उन्हें चाहिए कि वे स्वयं दहेज न लें और दूसरों को भी ऐसा करने से रोकें। उनके उदाहरण का लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा और यह प्रथा धीरे–धीरे उठने लगेगी। हमारे विद्यार्थी भी इस विषय में बहुत कुछ कर सकते हैं उन्हें जो शिक्षा मिल रही है उसके योग्य पात्र वे तभी बन पाएँगे जब वे अपनी समाज की कुरीतियों को दूर करने का यत्न करेंगे। उन्हें चाहिए कि वे ऐसा विवाह करने से साफ इन्कार कर दें जिसमें दहेज लिया जाए। यदि ऐसा करने से उनके माता–पिता नाराज हो जाएँ तो भी उन्हें इसकी परवाह न करनी चाहिए।"[57]

अतः सरस्वती, स्त्रीदर्पण आदि पत्रिकाओं में गोपालशरण एवं श्रीमती विन्ध्यवासिनी देवी के लेखों ने सामाजिक कुरीतियों के रूप में विख्यात इन प्रथाओं का विरोध ही नहीं बल्कि इन कुप्रथाओं को हटाने के लिए दृढ़ संकल्प लेने की अपील की है। वास्तविकता यह है कि दृढ़ संकल्प के अभाव में ही यह प्रथा जस की तस भयावह रूप में मौजूद है।

2.2.6 स्वास्थ्य का प्रश्न

शिक्षा के अभाव और पारंपरिक रूढ़ियों के पोषण ने स्त्रियों को शारीरिक और मानसिक दोनों रूपों से क्षति पहुँचाई। स्वस्थ शरीर स्वस्थ मानसिकता या विचारों का पोषक होता है। पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता के छत्रछाया में स्त्रियों के जीवन को सुधारने के प्रयास में स्त्रियों के स्वास्थ्य संबंधी जानरूकता प्रदान की। स्त्रियों की अपने स्वास्थ्य के प्रति अजागरूकता, परिवार, समाज और स्वयं के अस्तित्व को नष्ट किए जा रही थी। प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं का स्त्रियों के स्वास्थ्य के प्रति अजागरूकता के प्रति लगातार यह प्रयास रहा कि स्त्रियों में स्वास्थ्य संबंधी जागरूकता लाई जाए। हालांकि पत्रिकाओं ने स्त्रियों को उनके स्वास्थ्य के प्रति जागरूक करना समाज और परिवार को नष्ट करने से बचाना था लेकिन इस जागरूकता ने शारीरिक संरचना के अनुरूप स्त्री स्वास्थ्य संबंधी अज्ञान को दूर करने में मदद की। अगस्त 1903 'सरस्वती' में 'गर्भ के आकार और परिमाण' शीर्षक से महावीरप्रसाद द्विवेदी का लेख में भारतीय स्त्रियों के अज्ञान (गर्भ उत्पन्न करना ईश्वर के अधीन है) से स्त्रियों और बच्चों के स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव को कम करने के लिए स्त्रियों के गर्भधारण संबंधी महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक जानकारी दी गई है। महावीरप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं–"बहुत से लोग विशेष करके स्त्रियाँ यह समझती है कि गर्भ उत्पन्न करना ईश्वर के अधीन है। यों तो ईश्वर सभी बातों को प्रेरक है, कोई काम उसकी आज्ञा बिना नहीं हो सकता। यहाँ तक कि उसकी इच्छा बिना पेड़ को एक पत्ती तक नहीं हिल सकती। परन्तु जैसे खाने–पीने, पढ़ने–लिखने, उठने बैठने और उद्योग धन्धा करने आदि में 'प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर का कर्तव्य नहीं' पाया जाता, वैसे ही गर्भ संचार होने में भी उसकी प्रत्यक्ष सहायता नहीं देखी जाती। गर्भ संचार होना कुछ नियमों के अधीन है; नियम के अनुसार एक विशेष प्रकार की घटना होने से ही गर्भ का संचार हो जाता है।"[58]

पत्रिकाओं में स्त्रियों को स्वास्थ्य के प्रति जागृत करने का उद्देश्य स्त्रियों की गर्भावस्था के दौरान घटित होने वाली दुर्घटनाएँ थीं। गर्भस्थ शिशु अथवा बालकों की अकाल मृत्यु के कारण बनाते हुए यू. एच. देसाई एम. डी. (यू. पू. सिविल सर्जन केप का सोनी) लिखते हैं–"

(क) गर्भवती स्त्रियों की शरीर रक्षा पर ध्यान न देना और उस विषय का अज्ञान

(ख) प्रसव काल में जच्चा बच्चा का रक्षा के संबंध में दाई और डाक्टरों की भूल

(ग) प्रसव हो चुकने पर जच्चा बच्चा के खान–पान में अव्यवस्था।

(घ) बच्चे की हर तरह की बीमारी का इलाज करने में माता–पिता का अज्ञान और डाक्टरों, वैद्य, हकीमों का आलस्य।"[59]

20वीं शताब्दी की पत्रिकाओं में स्त्री स्वास्थ्य रक्षा के समानान्तर प्रसूति और शिशुरक्षा का प्रश्न बहुत बड़ा था। श्रीमती हेमन्त कुमारी चौधरानी का 'स्त्रीदर्पण' में प्रकाशित लेख 'प्रसूति और बाल रक्षा' (1920), 1914 'सरस्वती' में प्रकाशित ए. एच. देसाई का लेख 'बालकों की बढ़ती हुई मृत्यु', महावीरप्रसाद द्विवेदी के लेख 'सरस्वती' मई 1903 में 'गर्भ संचार' अगस्त 1903 में 'गर्भ के आकार और परिमाण', नवंबर 1903 में 'प्रसूति', दिसंबर 1903 में 'रजोदर्शन' आदि में गर्भाधारण से लेकर गर्भावस्था में शरीर रक्षा, प्रसूति काल में जच्चा–बच्चा की रक्षा, उसका खान–पान, प्रसूति में घर की स्वच्छता की बात कही गई है।

स्वास्थ्य के संबंध में सभ्य और असभ्य स्त्रियाँ कोई मायने नहीं रखती। अपने अज्ञान–अशिक्षा के कारण असभ्य स्त्रियों की स्वास्थ्य रक्षा संबंधी चेतना की सबसे अधिक आवश्यकता थी लेकिन महावीरप्रसाद द्विवेदी को असभ्य की अपेक्षा सभ्य स्त्रियों को स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा देने को अधिक आवश्यकता अनुभव होती है। इसका कारण देते हुए वे लिखते हैं–''जो लोग सुशिक्षित नहीं है, असभ्य है, उनमें प्रसव वेदना कम होती है। दुर्घटनायें भी प्रायः कभी नहीं होतीं। क्योंकि उनकी स्त्रियाँ स्वाभाविक अवस्था में रहने के कारण शरीर से दृढ़ होती है। अफरीका के जंगली मनुष्यों की स्त्रियों को प्रसव–वेदना बहुत ही कम होती हैं प्रसूति होने पर तत्काल ही वे स्नान कर डालती है और हल जोतने लगती है। साइबेरिया की स्त्रियाँ, प्रसूति के अनन्तर, स्वयं एक दिन भी नहीं लेटी रहतीं। वे अपने पतियों को लेटा रखती है और स्वयं उनकी सेवा करती हैं। तातार देश के खारडन प्रदेश की स्त्रियाँ, प्रसूत

होने पर, बालक को धोकर उसे अपने पतियों को दे देती है। पति उसे लेकर 40 दिन तक लेटे रहते हैं। जैसे वे ही प्रसूत हुए हो।

असभ्य स्त्रियों की अपेक्षा सुशिक्षत और सभ्य देश की स्त्रियों में बड़ा अन्तर है। सभ्य देश की स्त्रियों का शरीर और मन अधिक कोमल होता है। वे अधिक सज्ञान भी होती है। इसीलिए उन पर सुख दुःख का प्रभाव अधिक पड़ता है। जब वायु और रहने की स्थिति के कारण भी सुशिक्षित देश की स्त्रियों की प्रकृति असभ्य देश की स्त्रियों की प्रकृति से भिन्न हो जाती है। फिर सभ्य देश की स्त्रियाँ बहुधा गर्भाशय–संबंधी रोगों से भी पीड़ित रहती है। उनको और भी अनेक बीमारियाँ सताती रहती है। इन्हीं कारणों से उन्हें प्रसूति की वेदना अधिक सहनी पड़ती हैं उनकी प्रसूति में अनेक दुर्घटनायें भी इन्हीं कारणों से होती है।"[60] माना महावीरप्रसाद द्विवेदी कम उम्र की स्त्रियों में प्रसूति वेदना और दुर्घटना या आठ नौ लड़के होने के अनंतर प्रसूति में माता और बालक के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने से चिंतित थे। परंतु क्या ये सब घटनाएँ एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सुशिक्षित वर्ग के लिए संभव है? उम्र और संतानों की संख्या को देखते हुए यह बिलकुल संभव नहीं है कि सुशिक्षित देश में ऐसी घटनाएँ होती होंगी। उनके इस दृष्टिकोण से स्त्रियों को पश्चिमी सभ्यता से विमुख करने की मंशा परिलक्षित होती है। एक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण यू. एल. देसाई द्वारा दृष्टव्य है। जिसमें वह स्त्रियों का स्वास्थ्य अच्छा न रहने के कारण माँ के दूध की अपेक्षा बच्चों को गाय का दूध पिलाने का सुझाव देते हैं–"बच्चों की मृत्यु को रोकने के लिए गाय का दूध पिलाना ही श्रेयस्कर है। जन्मते ही उसे माता के दूध का पहले संसर्ग न होने दिया जाए। चमचे से गाय का दूध पिला कर बीच–बीच में माता का दूध पिलाया जाए।"[61]

पत्रिकाओं में स्त्रियों को स्वस्थ, निरोग रहने के लिए ''तीन चीजें बहुत जरूरी हैं। पहिले साफ हवा, दूसरे साफ पानी, तीसरे साफ भोजन। साफ मकान और साफ कपड़े भी जरूरी है, मगर इतने नहीं।"[62] इनके अलावा स्त्रियों के शारीरिक, आत्मिक और मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए व्यायाम को दैनिक जीवन में आवश्यक माना। श्रीमती जानकी दुलारी गुर्टू के शब्दों में–"आरोग्यता के लिए कसरत करना भी जरूरी है, क्योंकि इससे शरीर के अंग अपना काम जल्दी करते हैं और खून तेजी से दौड़ता है, इसलिए आक्सीजन जल्दी–जल्दी आती है, जिससे कि खून साफ होता है। हर एक आदमी को कसरत अपने बदन माफिक करना पड़ता है। जैसे अगर किसी के कन्धे खराब हैं तो उसको

चेस्ट एक्सपैंडर की जरूरत है या अगर किसी का मेढ़ा खराब काम करता है तो उसको वैसी ही कसरत की जरूरत है तो उसके लिए उचित है। हर एक आदमी को इतनी कसरत की जरूरत नहीं है कि वह पहलवान हो जावे, मगर इतना तो जरूर करना चाहिए कि उसके शरीर के सारे अंग अपना काम ठीक तौर पर कर सकें।"[63] व्यायाम से पहलवान की प्रतिछाया ने स्त्रियों को 'व्यायाम' से दूर रखा परंतु 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं ने स्त्रियों के गिरते स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर उनके शारीरिक मानसिक एवं आत्मिक स्वास्थ्य के लिए शर्मनाक समझे जाने वाले व्यायाम को स्त्रियों के लिए आवश्यक मान गृहकार्य को व्यायाम की भाँति करने का सुझाव दिया–"भारतवर्ष में प्राचीन प्रथा के अनुसार गृहकर्म स्त्रियों द्वारा किये जाते हैं और पश्चिमी जगत् में नौकरों द्वारा इसलिए वहाँ की युवतियों को खुले मैदान में व्यायाम की आवश्यकता होती है। भारत वर्ष की महिलाओं के लिए समय के अभाव से नित्यप्रति के काम को व्यायाम की भांति करना और समझना चाहिए दूसरा उपाय नहीं है।"[64] हालांकि इससे स्त्रियों की सीमा और संकीर्ण हो जाती है किंतु कहीं न कहीं यह प्रश्न स्त्रियों को छूट देता है।

2.2.6 वस्त्राभूषण का प्रश्न

अनादिकाल में मानव जंगली था। जंगली अवस्था में उसने सबसे पहले रहस्यमयी प्रकृति को समझने के प्रयास में विविध अविष्कार किए। प्रकृति को मानव अनुकूल बनाया। स्वयं को छाल–पत्तियों से ढक वस्त्रों के रूप में प्रकृति से बचाव आदिमानव का प्रथम प्रयोग था। इसके अलावा वस्त्रों के रूप में छाल–पत्तियों के उपयोग का कोई अन्य कारण नहीं था। अनादिकाल में स्त्री–पुरुष के वस्त्राभूषण समान थे। अनादिकालीन स्त्री–पुरुषों के वस्त्रों की आवश्यकता और समानता पर सुधा राजे लिखती हैं–''मानव के सिवा लगभग सभी पशु पक्षियों ने मामूली खान–पान और निवास की आदतों के सिवा कुछ भी नहीं बदला। आग और पहिये के अविष्कार के बाद की क्रांति थी वस्त्र का अविष्कार 'जिसका पहला प्रयोग लाज–शरम और स्त्री–पुरुष प्रायवेट पार्ट्स को ढँकना नहीं था, 'अपितु ठंड से बचाव था। बाद में यही वस्त्र बिछौने और धूप से बचाने के काम आने लगे जो कि पशुओं का चमड़ा और ऊन और रेशों पत्तों छाल छिलकों के बने होते थे। नर और नारी के वस्त्रों में कोई भेदभाव नहीं था', एक लंबा–सा चादर या थान लपेट कर डोरियों की मदद से जगह–जगह बाँध लेना', फिर धाती अंगवस्त्र और शॉल फिर पगड़ी तक भी स्त्री पुरुष के वस्त्र एक समान

ही थे। उत्तर वैदिक काल में भी स्त्रियाँ लांग बाँधकर धोती पहनती थी और पुरुष भी, एक चादर ऊपर से लपेट कर एक पटका सीने पर बाँधती थी; केश स्त्री–पुरुष दोनों ही लंबे रखते थे 'जेवर भी पुरुष और स्त्री एक समान ही पहनते थे।''[65]

तदुपरांत 'स्त्री सौंदर्य' की परिकल्पना गढ़ी गई। उसमें सोलह शृंगार अंगों में उबटन लगाना, स्नान करना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, माँग भरना, महावर लगाना, बाल सँवारना, तिलक लगाना, ठोढ़ी पर तिल बनाना, आभूषण धारण करना, मेंहदी रचाना, दाँतों में मिस्सी, आँखों में काजल लगाना, सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग, पान खाना, माला पहनना, नीला कमल धारण करना सौंदर्य बढ़ाने के उपादान है। सौंदर्य स्त्रियों को सहर्ष स्वीकार्य है क्योंकि पराश्रित स्त्री के पास कोई विकल्प नहीं होता जिसमें वह अपनी पहचान बना सके। यह रेगिस्तान की मरीचिका के पीछे भागने के समान है; कुछ प्राप्त करने की लालसा में अपनी पहचान खो बैठते हैं। इस सौंदर्य के यथार्थ से स्त्रियों को 'स्त्रीदर्पण' जुलाई 1918 के अंक में 'हमारी सूरत' शीर्षक से श्रीमती उमा नेहरू परिचित कराते हुए लिखती हैं–''सौंदर्य को स्त्री की विशेषता बना, पुरुष की विशेषता दिली और दिमाग़ी उन्नति और संसार में उभरने की शक्ति को ठहराना, न्याय नहीं अन्याय है। सोचने की बात है कि शारीरिक सौंदर्य जो स्त्री की विशेषता नहीं, और आत्मिक विकास जो पुरुष की विशेषता है, उसे समझने की, उसमें भाग लेने की, स्त्री में योग्यता नहीं। नतीजा यह है कि न्यायहीन प्रबंध ने स्त्री के सारे सुख, सारी उन्नति का नाश कर दिया। इस बेचारी के लिए न सौंदर्य–पूजन का आनंद रहा, न संसार अपनाने का सुख।''[66] सौंदर्य नैसर्गिक यथार्थ है। सौंदर्य को स्त्री मूल्यांकन की कसौटी पर स्त्री–पुरुष में विभाजन करना; स्त्रियों के आत्मविकास के लिए घातक है। स्त्री–पुरुष के विभाजकीय समस्त तत्त्व जो स्त्री उन्नति में खतरा हो, स्वीकार्य नहीं हैं।

स्त्री की पहचान प्राकृतिक प्रदत जैविक अंगों से है। इन्हें ढ़कने के लिए वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है। भारतीय समाज में स्त्रियाँ विविध प्रकार के वस्त्र पहनती हैं। यहाँ धर्म के हिसाब से वस्त्रों का विभाजन किया हुआ है। हिंदू, मुस्लिम, सिख और ईसाई धर्मों की पहचान उनके वस्त्रों से आसानी से हो जाती है। 20वीं शताब्दी में वस्त्र और आभूषण खासा विमर्श का केंद्र बने क्योंकि वस्त्र शरीर ढकने की वस्तु भर नहीं रह गए थे। परंपरावादियों को स्त्रियों का महीन और अधवस्त्रों में घूमना नमंजूर था। श्रीमती चन्द्रकला देवी 'स्त्रीदर्पण'

जुलाई 1919 के अंक में 'हमारे कपड़े' शीर्षक से लेख में परंपरावादियों का नेतृत्व करते हुए लिखती हैं–''कुछ हमारी बहिनें महीन साड़ी पहिनने पर भी नीचे कोई कपड़ा नहीं पहनतीं। हमने अकसर महिला–समिति की मीटिंगों में और गंगाजी पर ऐसा देखा है। महिला–समिति के बारे में यह कहा जा सकता है कि वहाँ स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ होती हैं, मुझे इसमें शक है कि स्त्रियों ही की भरी समाज में किसी एक स्त्री को कहाँ तक नंगी फिरने का अधिकार है। क्योंकि मोटी धोती तक के आर–पार बदन दिखता है न कि महीन के, मगर गंगाजी पर ऐसे कपड़े कैसे कोई पहिन कर जा सकता है? मगर रिवाज की आड़ में वह भी जायज़ है। सोचने की बात है कि गंगाजी पर हर तरह के आदमी होते हैं। कुछ ऐसे भी जो स्त्रियों ही की सैर करने आते हैं। मोटे ही कपड़े भीग कर जब बदन को नहीं छिपा सकते तो महीन भला क्या छिपावेंगे?''[67] शील–अश्लील व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर करती है। प्राचीन समय में वस्त्र पहनने का प्रचलन नहीं था। कह सकते हैं वहाँ संसाधनों की कमी थी। आज भी तीर्थाटनों या अन्य स्थानों पर स्त्रियों से अधिक पुरुष नग्न दिखलाई पड़ जाते हैं लेकिन लेखिका के लिए समस्त शीलता और अश्लीलता केवल स्त्रियों के लिए थी।

20वीं शताब्दी में स्त्रियों के महीन, छोटे वस्त्रों को लेकर आपत्ति संकीर्ण मानसिकता है। किसी व्यक्ति की सजा किसी अन्य व्यक्ति अन्य व्यक्ति को क्यों मिले? स्त्रियाँ क्यों पुरुषों के दोष के कारण प्रतिबंधित जीवन जीने को बाध्य हो? यह कौन–सा तर्क है कि स्त्रियों को पति के लिए शृंगार करना है। पतिव्रता होने का सबूत देना है। लेखिका वस्त्रों के माध्यम से भारतीय स्त्रियों के पश्चिमीकरण की रीति के प्रति विरोध भाव प्रकट करती है। उनका स्पष्ट कथन है–''मुझे मालूम है कि अंग्रेज़ी कपड़ों में रात की दावत के कपड़े ऐसे हैं कि जिनमें हाथ और कुछ बदन का भाग खुला रहता है। मुझको वह उतना ही नापसंद है जैसा साड़ी बिना कुरती के। मगर उससे ज़रूर अच्छा है कि महीन धोती बिना किसी और कपड़े के हो, या भीगे कपड़े पहिन कर पंडे जी को संकल्प दिया जावे। शायद यह कहा जावे कि गंगााजी तो कभी कभी नहाते हैं। इसी तरह वह भी कह सकती हैं कि रात को दावत कभी कभी होती है। अंग्रेज़ी स्त्रियाँ तो कमरों में अपने ही जान पहचानों के बीच में होती हैं और बहुतेरे तो इस डर से कि कोई देख न ले, उनके ओर आँखे भरके देखते भी नहीं। हम लोग तो खुले मैदान में ग़ैरों के बीच में होती हैं कि जिनमें से कितने ही हमारे बदनों को घूरा करते

हैं और हमारा कुछ बस नहीं चलता। यदि बदन को दिखाना अपनों को बुरा है तो गैरों को और भी बुरा है।

कपड़े का काम जैसा मैंने ऊपर लिखा सबसे पहले बदन ढकने का है और इस काम को पूरी तरह होना अवश्य है। पहले पूरा बदन ढक ले तो आगे बढ़ने की चेष्टा करे।''[68] 20वीं शताब्दी में स्त्री सौंदर्य के प्रतिमान वस्त्र और आभूषण थे। इस कारण परंपरावादी स्त्री आंदोलन अभिलाषी एवं विकासशील स्त्रियों पर सौंदर्य के प्रतिमान फिट करने से भी नहीं कतराए।

वस्त्र और आभूषण का शास्त्र भी समाज ने रचा है। यह हर्ष, शोक, उत्सव में अलग–अलग भाव व्यक्त करना सिखाता हैं। आज के समय में वस्त्र और आभूषण स्त्रियों की गिरती सामाजिक स्थिति के लिए विशेष रूप से उत्तरदायीं हैं। सिंदूर, महावर, वस्त्र (विशेष रूप से लाल और सफेद अथवा काला), चूड़ी आदि प्रतीकों से कौन अनभिज्ञ है? 20वीं शताब्दी में स्त्रियों के भाग्य–अभाग्य प्रतीकों को घेरे में लेकर परंपरावादी मानसिकता पर प्रहार किया। श्रीमती उमा नेहरू ने 'स्त्रीदर्पण' मार्च 1920 के अंक में 'हमारे जेवर' शीर्षक से लिखती हैं–''अपने क्वारपन का, अपने बेवा होने का, अपने सधवा होने का ढ़िड़ोरा क्यों पीटें? दुनिया से क्या मतलब कि हम सधवा हैं या विधवा हैं। और अगर दुनिया से मतलब है तो मर्द क्यों नहीं अपनी स्त्री के जिन्दा होने या मरने का ढ़िड़ोरा पीटते।

यदि सुहाग की चीजें केवल स्त्री का सपति होना दिखाती है तो वह अनावश्यक है। अगर इनका अर्थ सौभाग्य प्रकट करना है तो मेरी सम्मति में अपने सौभाग्य को कान, नाक, गर्दन, पांव, इत्यादि में पहनने की चेष्टा करना अनावश्यक होने के साथ–साथ विचित्र भी है।''[69]

स्त्री सौंदर्य भारतीय समाज का सबसे बड़ा सत्य वस्त्राभूषणों का एक अशिक्षित उच्च स्त्री से लेकर साधारण स्त्रियों तक में बढ़चढ कर प्रयोग है। स्त्रियों को अक्षर ज्ञान की अपेक्षा वस्त्राभूषणों का ज्ञान अधिक होता है। स्त्रियों का वस्त्राभूषणों के प्रति प्रेम पुरुषवादी सामाजिक दोष है। पुरुषों द्वारा स्त्रियों को नए–नए वस्त्राभूषण उपहार स्वरूप देना; स्त्री अधिकारों के हनन की प्रक्रिया थी। हम 20वीं शताब्दी में स्त्री वर्ग द्वारा इस तथ्य को समझने का दावा तो नहीं कर सकते लेकिन वस्त्राभूषण प्रेम की हानि उन्हें ज्ञात थी। इसलिए स्त्रियों

को वस्त्राभूषण प्रदर्शन वृत्ति को त्याग वैयक्तिक गुणों को संचित करने का सुझाव 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका में दिया है। 'स्त्रीदर्पण' दिसंबर 1918 के अंक में वस्त्रालंकार' शीर्षक से श्रीमती गुलाब देवी चतुर्वेदी लिखती हैं–''हमें अपने शरीर को गुणों से सुशोभित करना चाहिए, न कि वस्त्राभूषणों से। हमें एक काले अक्षर का भी ज्ञान नहीं है, हम बड़ों का मान करना तथा मित्रों के साथ सद्व्यवहार करना नहीं जानतीं, छोटों के साथ दया का बर्ताव करना तथा अपरिचित मनुष्यों का यथायोग्य सत्कार करना भी जानती नहीं, फिर क्या अपनी सुन्दरता, प्रतिष्ठा तथा मान को ख़ाक बढ़ावेंगी? हमारी बोली में तो फूल बरसते हैं। तथा हम अपने आगे–दूसरों को तुच्छ समझती है, तो हमारा मान कौन करेगा? यदि हम अपने मन में यह अभिमान करें कि हमारे पास दस पाँच सोने के ज़ेवर (आभूषण) हैं, तथा कितनी ही बढ़िया रेशमी साड़ियाँ हैं, यही हमारे मान की सामग्री हैं, तो हम सा मूर्ख होना कठिन है, कारण कि हम अनेक पुस्तकों तथा समाचार पत्रों में पढ़ती हैं कि स्त्रियों की सुन्दरता उनके गुणों पर निर्भर करती है, फिर आभूषणों के ऊपर घमंड करना व्यर्थ है।''[70] सौंदर्य बाह्य अलंकरणों का मोहताज नहीं है। बाह्य अलंकृत सौंदर्य क्षणभंगुर होता है। स्त्रियाँ अपने आंतरिक सौंदर्य सहनशीलता[71], गंभीरता[72], शालीनता, सरसता, सहजता, एकनिष्ठा आदि क्या करे? स्वतंत्र भारत में स्त्रियाँ स्वतंत्र होकर भी स्वतंत्र नहीं है। स्वत्वपूर्ण व्यक्ति ही परिपूर्ण कहलाता है। स्त्रियों का एकमात्र आंतरिक सौंदर्य 'स्वत्व' है।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं ने स्त्री जीवन से जुड़े प्रश्नों का नेतृत्व किया। तत्कालीन पत्रिकाओं में कहीं–कहीं विचारों में अन्तर्विरोध होते हुए स्त्री जीवन के प्रश्नों को उठाती है, जो अपने समय की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

2.3 पितृसत्ता और भारतीय समाज में स्त्री

आरंभ में हमारा समाज मातृसत्तात्मक था। जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है जिस समाज में माताओं की सत्ता अर्थात स्त्रियों की सत्ता थी। माना जाता है स्त्री पूर्णतः स्वाधीन थी ऐसा मानना कठिन अवश्य है परंतु इस विषय में यह कहा जा सकता है कि स्त्री पूर्णतः स्वाधीन नहीं थी तो पराधीन भी नहीं थी। जंगली वातावरण में स्त्री–पुरुष दोनों अपने भरण–पोषण के लिए शिकार करते थे। सभी प्रकार के खतरों का सामना करते थे। स्त्रियाँ पुरुषों के समान श्रम करने के साथ–साथ संतानोत्पत्ति भी करती थी। परंतु स्त्री की प्रजनन क्षमता, मासिक

धर्म, गर्भधान आदि शक्तियाँ पुरुषों के कार्यों में उलझनें उत्पन्न करने वाली समझी जाने लगी। स्त्रियों को पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ा। जंगली जानवरों से रक्षा के लिए अधिक संतान की आवश्यकता ने बार–बार गर्भाधारण के कारण स्त्री को शारीरिक रूप से कमज़ोर बनाया दिया था। स्त्री इन संतानों के भरण–पोषण के लिए घर में रहने लगी और अपने भरण–पोषण के लिए पूर्णतः पुरुष पर आश्रित हो गई। स्त्री को इस प्रकार घर की चारदीवारी में कैद रहने के सिलसिले से पितृसत्ता नींव पड़ी। इस कारण पुरुषों की स्थिति मजबूत से मजबूत होने लगी–''वह समाज जिसमें पुरुष या निजी संपत्ति का मालिक मात्र अपनी संपत्ति को प्रेम करता है और अपनी संपत्ति का हस्तांतरण संतति के पास सुरक्षित रखने के लिए करता है। संपत्ति को अपनी ही संतति को उत्तराधिकार में देता है। वह अपनी सत्ता और संपत्ति की वृद्धि और सुरक्षा के लिए पूर्वजों की पूजा करता है। वह अपने ईश्वर और अपने बच्चों को पत्नी के अधिकार में कभी नहीं देता। इस व्यवस्था को पितृसत्ता कहते हैं।''[73]

आमतौर पर पितृसत्ता का अर्थ पुरुष प्रधान समाज से है। इसमें स्त्री स्वायत्ता को कोई स्थान नहीं दिया जाता। वह उसे प्रत्येक श्रेणी में निम्नतर आँकती हैं। इस दृष्टि से भारतीय धर्मशास्त्र पितृसत्ता या पुरुषसत्ता के कम पक्षपाती नहीं है। मानने के लिए आरंभ में स्त्री की स्थिति काफी बेहतर थी। उसे देवी करार दिया गया था क्योंकि उसके पास प्रजनन की क्षमता थी। उसके धार्मिक, सामाजिक स्तर पर आगे रहने की बात कही गई है। यज्ञ हो या युद्ध क्षेत्र पत्नी भी पति के साथ भाग ले सकती थी। उसके लिए उपर्युक्त वर चुनने के लिए स्वयंवर किया जाता था। घुड़सवारी, तीरअंदाजी आदि में उसे निपुण किया जाता था। यह सब धर्मशास्त्रों का ऊपरी आवरण है जिसने सदियों से स्त्रियों को भ्रम में डाले रखा। वास्तविकता यह है कि कोई भी धर्मशास्त्र स्त्रियों के लिए बने ही नहीं है। वह मात्र पुरुष वर्चस्व की अगुवाई करते हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार कोई भी धार्मिक, सामाजिक अनुष्ठान एक स्त्री के बिना पूर्ण हो सकता है लेकिन पुरुष के अभाव में उसके पूर्ण होने की स्वीकृति उसे कभी नहीं मिली। यह धर्मशास्त्र स्त्री को पारिवारिक और सामाजिक रूप से बहिष्कृत करने के जड़मूलक कारक है। हो भी क्यों ना? समस्त धर्मशास्त्र पुरुषों द्वारा संचालित जो है! राजेन्द्र यादव के शब्दों में–''उसने सारे सामाजिक कानूनों को कुछ इस तरह गढ़ा है कि पुरुष वर्चस्व को कहीं कोई चुनौती या खतरा नहीं है। पहले स्मृतियाँ और नीतिशास्त्र

खुलकर जिस बात को कहते थे, आज कानून उसी यथास्थिति को बारीक और पेचीदा ढंग से कहता है कि स्त्री के पास सिर्फ कच्चे पत्ते हैं, सारे ट्रम्प और तुरूप आज भी पुरुष के कब्जे में हैं।''[74]

पितृसत्ता की पराकाष्ठा को पार करने में धर्म का बहुत बड़ा हाथ है। पितृसत्ता ने धर्म को आधार बनाकर सामाजिक बहिष्कृत प्राणी[75] को समाज ही की परंपराएँ, मान–मर्यादाएँ, नियम–नियमावली पालन करने के लिए विवश किया जिनका स्त्री जीवन में कोई औचित्य नहीं है। व्रत सिर्फ स्त्रियाँ ही रखती है और पुरुष स्वर्ग–नरक का भय दिखाकर यह व्रत रखवाता भी रहता है। करवा चौथ भी स्त्री रखे ताकि पति की लंबी उम्र हो। यह कहाँ का विधान है? यदि स्त्री ऐसा न करे तो समाज उसे अपने विरुद्ध समझता है। अब स्त्री अपने लिए संघर्ष कर रही है और उसका यह संघर्ष पुरुष के खिलाफ नहीं बल्कि समाज में पुरुष के समान बराबरी पाने के लिए है–''वस्तुतः यह संघर्ष पुरुष के नहीं, स्थिति के खिलाफ है। इसलिए अपने स्वतंत्र अस्तित्व की स्वीकृति की अपेक्षा पुरुष से उसे हमेशा बनी रहती है। दूसरी तरफ पुरुष इस संघर्ष को लेकर कटु रहा है। उसे इसमें सीधे–सीधे अपने खिलाफ संघर्ष नज़र आता है।''[76] प्राचीन समय से लेकर वर्तमान समय तक स्त्रियों की दयनीय स्थिति को बनाए रखने में; धर्म और कानून द्वारा स्त्री को गौण मानकर गढ़े गए मिथकों की जड़ कहीं न कहीं पितृसत्ता है।

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री और पुरुष में एक मात्र संबंध 'सत्ता' का होता है। पुरुष अपनी स्वतंत्र स्वायत्त सत्ता के लिए स्त्री को स्वायत्त हीन बना देता है। स्त्री का उसकी देह तक पर अधिकार नहीं होता। पिता उसे दान योग्य समझने के कारण उसकी देह पर अधिकार जमाकर बैठा है। पति अपनी यौन इच्छाओं की पूर्ति करने के लिए और पुत्र उसके अपार स्नेह का अधिकारी बनकर उस पर शासन करता है। यहाँ एक स्त्री के लिए जितना प्रश्न 'दैहिक स्वयत्ता' का है वहीं पुरुष समाज के लिए उसके 'संरक्षण' का प्रश्न है। 'संरक्षण' सामाजिक स्वीकृति के साथ स्त्री के भरण–पोषण, सुरक्षा की गारंटी लेता है लेकिन 'दैहिक स्वयत्ता' नहीं देता। यही संरक्षण उसे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक रूप से बहिष्कृत कर देता है। स्त्री सामाजिक बहिष्कृति का शिकार पहले से है लेकिन जब किसी स्त्री को कहीं भी तुच्छ सी भी 'दैहिक स्वयत्ता' की छूट मिलती है तब वह

तथाकथित समाज के लिए रखैल अथवा वेश्या हो जाती है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में–''समाज ने स्त्री को सिर्फ तीन नाम दिए हैं : पत्नी, रखैल और वेश्या। इसके अलावा वह किसी चौथे सम्बन्ध को स्वीकार ही नहीं करता है। जब औरत को वह संरक्षण यानी रोटी, कपड़ा और मकान देने के साथ अपना नाम देकर सामाजिक स्वीकृति देता है तो कहता है पत्नी लेकिन जब संरक्षण देकर अपना नाम नहीं देता तो वह रखैल है। जहाँ वह न संरक्षण देता है न सामाजिक स्वीकृति, तो वह वेश्या होती है, क्योंकि संरक्षण के लिए उसे बहुतों पर निर्भर रहना पड़ता है, नतीजे में सामाजिक सम्मान का प्रश्न ही नहीं उठता।''[77]

आज पितृसत्ता के विरोध में स्त्री मुक्ति के लिए जो आंदोलन चलाए जाते हैं इनमें सिर्फ स्त्री संबंधी मुद्दों को उछाला जाता है। वास्तव में इनके हित के लिए कोई पहल नहीं की जाती। जितना इन मुद्दों को उछाला जाता है उतना ही स्त्री शोषित होती जाती है। ''आज विश्व में तमाम महिला आंदोलन सक्रिय है। अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर तक महिला आयोगों का गठन एवं सम्मेलनों का आयोजन हो रहा है। इसके बावजूद पुरुष अपना दबदबा कायम रखने के लिए बराबर कोशिश कर रहा है। विकास एवं टैक्नोलॉजी से जुड़ी ढेर सारी चीज़े नारी विरोधी साबित हो रही हैं। पुरुष वर्ग ने अपनी सुख–सुविधाओं के लिए परिवार नियोजन की सारी जिम्मेदारी केवल स्त्रियों के लिए ही आरक्षित की है। गर्भरोधी ऑपरेशन भी पुरुष अपना नहीं बल्कि पत्नी का कराने में अधिक रूचि लेता है। जबकि पुरुष नसबंदी स्त्री की अपेक्षा अधिक कारगर एवं आसान होती है।''[78] यदि इसका कारण सामाजिक संरचनाओं में सूक्ष्मता से खोजा जाए तो इसका प्रत्युत्तर सामाजिक संरचना और पितृसत्ता के असीम जुड़ाव के साथ मिलेगा। स्त्री का स्थान घर में है यह मानसिकता अभी भी पुरुषों की बनी हुई है। पितृसत्ता समाज के लिए एक साधारण सी बात है। कहा जा सकता है यह समाज स्त्री को आगे बढ़ते नहीं देखना चाहता। इससे उनके स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है। हमारे समय में पितृसत्ता का यह विरोध स्त्रियों के मनोबल को तोड़ने के लिए अन्याय, अत्याचारों द्वारा समय–समय पर प्रकट होता है। नासिरा शर्मा के शब्दों में–''औरत को सदैव नकारात्मक रूप में ही समाज देखता है, उसकी शक्ति को भी वह समय–समय पर दबाने की कोशिश करता है, इसीलिए औरतों का विद्रोह कभी–कभी असहज होता है, क्योंकि पूरे समाज में कोई उससे सामान्य व्यवहार नहीं करता है। यहाँ तक कि उसके सौन्दर्य को विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

यह सब कुछ मनोवैज्ञानिक रूप से औरत को तोड़ने, उसके मनोबल को गिराने का यत्न है। घर का पूरा माहौल ही शार्टकट अपनाता है, वह लड़कियों को बुनियादी रूप से समझाने के बजाए दबा देता है या डांटकर चुप करा देता है।''[79] स्त्री पराधीनता के पीछे कारकों में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और दैहिक कारक उत्तरदायीं हैं। इनमें से किसी एक को प्रमुखता देकर स्त्री पराधीनता का कारक घोषित नहीं किया जा सकता जैसा कि समस्त स्त्रीवादी विमर्शकार करते हैं। स्त्री पराधीनता के कारकों में सभी तत्त्व समान रूप से भागीदार हैं। हाँ, 'समानता' एक ऐसा तत्व है जो स्त्री को पराधीनता से भलीभाँति मुक्त करा सकता है। सिमोन द बोउवार मातृसत्तात्मक समाज में स्त्री के आचरण की सुविधा की बात करती हैं। वह लिखती हैं–''मातृसत्तात्मक समाज में स्त्री को आचरण की सुविधा थी तथा स्त्री से शुद्धता एवं शुचिता की अपेक्षा कम की जाती थी। व्यभिचार के विरुद्ध नियम इतने कड़े नहीं थे। अब पितृसत्ता में चूँकि औरत पुरुष की सम्पत्ति थी, इसलिए विवाह के पहले कौमार्य भंग न होना तथा आजीवन पतिव्रत निभाना उसका परम धर्म बन गया। साथ ही व्यभिचारिणी के लिए मृत्युदंड तक का विधान भी।''[80] यूँ ही मातृसत्तात्मक समाज में स्त्री को आचरण की सुविधा नहीं थी। वहाँ कहीं न कहीं समानता का भाव रहा होगा क्योंकि मात्र शुद्ध आचरण के आधार पर मातृसत्तात्मक समाज में स्त्री को स्वाधीन नहीं कहा जा सकता। यदि स्त्री और पुरुष को एक समान दर्ज़ा मिल जाए स्त्री को स्वतः ही समस्त अधिकार प्राप्त हो जाएँगे। वह न किसी पुरुष की सम्पत्ति समझी जाएगी और न उसके लिए शुद्ध आचरण जैसी कोई चीज़ होगी। व्यवहारिक रूप से स्त्रियों के अधिकारों को बाँटा भी नहीं जा सकता। यह उनके अधिकारों का कम हनन नहीं होगा। क्यों, न स्त्री अधिकारों का निर्णय स्त्रियों पर छोड़ दिया जाए। इसके लिए समाज को मानसिक स्तर पर तैयार होना पड़ेगा।

जब एंगेल्स स्त्री जाति की सबसे बड़ी हार मातृसत्ता से पितृसत्तात्मक समाज के अवतरण को मानते हैं तब एक सत्ता का दूसरी सत्ता पर आधिपत्य की स्थिति समाज व्यवस्था में 'सत्ता संरचना' है। सत्ता प्रायः शक्ति अथवा बल को प्रदर्शित करती है चाहे वह स्त्री की हो या पुरुष की। यदि ऐसा रहा तो सत्ता परिवर्तन का यह खेल अनवरत चलता रहेगा। सत्ता परिवर्तन 'स्त्री स्वाधीनता' का हल नहीं है। इसके लिए विकल्प के तौर पर सत्ता निरपेक्ष समाज का निर्माण किया जाए या वैकल्पिक सत्ता बनाई जाए। चित्रा मुद्गल के

शब्दों में–''मातृसत्ता एवं पितृसत्ता को मिलाकर वैकल्पिक सत्ता बनानी चाहिए। मैं समानता आधारित सत्ता की पक्षधर हूँ। इतिहास में मातृसत्ता की कई सूचनाएँ मिलती हैं। औरत की शक्ति पटकने की नहीं पटने लायक बनाने की है। अर्द्धनारीश्वर के दर्शन को अपनाना पड़ेगा। लिंग की पूजा/योनी की पूजा। प्रतीक बनाना होगा। हम प्रकृति के नियमों से संचालित हैं। स्त्रियों से भी अनुरोध है कि रात में कपड़े हटाने में और दिन में कपड़े हटाने में अंतर होने चाहिए।''[81] फिलहाल यह कल्पना है लेकिन इसी में जीवन का वास्तविक यथार्थ छिपा है। स्त्री–पुरुष के समान सहयोग से इसे साकार किया जा सकता है।

संदर्भ सूची

1. सरस्वती, जनवरी 1914, पृ. 29
2. स्त्रीदर्पण, जुलाई 1919, पृ. 39
3. मर्यादा, अगस्त 1915, पृ. 65
4. सरस्वती, अगस्त, 1914, पृ. 69
5. स्त्रीदर्पण, दिसंबर 1918, पृ. 303
6. सरस्वती, दिसंबर 1917, पृ. 83
7. सरस्वती, अगस्त 1915, पृ. 85–86
8. वही, पृ. 105
9. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 102
   "माता की त्रुटियाँ और दोष बालकों में तत्काल आ जाते हैं। क्योंकि इन्हीं बालकों से समाज बनता है–इस समाज का जीवन भी इन कमजोरियों से बिलग नहीं रह सकता।''
10. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1915, पृ. 123
11. मर्यादा, अगस्त 1915, पृ. 113
    ''भविष्य की प्रजा उत्पन्न करने के लिए और उसके लालन–पालन के लिए प्रत्येक स्त्री को समय देना पड़ता है।''
12. मर्यादा, जुलाई 1915, पृ. 92
13. स्त्रीदर्पण, अक्टूबर 1919, पृ. 231–232
14. वही, अगस्त 1919, पृ. 82
15. प्रभा, मार्च 1915, पृ. 8
16. स्त्रीदर्पण, सितंबर 1918, पृ. 137
17. स्त्रीदर्पण, मई–जून 1919, पृ. 254
18. अनामिका, मन मांझने की जरूरत, सं. 2008, पृ. 13
19. वही, पृ. 13–14
20. सरस्वती, जुलाई 1917, पृ. 307
21. स्त्रीदर्पण, मई–जून 1919, पृ. 270
22. सरस्वती, फरवरी 1910, पृ. 90
23. हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1907, पृ. 8
24. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1918, पृ. 246
25. स्त्रीदर्पण, सितंबर 1919, पृ. 44
26. सरस्वती, अक्टूबर 1914, पृ. 562

27. मर्यादा, जुलाई 1915, पृ. 53
28. मर्यादा, अप्रैल 1918, पृ. 176
29. सरस्वती, जुलाई 1914, पृ. 378–379
30. स्त्रीदर्पण, अगस्त 1917, पृ. 80
31. वही, पृ. 81
32. वही, पृ. 83
33. वीरभारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, पृ. 131
34. सरस्वती, 1901, पृ. 163
35. प्रभा, 1913, पृ. 342
36. मर्यादा, अगस्त 1915 पृ. 159
37. स्त्रीदर्पण, 1917, पृ. 146
38. वीरभारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, पृ. 133
39. प्रभा, नवंबर 1920, पृ. 237
40. स्त्रीदर्पण, मई–जून 1919, पृ.
41. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 63
42. स्त्रीदर्पण, 1920, पृ. 88

    "जरा सोचने की बात है कि पहिले स्वयंवर हुआ करते थे तो क्या पर्दे में? सीता जी चौदह वर्ष तक विदेश में रही तो क्या पर्दे में। दमयन्ती नाना प्रकार के दुख झेलती मायके पहुची तो क्या पर्दे में?"
43. प्रभा, दिसंबर 1913, पृ. 88
44. स्त्रीदर्पण, फरवरी 1920, पृ. 89

    "पर्दे वाली चाहे बच्चा बेहोश पड़ा हो, लेकिन जेठ से दवा की बात तक न कहेगी। बलिहारी! आंख रख कर देख न पावें, कान रखकर सुन न पावें, हृदय रखकर जगदाधर की अलौकिक माया की सराहना न पावें! कैसा अच्याचार है!''
45. स्त्रीदर्पण, अगस्त 1917, पृ. 110
46. वही, पृ. 60–61
47. स्त्रीदर्पण, सितंबर 1918, पृ. 99
48. वही, पृ. 100

    "भारत –महिला को शिक्षित तथा उन्नत बनाये बिना भारतवर्ष को उन्नत बनाने का आंदोलन या प्रयत्न सब व्यर्थ है। कारण यह है कि जैसा सांचा होता है ठीक वैसी ही वस्तु ढलती है। सब चाहते हैं कि भारत में रामचन्द्र भीमसेन तथा शिवाजी जैसे पुरुष उत्पन्न हों: किन्तु उनकी यह इच्छा सफलता में परिणत नहीं हो सकती। जब तक कि वे कौशल्या, कुन्ती तथा जीजीबाई जैसी जननियाँ न उत्पन्न कर लें।"
49. स्त्रीदर्पण, अगस्त 1917, पृ. 63

50. सरस्वती, जनवरी 1911, पृ. *
51. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृ. 347

    "स्वाधीनता के पश्चात् सती की पहली घटना सन् 1854 में हुई जिसके फौरन बाद झुंझुर के प्राचीन सती का स्मारक नवनिर्माण एवं विस्तार किया गया। झुंझुर में सालाना 'सती मेला' लगना प्रारंभ हो गया।'
52. स्त्रीदर्पण, अगस्त 1920, पृ. 110
53. वही, पृ. 109–110
54. सरस्वती, जुलाई 1914, पृ. 378
55. वही
56. स्त्रीदर्पण, फरवरी 1920, पृ. 90
57. सरस्वती, जुलाई 1914, पृ. 378–379
58. वही, जून 1903, पृ. 289
59. सरस्वती, जनवरी 1914, पृ. 2
60. सरस्वती, नवंबर 1903, पृ. 400
61. सरस्वती, जनवरी1914, पृ. 3
62. स्त्रीदर्पण, अक्टूबर 1918, पृ. 212
63. वही, पृ. 216
64. मर्यादा, अगस्त 1915, पृ. 119
65. http://sudharaje.blogspot.in/2014/09/blog-post_11.html
66. स्त्रीदर्पण, जुलाई 1918, पृ. 35
67. वही, जुलाई 1919, पृ. 30
68. वही, पृ. 32
69. वही, मार्च 1920, पृ. 150–151
70. वही, जुलाई 1918, पृ. 326
71. वही, अप्रैल 1919, पृ. 206

    ''लोग पाश्चात्य देशों की स्त्रियों को समस्त संसार में अधिक स्वच्छंताप्रिय बतलाते हैं, परंतु क्या वे लालबुझक्कड़ ज़रा यह भी बतलाने की कृपा करेंगे कि एक आर्यमहिला का ऐसा पातिव्रत धर्म इस अखिल संसार के पर्दे में कहीं और भी है? क्या इतिहास में हमको अनेक सतियों के चमकते हुए उदाहरण नहीं मिलते हैं? क्या पद्मिनी ऐसी वीरांगनाएं इस देश में बहुतायत से नहीं पायी जाती हैं? क्या संपूर्ण भूमण्डल पर किसी भी देश का स्त्री–समाज हम आर्य पुत्रियों को बराबरी शारीरिक एवं मानसिक आभूषण धारण करने और सोहाग रक्षा करने में कर सकता है? बहिनों! मानसिक आभूषण में एक परम अनमोल कुंडल है जिसका नाम है साहनशीलता।''
72. वही, फरवरी 1920, पृ. 65

* प्रति पुरानी होने के कारण पृ. सं. अस्पष्ट है।

''स्त्रियों के लिए (और पुरुषों के लिए भी) 'गम्भीरता' मुख्य गुण है। चंचलता अनेक पापों का मूल है। चंचल स्वभाव की स्त्रियाँ अपने किसी भी काम को पूर्ण नहीं कर सकतीं। वे अपनी इस दुष्प्रकृति के कारण कभी कभी ऐसा निन्दनीय कार्य कर बैठती हैं कि जिससे गृहवालों को बहुत हानि व कालिमा सहनी पड़ती है।... बहिनों! यदि तुम स्त्रियों की इस आधुनिक घुड़दौड़ में बाज़ी मार ले जाना चाहती हो, यदि तुम पीछे रह कर उपहास की पात्री बनना तिरस्कार समझती हो, यदि सब कुछ खो जावे परंतु आत्मा का सिर नीचा न झुकने पावे, यह तुम्हारा सिद्धांत है, यदि तुमको भारत महिला होने का गर्व है, यदि तुम्हें अपनी भारी जिम्मवारी का ध्यान है, और यदि तुम देश की आशालता पर वज्रपात करना स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं, तो इस गंभीरता को अपनाओं, इस अमूल्य रत्न को न त्यागो। गंभीरता के मोल का अनुमान करना हमारी शक्ति से परे है।''

73. भक्तिकाल में पितृसत्ता और स्त्री विमर्श, पृ. 55
74. उषा महाजन, उठो अन्नापूर्णा साथ चलें, पृ. 27
75. ''सृजनलोक, (सं.) संतोष श्रेयांस, पृ. 53

    ''यह विडंबना ही रही है कि पितृसत्ता ने स्वतंत्रता के निहितार्थ को अपनी निरंकुशता के मद में स्त्री के मानवीय पक्ष को सदैव अनदेखा किया है। आधी आबादी को उसने पूरक पक्ष की बजाए मात्र स्वयं की सेविका मानकर घर और समाज में समानता की हकदार होते हुए भी उसके लिए घर को बंदीगृह में परिवर्तित कर दिया। स्त्री को मानसिक रूप से इस बात के लिए अनुकूलित किया और अनेक प्रकार के कठोर दबाव भी सामाजिक और लोकानुशासन के नाम पर उस पर थोपे गये कि पुरुष के ऊपर निर्भर रहने में ही उसकी पूर्ण सुरक्षा है।''

76. भक्तिकाल में पितृसत्ता और स्त्री विमर्श, पृ. 203
77. राजेन्द्र यादव, आदमी की निगाह में औरत, पृ. 19
78. भक्तिकाल में पितृसत्ता और स्त्री विमर्श, पृ. 218
79. नासिरा शर्मा, औरत के लिए औरत, पृ. 199
80. सिमोन द बोउवार, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 57
81. स्त्रीकाल, (सं.) संजीव चंदन, अप्रैल 2010, पृ. 128

'स्त्री–शिक्षा' स्त्री और शिक्षा को अनिवार्य रूप से जोड़ने वाली अवधारणा है। इसका एक रूप शिक्षा में 'स्त्री को पुरुषों' की तरह शामिल करने से संबंधित है। दूसरे रूप में यह स्त्री के लिए बनाई गई विशेष शिक्षा पद्धति को संदर्भित करता है। नवजागरण काल में स्त्री सुधार की भावना ने स्त्री–शिक्षा के प्रश्न को जिस बुनियादी प्रश्न के रूप में उभारा उसमें यह दोनों संदर्भ महत्त्वपूर्ण हैं। 20वीं शतब्दी की पत्रिकाओं में विचाराकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से स्त्री शिक्षा के प्रश्नों को हल करने का प्रयास किया है। अपने अलग–अलग विचार प्रस्तुत किए हैं जो तत्कालीन स्त्री विमर्श को समझने में कहीं हद तक मदद करेंगे।

3.1 स्त्री–शिक्षा विषय और महत्त्व

20वीं शताब्दी के राष्ट्रीय–सामाजिक आंदोलन का सबसे प्रधान प्रश्न स्त्री शिक्षा था क्योंकि स्त्रियों के साथ होने वाले अन्याय और अत्याचार का कारण स्त्री–शिक्षा की कमी थी जिसे लगभग सभी स्वीकार चुके थे लेकिन वह बाल विवाह और पर्दा प्रथा को रोके बिना आसान नहीं था इसलिए स्त्री–शिक्षा में व्यवधान डालने वाली इन प्रथाओं का विरोध किया जाना आवश्यक था। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों के दौर में स्त्री–शिक्षा लगभग किसी के लिए भी अस्वीकार्य न थी। सभी ने स्त्री–शिक्षा का खुलकर प्रक्ष लिया। प्रश्न यह था कि स्त्रियों को किस प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए? घरेलू या सामाजिक–राजनीतिक, पूर्वी या पश्चिमी कहाँ तक शिक्षा दी जानी चाहिए, शिक्षा के विषय क्या हो? स्त्रियों को औपचारिक शिक्षा देने का अभियान व्यवस्थित रूप से सर्वप्रथम ईसाई मिशनरियों ने लड़कियों के लिए स्कूल खोल कर किया। ईसाई मिशनरियों द्वारा दी गई स्त्री–शिक्षा को उनके धर्म प्रचार का अंग मानकर भारतीय प्रतिरोध में हिंदू, ब्राह्मण आदि स्कूल खोले। उसके बाद भी स्त्री–शिक्षा की स्थिति अप्रैल 1914 'सरस्वती' पत्रिका के इन आँकड़ों से ज्ञात होती है–

		हिन्दू				
	किरानियों	ब्राह्मणों	अब्राह्मणों की	मुसलमानों की	पारसियों	योरपवालों की
1907	62,284	86,695	2,67,425	1,21,699	6,190	14,448

1912	72,941	1,20,812	4,49,267	2,13,247	6,528	16,210
जितनी लड़कियाँ पढ़ती है उनमें इनका फ़ीसदी औसत	7.7	12.7	46.3	22.4	.7	1.7
संख्या–वृद्धि का फ़ीसदी औसत	17.1	19.2	48.7	75.2	5.8	122
स्कूल जाने योग्य उम्र लड़कियों के लिहाज़ से शिक्षा पाने वाली लड़कियों का फ़ीसदी औसत	26.6	16.7	29	4.5	8.8	100

इन आँकड़ों को देखते हुए 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री–शिक्षा का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण था कि इसे केवल ब्रिटिश सरकार[1], समाज राजनीतिज्ञों, साहित्यकारों आदि पर नहीं छोड़ा जा सकता था क्योंकि भारतेंदु ने स्वयं कहा कि हमारी सरकार का यह कर्तव्य है कि वह स्त्री–शिक्षा के प्रति लोगों के इस मानसिक अज्ञान को दूर करें। भारतेंदु हरिश्चंद्र जिस स्त्री–शिक्षा के प्रति लोगों के मानसिक अज्ञान को दूर करना चाह रहे थे वह अकेले केवल ब्रिटिश सरकार का कर्तव्य नहीं था बल्कि भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग/व्यक्ति की समान रूप से जिम्मेदारी थी। वीरभारत तलवार के शब्दों में–"लोगों के इस मानसिक अज्ञान को दूर करने का कर्तव्य औपनिवेशिक सरकार का है। धर्म, समाज और परम्परा से जुड़े स्त्री–शिक्षा जैसे प्रश्न विषय पर पश्मिोत्तर प्रांत की जनता के मानसिक अज्ञान को दूर करने के लिए भारतेंदु जैसे नवजागरण के लेखकों और नेताओं ने अपने कर्तव्य को एकदम भुलाकर इसे औपनिवेशिक सरकार का कर्तव्य मानना आश्चर्यजनक है?[2]

'सरस्वती' 1905 में 'जापानी स्त्री शिक्षा' में महावीरप्रसाद द्विवेदी स्त्री–शिक्षा पर विचार करते हुए कहते हैं जापान में बौद्धमत के धर्म विषयक प्रचार के बाद स्त्री–शिक्षा के संबंध में मतभेद से लोगों का यह ख्याल था कि स्त्रियाँ स्वभाव से कोमल होती है। अरुण पालक और नम्र होना ही स्त्रियों का प्रधान धर्म है उनको सिर्फ इतनी शिक्षा देना उचित समझा गया जिससे वे धर गृहस्थी के काम काज अच्छी तरह कर सकें; सीने, बुनने और रंगने के सब काम कर सकें; घर को सुसज्जित रख सकें, और गीत, वाद्य से अपने घर वालों और आये गये मेहमानों को प्रसन्न कर सकें। लेकिन कुछ काल के अनन्तर युद्ध जीवियों और क्षत्रिय धर्म्म के सहयोग इन धारणाओं का खंडन कर स्त्री को शिक्षित किया। जापानियों में यह धारणा थी कि जिसकी स्त्री शिक्षित नहीं, उसको जीवन आनंद और गृहस्थाश्रम का आनंद कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। जापान में उच्च से उच्च स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय में साधारण लिखाई पढ़ाई और शरीर रक्षा के नियम सिखाये जाते हैं। यह स्कूल, कॉलेज विश्वविद्यालय योग्य और अमेरिका की तुलना में कम नहीं। तात्पर्य यह हुआ यूरोप और अमेरिका में स्त्री का यही नियम था। अंतर केवल इतना है कि बौद्धधर्म के प्रचार के बाद और बुद्धजीवियों एवं श्रत्रिय धर्म के विकसित सहयोग से 'स्त्री जीवन' को आनंद की वस्तु के साथ–साथ सामाजिक आवश्यकता के आलोक में स्त्री–शिक्षा को आवश्यक माना जाने लगा–"जापानी स्त्रियों में एक बात ऐसी है जो शायद ही किसी दूसरे देश की अखण्ड प्रीति सतत् वास करती है वैसे ही स्त्रियों के हृदय में भी उसका अखण्ड वास है। यही कारण है जो रूस–जापान युद्ध में अपने देश को सहायता के लिए स्त्रियों की कौन कहे, छोटी–छोटी लड़कियाँ तक, अपने जेब खर्च से रुपये पैसे बचाकर भेज रही हैं। स्त्रियाँ अपने जेवर बेच रही है और आधे पेट रहकर पति–पुत्र से भी अधिक प्यारे देश की सहायता के उपाय सोच रही है।"[3] वास्तव में स्त्री–शिक्षा का प्रश्न परिवार में स्त्री की भूमिका के साथ–साथ सामाजिक भूमिका से जुड़ा था। परिवार में वह अच्छी स्त्री, माता, गृहिणी बनकर अन्यों को आदर्श का काम दें, परिवार को लाभान्वित करे और देश में इतिहास एवं भूगोल के ज्ञान से अपने देश का महत्त्व, उसकी उन्नति और अवनति के कारण खोजें। अर्थात परिवार, समाज, देश के विषय में सोचों, अपने विषय में मत सोचों। यद्यपि स्त्रियों को शिक्षित करने के पक्षपती बहुत विद्वान थे किंतु अधिकतर विद्वान शिक्षा की आवश्यकता के रूप में पुरुषों को

मनुष्यत्व और स्त्रियों को पूर्ण स्त्रीत्व के रूप में देखना चाहते थे। कारण, स्त्री और पुरुषों की प्रकृति भिन्न होती है। अतएव दोनों की शिक्षा प्रणाली में अंतर की माँग की गई।

स्त्री–शिक्षा के स्वरूप के मतभेदों में एक मतभेद स्त्री और पुरुष की भिन्न प्रकृति के कारण स्त्रियों को पुरुषों के समान शिक्षा देने का था। इनकी दृष्टि में स्त्री–शिक्षा का अर्थ स्त्रियों की स्वतंत्रता और धनार्जन कार्य से था। चूँकि स्त्रियों में संतान उत्पन्न करने की क्षमता होने के कारण उनमें कठिन परिश्रम करने की शक्ति नहीं होती है। उनका व्यापार, वाणिज्य, व्यवसाय अथवा नौकरी के लिए देश–विदेश में भ्रमण संतोनोत्पत्ति और संतान के पालन–पोषण में अवरोध उत्पन्न कर डालता था। शालग्राम के शब्दों में–''यदि यह शिक्षा उनके कार्यों में बाधा न डालती तो सभी विचारशील पुरुष इसका अनुमोदन हृदय से करते; क्योंकि आर्थिक अभ्युदय की अभिलाषा मनुष्यों में स्वभावतः सिद्ध है।"[4] इसके विपरीत एक वर्ग ऐसा भी है जो स्त्रियों को पुरुषों के समान उच्च से उच्च शिक्षा देने के पक्ष में था। इन्होंने माना कि स्त्रियों के नैतिक और मानसिक शक्तियों के विकास के लिए पुरुषों के समान स्त्रियों को शिक्षा देनी चाहिए। एक विनीत देश भक्त के शब्दों में–"पुरुष तथा स्त्री दोनों को शिक्षा का यही वास्तविक उद्देश्य होना चाहिए और इस उद्देश्य की दृष्टि से स्त्रियों को ठीक इस ही प्रकार की उच्च से उच्च साहित्य संबंधी तथा विज्ञान संबंधी शिक्षा मिलनी चाहिए जिस प्रकार पुरुषों को मिलती है।"[5] शिक्षा से स्त्री और पुरुष दोनों का नैतिक और मानसिक विकास होता है लेकिन उच्च शिक्षा ग्रहित स्त्रियों से पुरुषों को मानसिक सहायता भी मिलती है। 'स्त्रीदर्पण' की संपादिका अनुसार उच्च शिक्षित स्त्रियों से पुरुषों को जो मानसिक सहायता मिलेगी वह जिह्वा के स्वाद से कहीं बढ़कर होगी जिसे पुरुष वर्ग त्यागना नहीं चाहेंगे।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री–शिक्षा भारतीय प्रणाली में दी जानी उचित मानी। वह हिंदू धर्म पर आधारित शिक्षा थी। स्त्रियों को मिलने वाली अंग्रेजी शिक्षा और पादरी मैमों द्वारा दी जाने वाली शिक्षा को धर्म के विरुद्ध मानकर स्त्रियों को अशिक्षित रखना उचित समझते हैं–"कुछ लोग ऐसे भी हैं जो अपनी लड़कियों को पादड़ी मेमों के द्वारा शिक्षा दिलाते हैं। ऐसी शिक्षा क्या शिक्षा कही जा सकती है? नहीं ऐसी शिक्षा से तो स्त्रियों का अशिक्षित रहना अच्छा है, क्योंकि शिक्षित होकर दूसरों का धर्म स्वीकार करने की अपेक्षा अशिक्षित रहकर अपने धर्म में मरना ही भला है।"[6] मिस हेलेन केलर ने

भारतीय स्त्री की प्रथम आवश्यकता शिक्षा को मानती है। वह कहती हैं कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो सामाजिक उन्नति में सहायक हो। जब तक स्त्रियों को शिक्षा की रोशनी नहीं मिलेगी स्त्रियाँ उस सामाजिक दासत्व से नहीं निकल सकती।

साहित्यकारों और समाज सुधारकों के सतहीपन से बढ़कर मध्य वर्ग द्वारा अपनी अपढ़ स्त्रियों को अपने Status (पाश्चात्य तौर–तरीके) अनुसार ढालने में स्त्री–शिक्षा को बढ़ावा दिया। नवजागरणकाल की स्त्री–शिक्षा के विषय में हेमलता माहेश्वर लिखती हैं–''उन्नीसवीं–बीसवीं शताब्दी में कुलीन समाज में नारी–शिक्षा, किसी सामाजिक सुधार या चेतना को लेकर नहीं बल्कि अंग्रेज समाज में अपनी घुसपैठ बनाने के लिए थी। अंग्रेज समाज में स्त्रियों को घर के बाहर भी जो सम्मान प्राप्त था, उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनके बच्चों की शिक्षा व्यवहार से कुलीन समाज प्रभावित था। जब वह इनकी तुलना अपने बच्चों से करता, स्त्रियों से करता तो सौम्यता के स्थान पर ज़ाहिलपना पाता।"[7] ऐसे अनेक कारण मिल जायेंगे जिसमें स्त्रियों को स्वार्थ की दृष्टि से देखा गया है। उसी को ध्यान में रखकर समस्त सुधार किए गए। प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री–शिक्षा का प्रारंभिक स्वरूप कहीं–न–कहीं इसी रूप में परिलक्षित होता है–"गृहस्थी रथ के समान है जिसके चलाने की बागडोर पुरुष के हाथ में है। पर बहुधा स्त्री ही यह बताती रहती है कि किस रथ से इसे खींचना है। गृहस्थ का केवल यही काम नहीं कि किसी तरह पेटभर लिया और सो रहे। उसको बहुत–सी दूसरी बातों का ध्यान रखना पड़ता है जिससे किसी तरह अप्रतिष्ठा या मान–हानि न होने पावे, जीवन अच्छी तरह व्यतीत हो और गृहस्थी का यथेष्ट सुखानुभव हो। प्रायः तीन चौथाई सामाजिक दोषों का मान–प्रतिष्ठा का भंग होना है। इसलिए साधारणतः गृहस्थी को सुखमय बना, ओरों के लिए आदर्श बनाना, बच्चों को योग्य बनाना, यही गृहस्थ का मुख्य धर्म है। इस महान कार्य में मनुष्य सफल तभी हो सकता है जब सुशिक्षिता स्त्री उसकी सहधर्मचारिणी होती है।"[8]

20वीं शताब्दी में स्त्री–शिक्षा समर्थकों और असमर्थकों की कमी न थी। असमर्थक प्रायः पाश्चात्य सभ्यता से दूर भारतीय स्त्रियों को उत्तम गृहिणी के रूप में देखते आ रहे थे। उनके लिए स्त्री–जीवन से जुड़ा छोटा–सा परिवर्तन उनको ठेस पहुँचाने वाला था। इसलिए उन्होंने ऐसी शिक्षा पद्धति को आवश्यक माना जिससे स्त्रियों पर भी उनका अधिपत्य रहे और उनकी सत्ता को भी कोई हानि न पहुँचे–"उत्तम गृहिणी होने के लिए स्त्री–शिक्षा की बड़ी

आवश्यकता है। व्यवहार में कुशलता और चतुराई से संसार में काम करने के लिये जो बुद्धि मनुष्य को ईश्वर ने दी है उसके विकास के लिए सम्पूर्ण जीवन को आनंदमय बनाने के लिए, जीवन सार्थक करने के लिये, ज्ञानवान् तथा योग्यतावान होने के लिए शिक्षा परम आवश्यक है। योग्य शिक्षा से रहित मनुष्य में कोई भेद नहीं रहता।"[9] वास्तव में शिक्षा से मानसिक ज्ञान का विस्तार संभव होता है। लेकिन स्त्रियों का मानसिक विस्तार स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक आनंदित करने वाला था। अर्थात् सुखमय जीवन के लिए उत्तम गृहिणी का निर्माण।

स्त्रियों को उत्तम गृहिणी के रूप में परिवर्तित करने वाले समर्थकों के लिए पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार–प्रसार राष्ट्र और संस्कृति विरोधी था। इन समर्थकों के लिए पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता–संस्कृति को अपनाना पराधीनता को अपनाना था। केवल स्त्रियों के विषय में क्योंकि भारतीयों के लिए स्त्रियाँ वैसा ही पवित्र मामला था, जैसे उनका धर्म।[10] एक धर्म ने दूसरे धर्म की दखलअंदाजी ने विकासात्मक परिदृश्य की ओर न देखकर, देश को विनाशक परिदृश्य में देखा। एक धर्म का विनाश देश की संस्कृति सभ्यता, मान्यता, परंपराओं, संस्कारों का विनाश था। इसका भुगतान केवल स्त्रियों को करना पड़ा। 20वीं शताब्दी में पाश्चात्य शिक्षा पर विभिन्न प्रकार के दोषारोपण किए गए–"अभी तक जिस शैली से शिक्षा दी गई और प्रायः दी जा रही है वह राष्ट्रीय या अपनी शैली नहीं है। वह स्वधर्म एवं देश–काल–पात्र के अनुकूल नहीं है। वह बहुधा सदाचार–शिक्षा से विहीन और ईसाईयों के प्रभाव से प्रभावित है।"[11] इस विषय में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यदि भारतीय परिवेश में स्त्रियों के लिए शिक्षा संभव हो पाई तो केवल पश्चिमी सभ्यता और ईसाई मिशनरियों के सहयोग से।[12]

नवजागरणकालीन दौर में स्त्री–शिक्षा पर आवश्यकता से ज्यादा बल दिया गया। देश के विविध कोनों से पत्र–पत्रिकाएँ निकाली गई। सभा समितियों का गठन किया गया। जगह–जगह व्याख्यान दिए गए। इनमें अधिकतर वह लोग शामिल थे जो स्त्री–शिक्षा को अनावश्यक कार्य समझते थे। 'स्त्री–दर्पण' की चूँकि संपादिका के शब्दों में–"इसका कारण केवल यह है कि स्त्री का कार्य–क्षेत्र केवल गृहस्थी में घर की चारदीवारी के भीतर समझा गया है। और ऐसा विचार किया जाता है कि इस संकीर्ण क्षेत्र में अपने कर्तव्यों को पालने के लिए स्त्री को कुछ बहुत शिक्षा की आवश्यकता नहीं है।''[13] जहाँ स्त्रियों की शिक्षा को अनावश्यक समझा जाता हो, वहाँ स्त्रियों की उच्च शिक्षा की बात करना व्यर्थ था। ऐसे

व्यक्तियों के लिए शिक्षा का क्या महत्त्व? इनके लिए स्त्री–शिक्षा का आग्रह अनौपचारिक स्त्री–शिक्षा में छिपा था जिसमें किसी प्रवीण पंडिताइनें, मेमों की आवश्यकता नहीं होती। जो घर के किसी विशेष वर्ग अथवा सदस्य द्वारा घर में दी जाती थी–''स्त्रियों को शिक्षा ऐसी दी जावे जो कि घर के किसी खास आदमी की दी हुई हो, भाई बहन को शिक्षा दे अथवा पिता कन्या को, पति पत्नी को...''[14]

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की यह अनौपचारिक शिक्षा जिस वरिष्ठ परिजन से संचालित है वह पुरुष सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है। वहाँ स्त्री 'पवित्रता' का भी मामला है और 'संपत्ति' का भी। ऐसी स्थिति में स्त्रियाँ और स्त्री–शिक्षा दोनों उपालम्भ तुल्य वस्तु से ज्यादा कुछ नहीं थी–"इसमें सन्देह नहीं कि कहीं कहीं लोग उपालम्भ देने लगे हैं कि स्त्रियाँ भारत की पढ़ लिखकर स्वतंत्र अधिक हो रही है कि कुछ एक परिणामदर्शी न होने के कारण यहाँ तक भी कह बैठते हैं कि स्त्री–शिक्षा में स्त्रियाँ कमज़ोर हो जाती हैं। सन्तान जनने योग्य नहीं रहती और सबसे बढ़कर उनकी आज़ादी बढ़ जाती है, वगैरह वगैरह बातें लोग कहते हुये सुने जाते हैं।"[15] शिक्षा विरोधियों ने इन स्त्री–शिक्षा संबंधी भ्रांतियों को ध्यान में रखकर पत्रादि लिखने–पढ़ने तक को ही स्त्री–शिक्षा का अंग माना। इनकी दृष्टि में स्त्रियों को सीमित मात्रा में दी गई शिक्षा न स्त्रियों द्वारा पुरुष बनने की स्पर्धा है न नकल। यह स्त्री को 'स्त्रीत्व' में परिणत करने की कला है–"स्त्री को परिपूर्ण स्त्री बनाना ही उपयुक्त शिक्षा है, स्त्री को पुरुष बनाने की चेष्टा करना बंजर में बरसने के समान निष्फल और हवा में महल बनाने की भाँति असम्भव है।"[16]

भारतीय समाज में शिक्षा ने शिक्षित वर्ग के लिए बाबू की छवि को गढ़ा है। 20वीं शताब्दी में स्त्रियों के लिए बाबू की परिकल्पना उनके विकास में सबसे बड़ी बाधा थी। इसकी क्षति स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रहकर उठानी पड़ी। अनपढ़ और उच्च शिक्षित स्त्रियों में सबसे अधिक पीड़ा पत्रादि लिखने–पढ़ने वाली (अर्द्धशिक्षित) स्त्रियों को होती थी। सर्वप्रथम उन पर चरित्र हनन का आरोप लगाया जाता था, उन्हें हास्याप्रद दृष्टि से देखा जाता था। श्रीमती देवकी देवी ऐसी अर्द्धशिक्षित स्त्रियों की स्थिति का उल्लेख करती है–"जो सिर्फ 4, 5 श्रेणी तक शिक्षित हो पाती है, वे न तो पूरी शिक्षित होती है, न अशिक्षित, परिणाम यह होता है कि वे उन कार्यों से जानी जाती है जो अनपढ़ स्त्रियाँ करने में संकोच नहीं करती, यथा

चक्की पीसना, कसीदा काढ़ना, चरखा कातना इत्यादि, अब अगर वे यह काम करने बैठे तो उन्हें अनपढ़ स्त्रियाँ कहती हैं कि भई तुम में और हम में भेद क्या हुआ तुम दो अक्षर पढ़ भी गई तो फ़र्क क्या पड़ा फ़जूल तुम्हारी पढ़ाई पर पैसे खर्च किये गये यह काम तो हम बिन पढ़े ही कर सकती हैं, नतीजा यह होता है कि शर्म से न तो वे वह काम करती है, जो अनपढ़ स्त्रियाँ करती है और न वे भली प्रकार शिक्षित ही होती है कि वह पढ़ी लिखी स्त्रियों वाला काम करें, फिर क्या होता है कि जब समाज यह कहने लग जाते हैं कि इससे तो अनपढ़ रखना अच्छा था कि कोई काम तो संवारती नहीं, अब तो सिर्फ अच्छे कपिड़े पहिनने और कुर्सी पर बैठने के और कोई काम ही नहीं कर सकती इत्यादि।"[17]

परिवार के पारंपरिक दायरे से स्त्रियों को बाहर निकालना औपचारिक स्त्री–शिक्षा का लक्ष्य नहीं था। स्त्रियों को सीमित दायरे में देखने वाले अभयस्त व्यक्तियों को यह रूचिकर भी नहीं लगता था। इनके लिए स्त्री–शिक्षा स्त्रियों के गंवारपन को कम करने का साधन मात्र थी। शिक्षा विरोधी जिसे स्त्रियों का गंवारपन कह रहे थे वह स्त्रियों में शिक्षा के कारण था। मूलचन्द भट्ट 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका में छपे लेख 'स्त्रियों की शिक्षा कैसी होनी चाहिए' में उल्लेख करते हैं कि यदि स्त्रियों को साधारण शिक्षा के रूप में आहार–विहार, सदाचार की शिक्षा देने से स्त्रियाँ फ़ालतू की बातें करना छोड़ देगी। उनकी संतान रोग युक्त, हष्ट–पुष्ट और सुखी होगी। 20वीं शताब्दी में स्त्रियों को इस प्रकार देखे जाने का कारण राधा कुमार के इन शब्दों में अंतर्निहित है–"जहाँ उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में समाज के पतन के लिए स्त्रियों को जिम्मेदार ठहराया गया वहीं उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में सामाजिक पतन के लिए बच्चों की ओर इशारा किया गया। वास्तव में इसके लिए स्त्रियों को ही उत्तरदायी माना गया परन्तु अब ध्यान बच्चों की ओर मुड़ गया।"[18]

तत्कालीन युग के लगभग सभी विचारक स्त्री–शिक्षा के प्रति यही दृष्टिकोण रखते थे। चूँकि स्त्रियाँ पुरुषों की संपत्ति समझती जाती है। संपत्ति की असुरक्षा की भावना ने पुरुषसत्तात्मक समाज को ऐसी शिक्षा पद्धति के निर्माण के लिए प्रेरित किया जिसमें उनकी संपत्ति को सुरक्षित रखने का पूर्ण आश्वासन मिले। वह शिक्षा पद्धति स्वास्थ्य रक्षा संबंधी, गृहस्थ शास्त्र, पाक–शास्त्र, इतिहास एवं भूगोल और सीना–पिरोने तक सीमित थी। क्योंकि स्त्री–शिक्षा का यह क्षेत्र स्त्रियों के लिए सुरक्षित माना जाता था। यह पुरुष सत्ता को

पूरा–पूरा आश्वासन भी देती है। अपनी असुरक्षा की भावना को छुपाने के लिए विचारकों ने शिक्षिकाओं और चिकित्सकायों की ओर इशारा किया–"यह ठीक है कि इंग्लैंड, फ्रांस आदि पश्चिमीय देशों की भांति हमारी लड़कियों को शिक्षा पाकर दफ्तरों और दूकानों, रेलों, डाकखानों में काम करना नहीं है, परन्तु उन्हें समाज में तो काम करने के लिए तैयार करना पड़ेगा। शिक्षिकाओं और चिकित्सकाओं की हमें बड़ी आवश्यकता हैं।"[19]

भारतीय सामाजिक संरचना में 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में स्त्री–शिक्षा का सीधा तात्पर्य अपनी संस्कृति, संस्कार, भाषा को विस्मृत कर स्त्रियों के घर को बाहर नौकरी पेशा से लगाया जाता था। इसे शिक्षा विरोधियों ने स्त्रियों के आत्मिक, मानसिक, शारीरिक विकास के लिए कभी आवश्यक नहीं माना। वह हमेशा यही कहते रहे–''पढ़ने लिखने का यह मतलब नहीं है कि काम न करो, काम करने में क्या दोष है, देखो दिन भर काम करके तुम्हारे पति परमेश्वर काम करते है तब तुम क्यों न करो। हाँ भोजन बनाना अथवा और दूसरे कार्य जैसे झाड़ू इत्यादि न लगाना हो, तो उनके लिए तुम्हें समय न मिले तो नौकरों से लो किन्तु फिर भी पक्की देखभाल रक्खो, अपने छोटे–छोटे बच्चों को तो कभी अपने से अलग न करो, उनका खाना पीना पढ़ना लिखना सब अपने नित्य कामों में रक्खो।"[20]

कार्यक्षेत्र की यह विभेदक स्थिति स्त्री–पुरुष के एक बड़े अन्तर को दर्शाती है। इसमें स्त्रियों को कार्य करने की अनुमति है लेकिन वही कार्य जिन्हें पुरातनवादियों ने स्त्रियोचित ठहराया है। इन्होंने भारतीय शिक्षा प्रणाली में गुलामी की शिक्षा पद्धति का निर्माण किया। उसमें पुरुष परमेश्वर होने के कारण सेवा पात्र है और स्त्री देवीय उपाधि से पूर्ण होकर भी सेवक हैं। यह असमानता पुरुष प्रधान समाज की मानसिकता की परिचायक है। आज जब स्त्री पूर्ण रूप से एक सेवक के रूप में परिवर्तित हो गई है तब आधुनिक पुरुष स्त्री को पितृसत्तात्मक मानसिकता की परिधि में देखता हुआ अथाह अपेक्षाएँ रखता है। राजकिशोर के शब्दों में–"शेर का बच्चा अंग्रेजी माध्यम के कान्वेंट स्कूल में पढ़ता है। बकरी उसे नहला–धुलाकर उसे स्कूल के लिए तैयार कर देती है, उसकी टाई भी बाँध देती है, लेकिन वह उसका 'होम वर्क' कैसे कराये? सो पति अंदर ही अंदर बिसूरता रहता है कि अच्छी औरत है। अपने बच्चे की शिक्षा में भी मदद नहीं कर सकती। अब मैं क्या–क्या करूँ? दफ्तर जाऊँ, सब्जी लाऊँ, बच्चों को पढ़ाऊँ और इस तरह अपनी जिन्दगी को मिट्टी में मिला दूँ?

यह तो घर में बैठी–बैठी मोटाती रहे और मैं सुबह से शाम तक खटता रहूँ, यह कहाँ का न्याय है? अब शेर चाहता है कि बकरी सिर्फ 'सुनो जी' और 'देखो जी' न कहे, कुछ शेरो–शायरी करे, सोनिया गांधी और लालू–मुलायम में दिलचस्पी दिखलाये, क्रिकेट की समझ न रखे, तो कम–से–कम 'सॉरी' और 'थैंक्यू' तो जान ले। लेकिन उसे तो रसोई, सिलाई और अपनी पड़ोसिनों की निंदा–शिकायत से ही फुरसत नहीं है। इस तरह शेर बाहर की दुनिया में जीत कर अपनी गुफा में हार जाता है और यह मानकर संतोष कर लेता है कि अच्छी औरत उसकी किस्मत में ही नहीं लिखी है।"[21]

आज के पुरुष की इस विक्षिप्त अवस्था के पीछे मुख्यतः दो कारण विद्यमान है एक पुरुषसत्तात्मक मानसिकता, द्वितीय गुलामपरक स्त्री–शिक्षा पद्धति। इस शिक्षा पद्धति में राम स्कूल जाता है लेकिन सीता नहीं जाती। उसके ऊपर सर्वगुण संपन्न स्त्री बनने का दबाव है। उसके लिए औपचारिक शिक्षा का महत्त्व नहीं। हालांकि औपचारिक और अनौपचारिक दोनों स्त्री–शिक्षा का उद्देश्य स्त्रियों को उत्तम गृहिणी बनाना रहा। पितृसत्तात्मक समाज की इस शिक्षा नीति को आज की स्त्रियों ने बदला है। इस विषय पर स्त्री विमर्शकार मीरा सीकरी कहती हैं कि–"पुरुषसत्तात्मक समाज में स्त्री बेआवाज़ थी, गूँगी थी, उस समाज में उसके बारे में जो कुछ भी कहा जा रहा था वह 'हिज़ स्टोरी' थी 'स्त्री गाथा' नहीं। अब ऐसा नहीं कहा। 'राम पाठशाला जा' के साथ–साथ राधा भी पाठशाला जाने लगी है–"वह बोलना सीख रही है और अपनी भाषा गढ़ रही है। खुद को अभिव्यक्त कर अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर रही है।"[22] स्त्रियों को मात्र अनौपचारिक शिक्षा देकर सर्वगुण संपन्न गृहिणी बनाना संभव न था। इसलिए स्त्रियों को गुलामपरक औपचारिक शिक्षा देने पर दबाव डाला गया।[23] जैसे अंग्रेजी शिक्षा के विषय में स्त्रियाँ पुरुषसत्तात्मक समाज के लिए धर्म का मसला थी वैसे ही स्त्री शिक्षा समाज–सुधारकों, राजनेताओं के लिए राष्ट्रीय निवेश थी। इतिहासकार चारू गुप्ता के शब्दों में–"बेहतर पत्नी और माँ के निर्माण में मदद करने के लिए महिला शिक्षा एक मध्यवर्गीय हिन्दू पहचान ओर सभ्यता निर्मित करने वाले एक नैतिक कर्म के रूप में सामने आयी। स्त्री शिक्षा एक राष्ट्रीय निवेश था, जिसका मकसद उन्हें एक अच्छी गृहिणी और अपने विवाहित जीवन में एक उत्तम और ज्ञानवान सहचरी बनाना।"[24]

'स्त्री–पुरुष' संरचनात्मक, भावात्मक, कार्यात्मक और मानसिक रूप से असमान घोषित है। यह स्त्रियों को परस्पर आभास भी कराया जाता रहता है। इन भिन्नताओं के कारण परिश्रम (चूँकि 'स्त्री–शिक्षा' भी स्त्री–शिक्षा विरोधियों की दृष्टि में किसी शारीरिक, मानसिक परिश्रम से कम न थी) निर्धारित करना कैसा वैज्ञानिक नियम था। वास्तविकता यह है कि पुरुषसत्तात्मक समाज जिस शिक्षा का दंभ भर रहा था वह सही अर्थों में पुरुषों को भी नहीं मिल पाई। अपनी सत्ता के वर्चस्व को स्थायित्व प्रदान करने के लिए शिक्षा क्षेत्र में डिग्रियाँ प्राप्त कर सरकारी नौकरियाँ पाना ही उनका उद्देश्य रहा। सत्ता का स्थानांतरण न हो इसलिए स्त्रियों को शारीरिक, मानसिक और आर्थिक रूप से कमजोर किए जाने के लिए स्त्री–शिक्षा की ऐसी नीति अपनाई जिसका सहयोग अमेरिका ने भी दिया। अप्रैल 1917 'स्त्रीदर्पण' में कुमारी के. तलुस्कर का लेख 'हिन्दू लड़कियों को क्यों अमेरिका जाना चाहिए' समस्त तथ्यों को उजागर कर देता है। वह लिखती हैं कि–"भारतीय विश्वविद्यालयों का केवल मात्र यही उद्देश्य है कि लड़के इनकी निर्धारित परिक्षायें पास करें और सरकारी नौकरी पाने योग्य बन जाये। अतएव लड़कियों की शिक्षा का उद्देश्य इन विश्वविद्यालयों को बहुत कम पूरा हो सकता है। इन विश्वविद्यालयों में उनको ऐसी बातें सीखनी पड़ती हैं जिन की सांसारिक जीवन में कोई ज़रूरत नहीं। अमरीकन विश्वविद्यालयों में इन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उनको यहाँ पर ऐसी शिक्षा मिलती है कि गृह सम्बन्धी कामों में भी निपुण हो जाती है और सामाजिक जीवन में भी ठीक तरह भाग लेने योग्य बन जाती है।"[25]

भारतीय समाज अपनी रूढ़िगत परंपराओं एवं मान–मर्यादाओं को ढ़ोने के चलते स्त्रियों को अकाल आई 'आपदा' तुल्य बोझ समझता रहा हो उसके लिए स्त्री–शिक्षा किस काम आ सकती है? जाहिर सी बात है स्त्रियों के विवाह के काम में। अभी तक स्त्री समाज 'पारम्परिक मूल्यों' के भेंट चढ़ाई जा रही थी लेकिन अब स्त्री 'स्त्री–शिक्षा' के नाम पर 'वैज्ञानिक गृहस्थ' शिक्षा देकर परंपरागत मूल्यों की भेंट चढ़ाया जाने लगा। 'स्त्रीदर्पण' की चूँकि संपादिका के शब्दों में–"इंग्लैंड में और अन्य पश्चिमी देशों में बड़ी विदुषी और ज्ञान वाली स्त्रियाँ विद्यमान है। परन्तु साधारणतः वहाँ भी स्त्री को उतनी ही शिक्षा देनी आवश्यक समझी गयी है। जिसमें उसका विवाह आसानी से हो सके।"[26] एक ओर पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करके 'स्त्री–शिक्षा' विवाह संस्था को मजबूती प्रदान कर रही थी दूसरी ओर विवाह संस्था के अन्यतम रूप (विधवा विवाह) पर प्रहार किया जा रहा था।[27] किसी रीति के प्रचलन

को कुरीति घोषित कर (जिससे स्त्री समाज लाभान्वित होता हो) स्त्री–शिक्षा को आवश्यक मानना किसी प्रबुद्ध प्राणी की मानसिकता का द्योतक नहीं है। 'भारत में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता' लेख में श्रीयुत बाबू राम श्रीवास्तव, मुरार, ग्वालियर लिखते हैं–"स्त्री–शिक्षा से पहिले तो बालिकाओं की बालावस्था का समय व्यतीत हो कर विवाह योग्य आयु ही आती है और वह अपना असली कर्तव्य समझने लगती है। अतएव विधवा होने पर वह स्वयं ही विधवा–विवाह पसंद नहीं कर सकतीं। स्त्रियों को उच्च शिक्षा एवं व्योवहारिक शिक्षा (Practical Training) न पाने से पति के देहांत होने के पश्चात् अपना पालन–पोषण करना अति कठिन हो जाता है। हमने बहुधा स्त्रियों को विधवा होने के पश्चात् अपना जीवन महाकष्ट से व्यतीत करते हुए देखा है क्योंकि शिक्षा न पाने से अपना पोषण नहीं कर सकती और शिक्षा–विभाग में नौकरी नहीं कर सकती और व्योवहारिक शिक्षा न पाने से वह कुछ ऐसी चीजें बनाकर व्यापार नहीं कर सकती ताकि उनके जीवन कष्ट से व्यतीत न हो। यही कारण है कि हमको विधवा विवाह करने की सम्मति देनी पड़ती है।"[28]

विवाह का जितना संबंध बाल–विधवा से है उतना ही युवती विधवा से भी। स्त्री अशिक्षा ने बाल–विवाह/बाल–विधवा को बढ़ावा देने में मदद की परंतु युवती विधवाओं की स्थिति भी कुछ ज्यादा अच्छी नहीं थी।[29] चूँकि विवाह यौन शुचिता के धरातल पर टिका है। इसलिए स्त्री के एक वर्ग को विधवा विवाह की अनुमति दी गई, दूसरे वर्ग को नहीं। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में विधवा स्त्रियों को उच्च शिक्षा और व्यवहारिक शिक्षा रूप में शिक्षित करने की आवश्यकता इसलिए थी कि वह परंपरागत मूल्यों और मान्यताओं को भलिभाँति पूर्ण कर सकें। आत्मनिर्भर बनना प्रत्येक व्यक्ति (Included Stri) धर्म है। विधवाओं के पुनर्विवाह को रोकना धार्मिक कट्टरपंथियों की प्रथम प्राथमिकता और द्वितीय विधवाओं को आत्मनिर्भर बनाना थी। ऐसी स्थिति में जब स्त्रियों के धनोपार्जन के संबंध में यह विचार थे कि 'स्त्रियाँ, पुरुषों के सदृश, धनोपार्जन कार्य का कठिन श्रम उठा सकेंगी। वे वाणिज्य, व्यवसाय अथवा नौकरी के लिए देश–देशान्तरों में भ्रमण नहीं कर सकती; क्योंकि भारतीय पुरुष की संतानोत्पत्ति और उनके लालन–पालन में घोर प्रतिबंधक है। इसलिए धनोपार्जन का भार पुरुषों पर रखा गया है।' ऐसी दशा में स्त्रियों की धनोपार्जन संबंधी शिक्षा को धन संग्रहण के लिए आवश्यक माना। 'स्त्रीदर्पण' दिसंबर 1918 में 'स्त्रीजाति में धन का दुरुपयोग' शीर्षक से श्रीमती सूर्यकुमारी देवी लिखती हैं–''अपना धन व्यर्थ कामों में न

लगाकर अपने दुर्भिक्ष पीड़ित दीन भाई बहनों की सेवा करो जिससे देश की राष्ट्रीय संपत्ति का ह्रास न हो और हम अपने फर्ज़ को अदा करें।''[30] 20वीं शताब्दी के विचारक अपने आप में एक अंतर्विरोध में जी रहे थे। 'क्या करें, क्या न करें' के नए–नए प्रयोजनों से भारतीय स्त्रियों को परिचित समय–समय पर किया जाता रहा।

भारतीय संस्कृति की धरोहर (स्त्री) को रूढ़िवादियों ने स्त्री–शिक्षा (गृहस्थ शिक्षा) के जरिए बँधी–बँधाई परिपाटी पर चलने के लिए बाध्य किया था। वह स्त्री–शिक्षा का सामाजिक संरचना में हस्तक्षेप पारंपरिक मूल्यों और मान्यताओं को तोड़ने का था। रूढ़िवादी परंपराएँ अचानक विशृंखलित नहीं होती, उन्हें टूटने में सदियाँ बीत जाती है। गृहस्थ शिक्षा का सहारा लेकर परंपराओं को विशृंखलित करने का प्रथम चरण कहा जा सकता है। स्वयं 'स्त्रीदर्पण' की संपादिका गृहस्थ शिक्षा की आड में स्त्री–पुरुष को समान आँक कर समाज में समान भागीदारी सुनिश्चित करना चाहती है "पहिले तो गृहस्थी के ही कर्तव्यों का पालन पूर्णरूप से बिना अच्छी शिक्षा के नहीं हो सकता और फिर स्त्री का कर्मक्षेत्र केवल कुटुम्ब और गृहस्थी ही नहीं, वरन् समाज, देश और समस्त संसार है जिस प्रकार प्रत्येक पुरुष को अपनी जीविका उपार्जन करने के अतिरिक्त संसार में अन्य बहुतेरे कार्य करने होते हैं जो उससे उच्च श्रेष्ठ है, उसी प्रकार हर स्त्री के लिए भी उचित है कि अपनी गृहस्थी के धंधों के अतिरिक्त वह उन कामों को भी करें। जो आज कल पुरुषों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं।"[31] तथाकथित मनुष्य कहलाने वाले समाज में स्त्रियों को 'स्त्री' के पारंपरिक ढाँचे से बाहर निकालने और स्वयं (स्त्री) को मनुष्य कहलाने की दिशा में 'स्त्रीदर्पण' की चूँकि संपादिका स्त्री–शिक्षा लक्ष्यों को सामने रखते हुए कहती हैं–"स्त्री की शिक्षा इन लक्ष्यों को सामने रखकर होनी चाहिए–प्रथम मनुष्यत्व, द्वितीय स्त्रीत्व। स्त्री केवल स्त्री नहीं है, वह स्त्री होने से पूर्व मनुष्य है, अर्थात् मानव समाज का एक अंग है इसलिए उसकी शिक्षा उसके इस पद के उपयुक्त होनी चाहिए। बालपन से उसके सिर में यह भरने के बदलें कि वह स्त्री है, इस बात का उद्योग होना चाहिए कि वह इस बात को भूल जाय कि वह स्त्री है, और केवल इसी बात को याद रखे कि वह मनुष्य है–मानव समाज का एक अंग है।"[32]

शिक्षा का अर्थ अक्षर ज्ञान या बड़ी–बड़ी डिग्रियाँ प्राप्त करना नहीं होता है। अपितु शिक्षा का सामान्यतः अर्थ जीवन के विविध पहलुओं की जानकारी देना व स्वत्व अथवा

मानवीय अधिकारों के प्रयोग के करने की समझ विकसित करना है। 20वीं शताब्दी में स्त्री–शिक्षा स्वत्व विकसित न करती हो लेकिन व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर बल अवश्य देती है। 'मर्यादा' (1915) पत्रिका में 'स्त्री के कर्तव्य' लेख में स्त्री–शिक्षा संबंधित स्त्रियों के कर्तव्य बताते हुए लिखा है–"यह बात लक्ष्य में रखनी चाहिए कि शिक्षा का अर्थ दो चार पुस्तकों को पढ़ डालना या बी.ए., एम.ए. पास कर लेना मात्र नहीं है। किन्तु शिक्षा का अर्थ मन का संपूर्ण सांगोपांग विकास है।"[33] व्यक्ति का सर्वांगीण विकास प्राप्त विद्या को व्यवहार में लाकर ही संभव बनाया जा सकता है। श्रीयुत बाबू राम श्रीवास्तव, मुरार, ग्वालियर के शब्दों में–"विद्या प्राप्त करने के पश्चात् उसको व्योहार में लाना प्रत्येक स्त्री का कर्तव्य है क्योंकि बिना पढ़ने से केवल किसी बात का ज्ञान प्राप्त कर लेना नहीं है परन्तु उस ज्ञान को अपना लेना अत्यंत उसको अपना स्वाभाविक गुण बना लेना व्योवहारिक ज्ञान (Practical Experience) प्राप्त करने से हो सकता है।"[34] स्त्री–शिक्षा को घर–गृहस्थी से जोड़ने एवं समाज में परिवार मान–सम्मान व प्रतिष्ठा समझी जाने के बावजूद स्त्री–शिक्षा को स्त्री अस्तित्व से जोड़ने में 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाएँ महत्त्वपूर्ण है।

3.2 स्त्री–शिक्षा और मुक्ति

"स्त्रियों को मिलने वाली शिक्षा क्या हों? यह सवाल असल में परिवार या समाज में स्त्रियों की भूमिका से जुड़ा हुआ था। यानी यह सवाल सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र का नहीं था बल्कि स्त्रियों के प्रति सामाजिक मान्यता और दृष्टिकोण का था। उस समय के स्त्री–आन्दोलन ने इस तथ्य को समझा और उसने स्त्री–शिक्षा के सवाल को स्त्री–मुक्ति के सवाल के साथ जोड़ दिया। इस तरह स्त्री–शिक्षा अब स्त्री–पुरुष के बीच एक नया शक्ति–सन्तुलन कायम करने के साधन रूप में देखी जाने लगी। स्त्री को अशिक्षित रखने का तर्क पुरुष जाति के स्वार्थी और विशेषाधिकारों के लिए दलील के रूप में देखा जाने लगा।"[35]

इसी विचारधारा के चलते नवजागरणकालीन दौर में स्त्री–शिक्षा से जुड़ा बुनियादी प्रश्न स्त्री–मुक्ति का था। हालांकि स्त्री आंदोलन से स्त्री–मुक्ति प्रश्न ने जोर पकड़ा। लेकिन 20वीं शताब्दी की हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं में जिन सामाजिक सरोकारों पर विस्तार से विचार–विमर्श किया है उसमें स्त्री–शिक्षा और मुक्ति के प्रश्न का पर्याप्त महत्त्व है। पश्चिमी शिक्षा के विरोधाभास ने उस समय के विचारकों को स्त्री–शिक्षा और मुक्ति के प्रति जिस

नजरिए का विकास किया। उसमें पारंपरिक वैचारिक संपदा का प्रयोग था। उनके स्त्री–शिक्षा संबंधी विचार न केवल अपने समय को अभिव्यक्त करते हैं, बल्कि आज के समय में उनकी उपयोगिता और प्रासंगिकता पर विचार–विमर्श करते हैं। प्रो. कृष्ण कुमार के औपनिवेशिक कालीन शिक्षा और समकालीन शिक्षा पर विचार द्रष्टव्य है–"हमारे स्कूलों और कॉलेजों में आज जो पढ़ाया जाता है, उसे 'वैध स्कूली ज्ञान' का दर्जा एक बहुत ही खास किस्म के सांस्कृतिक और आर्थिक तनाव के दौरान हासिल हुआ और वह था औपनिवेशिक शासन का तनाव। बीसवीं सदी के अंतिम वर्षों को प्रस्थान बिन्दु बनाकर उस तनाव की सघनता का आकलन करना आसान है कि हमारे शैक्षिक संस्थान युवाओं को जो शिक्षा देते हैं और उन्नीसवीं सदी में वैध विद्यालयी ज्ञान के रूप में जिन चीजों का चयन किया गया था, उनके बीच कोई सीधी कड़ी जुड़ती है। यह तो तय है कि हमारी राजनीतिक स्वतंत्रता हमें भरमाकर इस सोच तक ले आती है कि भारत में स्कूल ज्ञान की मौजूदा अवधारणा पर उस तनाव के कोई चिह्न मौजूद नहीं है, जिसे औपनिवेशिक शासन ने भारतीय समाज और संस्कृति पर आरोपित कर रखा था।"[36]

भारतीय पराधीनता ने औपनिवेशिक नीतियों को भारतीय कण–कण में समाहित होने का अवसर प्रदान किया। यहाँ तक कि भारतीय शिक्षा प्रणाली की नीतियाँ, विषय, तौर–तरीके उन्हीं के अनुरूप तय किए गए। यह भारतीय जनता के लिए एक प्रकार से सबसे अधिक तनाव की स्थिति रही और भारतीय स्त्रियों के लिए पुरुष की अपेक्षा दोहरी–तीहरी। भारतीय स्त्रियों पर पश्चिमी और भारतीय पराधीनता का दबाव सर्वविदित है। उससे कहीं अधिक पश्चिमी शिक्षा प्राप्त सुधारकों का पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से बचाने का दबाव था। इसे वीरभारत तलवार इस रूप में देखते हैं–"वास्तव में 19वीं सदी के पश्चिमी शिक्षा प्राप्त सुधारकों का एक बड़ा हिस्सा स्त्रियों को अपने धर्म का वाहक और अपनी सभ्यता–संस्कृति का मूर्तिमान रूप समझता था जिसे पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव में आकर भ्रष्ट होने से बचाना था। यही वजह है कि वे लड़कियों को आधुनिक शिक्षा देना नहीं चाहते थे या किसी हद तक ढोने का समर्थन करने के बावजूद उनकी धार्मिक और नैतिक शिक्षा को बहुत जरूरी मानते थे। उनका यह विचार परिवार और सभाओं में स्त्रियों की परंपरागत भूमिका के समर्थन पर टिका था।"[37] इस परिवेश में स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता के विषय में यदि सोचा भी जाए तो कैसे? स्त्रियों की इस दयनीय दशा के पीछे अनेक तत्त्व (सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक,

राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि) उत्तरदायीं थे। इन तत्त्वों की उपस्थिति में वह अशिक्षित और अस्वतंत्र थी। सैद्धांतिक रूप से देवीय उच्चासन पर आसीन और यथार्थ में दास अथवा गुलाम की कोटि। उसे अपने व्यक्तित्व विकास का न अधिकार था, और न स्वतंत्रता।

20वीं शताब्दी में स्त्री–शिक्षा और आदर्शवाद अपूरक होते हुए पूरक थे और स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता पूरक होते हुए अपूरक। वह आदर्श, धर्म जो व्यक्ति विकास को अवरुद्ध करें, वह व्यक्ति–समाज के लिए हानिकारक है, उनका टूट जाना बेहतर है लेकिन स्वतंत्रता के नाम पर धर्म, संस्कृति, आदर्शों का टूटना, व्यक्ति, परिवार, समाज का बिखराव समझा जाता है। इस संबंध में शिवाप्रिया महापात्र का वक्तव्य द्रष्टव्य है– "स्वतंत्रता असम्बद्धता नहीं है और न ही निरपेक्ष स्वच्छदंता है। सामाजिक बिखराव को व्यक्ति–स्वातंत्र्य की संज्ञा देना घातक होगा। सामाजिक सापेक्षता तथा दायित्वशीलता में ही स्वतंत्रता अर्थ पाती है। स्वतंत्रता का अर्थ है खुले दिल और दिमाग से, बिना किसी पूर्वाग्रह और दुराग्रह के उस स्वस्थ–जीवन–दृष्टि का निर्माण, बिना किसी पूर्वाग्रह और दुराग्रह के उस स्वस्थ–जीवन–दृष्टि का निर्माण, जो नारी की अन्तर्निहित शक्तियों का पूर्ण विकास करने के साथ–साथ उसे जीवन और समाज के लिए और स्वयं नारी के अधिक सक्षम और उपयोगी बनाये। स्वतंत्रता किस से? समाज से? आदर्शों से? रूढ़ियों से? स्वस्थ–अस्वथ सभी बन्धनों से? जहाँ तक रूढ़ियों और हानिकारक बन्धनों और सीमाओं से छूटने का प्रश्न है, वह स्वतः सामाजिक प्रश्न है, उसे वर्गीय बनाना उचित नहीं है। वह सामूहिक जिम्मेदारी है और सामूहिक प्रयासों से ही दूर होगी। पर यदि स्वतंत्रता के नाम पर हम अपने आदर्शों, अपनी संस्कृति, अपने गुण–धर्मों, अपनी कर्तव्यशीलता को त्याग देते हैं तो हम उखड़ते हैं और समाज टूटता है। व्यक्ति, परिवार, समाज सब ढह जाते हैं।"[38] सामाजिक प्रतिबद्धता संबंधी यही विचार आज तक स्त्री को पूर्ण स्वतंत्र नहीं कर पाए।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में शिक्षा चिंतन की कई श्रेणियाँ है। इसमें भारतीय पुरुष को 'अनिवार्य शिक्षा' श्रेणी में रखा गया है तथा स्त्रियों को आवश्यकतानुसार शिक्षा देने में विश्वास करते हैं। देखा जाए नवजागरणकालीन स्त्री–शिक्षा की प्रस्तावना सामाजिक सुगृहिणी आधारित है। इस प्रस्तावना से स्त्री–पुरुष की 'समान–असमान' 'शिक्षा' और 'स्वतंत्रता' की समझ विकसित होती है। हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं में यह विविध श्रेणियों में

श्रेणीबद्ध है। नवजागरणकालीन विचारकों को भी इन श्रेणियों का भलीभाँति आभास था। 'स्त्रीदर्पण' नवंबर 1919 अंक के 'स्त्रियों की स्वाधीनता संबंधी' लेख में स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता पर विविध श्रेणियों के विचारों को इस प्रकार पंडित विश्वम्भरनाथ जिज्जा प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं–"जब कोई उदार व्यक्ति कहता है कि स्त्रियों की पराधीनता के बंधन काट कर उन्हें स्वतंत्र करो, तो उदार विरोधी शान्ति के साथ उत्तर देता है कि 'बिना शिक्षा के स्त्रियाँ स्वाधीनता का दुरोपयोग करेंगी' इस उत्तर से मालूम होता है कि वह उनकी स्वाधीनता का विरोधी नहीं है, वह शिक्षित बनाकर उन्हें स्वाधीन करना चाहता है। कट्टर विरोधी उत्तर देते है कि 'हिन्दू समाज में स्त्रियों की स्वाधीनता का तो नाम मत लेना, उन्हें शिक्षा भी नहीं दी जा सकती।' शिक्षा क्यों नहीं दी जा सकती? क्योंकि शिक्षित होकर वे ढीठ हो जायेगी, लज्जा जाती रहेगी, स्त्री शिक्षा का पक्षपाती कहता है कि 'शिक्षा न देने से तुम उन्हें अज्ञानता में रखोंगे; अज्ञानता में रखना भारी अपराध और अन्याय है।' कट्टर विरोधी कहते हैं कि 'अन्याय है, तो हाँ परन्तु शिक्षित बनाकर हम उन्हें ढीठ और निर्लज्ज नहीं बना सकते।' इसी तरह कितने ही विरोधियों का यह भी कहना है कि जब बहुसंख्यक स्त्रियाँ 'मिल' आदि के ग्रन्थ पढ़ लेंगी, अर्थात् जब वे अच्छी तरह शिक्षित हो जायेगी, तो हिन्दू समाज में एक बार विप्लव हो जायेगा।"[39]

एक अन्य स्थान पर नवंबर 1920 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका के 'स्त्री–शिक्षा' शीर्षक लेख में श्रीयुत गिरीशचन्द्र चतुर्वेदी स्त्री शिक्षा विरोधी के विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं– "एक कहता है कि स्त्रियों को शिक्षा कभी न देनी चाहिए वह पढ़ कर बिगड़ जायेगी, अपने से बड़ों की सेवा न करेंगी, गृहकार्यों में समय न देकर सभा सोसाइटियों में समय नष्ट करेंगी, जिससे भारत का रहा सहा गौरव मिट्टी में मिल जायेगा।"[40]

भारतीय समाज में स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता विरोधियों के समान पत्रिकाओं में स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता विरोधी विचारकों और साहित्यकारों की कमी न थी। हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने तत्कालीन स्त्री–शिक्षा एवं स्वतंत्रता पर पर्याप्त विचार–विमर्श अपने लेखों में किया। इनके स्त्री–शिक्षा संबंधी तर्क इन्हें नवजागरणकालीन लोगों की पंक्ति में लाकर खड़ा करते हैं। जब महावीरप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि "स्त्रियों का किया हुआ अनर्थ यदि पढ़ाने का ही परिणाम

है तो पुरुषों का किया हुआ अनर्थ उनकी विद्या और शिक्षा का ही परिणाम समझना, बम के गोले फेंकना, नरहत्या करना, डाके डालना, चोरियाँ करना, घूस लेना, व्याभिचार करना, यह सब यदि पढ़ने–लिखने का ही परिणाम हो तो ये सारे कॉलेज, स्कूल और पाठशालाएँ बन्द होनी चाहिए, परन्तु विक्षिप्तों वातव्यथियों और ग्रस्तों के सिवा ऐसी दलील पेश करने वाले बहुत ही कम मिलेंगे।"[41] तब उनके 'स्त्री–शिक्षा' की भूमिका पर स्वतंत्र विचार प्रकट होते है लेकिन स्त्री स्वाधीनता के प्रश्न उनके वही स्वतंत्र विचार संकुचित हो जाते हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी स्त्री–पुरुष की अविभेदक स्वतंत्रता पर अफसोस जाहिर करते हुए लिखते हैं–"ज़रा देर के लिए मान लीजिए कि मनु के इस अन्याय से स्त्रियों को बचाने के लिए गवर्मेंट ने एक कानून बनाकर स्त्रियों और पुरुषों के अधिकार बराबर कर दिये–उसके अनुसार स्त्रियों को मनमाना काम करने की आज्ञा मिल गई। इस दशा में यदि कोई कानूनदा स्त्री पति से कहने लगे–सुनिए, जनाब, मेरे और आपके अधिकार बराबर हैं मैं भी स्वाधीन, आप भी स्वाधीन, एक दिन मैं चूल्हा–चौका और झाड़ बुहार करूँ, एक दिन आप। एक दिन मैं आपकी सेवा करूँ, एक दिन आप मेरी सेवा करें। अथवा यदि वह यह कह बैठे कि मुझे संतान करने से इन्कार है, तो बताइए ऐसी स्वाधीनता का क्या नतीजा होगा।"[42]

नवजागरणकालीन स्त्री–शिक्षा चिंतन मूलतः 'स्त्री धर्म' और 'कर्तव्य' को समझाने की वकालत करता है क्योंकि शिक्षा स्त्रियों को उच्च पद दिलाने में तो सक्षम थी लेकिन शिक्षित स्त्रियों के धर्म–कर्म एवं स्वधर्म को देशकाल के अनुकूल नहीं समझा गया। सन् 1915 'मर्यादा' पत्रिका में 'समाज सुधार का क्रम' नामक लेख में श्रीयुत लक्ष्मीशंकर अवस्थी ने स्वीकार किया है कि अब मतभेद स्त्री–शिक्षा पर नहीं अपितु उसकी शैली पर है। तत्कालीन समय जिस शैली में शिक्षा दी जा रही है वह राष्ट्रीय या अपनी शैली नहीं है। वह स्वधर्म एवं देशकाल पात्र के अनुकूल नहीं है। वह बहुधा सदाचार–शिक्षा से विहिन और ईसाईयों के प्रभाव से प्रभावित है। तथाकथित भाषा में कहे लड़कियों को अनुपयुक्त शिक्षा और स्वतंत्रता देकर तितलियाँ बनाना समझा। स्त्री–शिक्षा विरोधियों के लिए 'स्त्री–शिक्षा' का अर्थ 'पारिवारिक अर्थव्यवस्था प्रशिक्षण' देना था। बल्कि ऐसी आदर्श स्त्री का स्वरूप था, जो आसानी से गृहवेश और सामाजिक क्षेत्र में परिमित हो सके–"हम अपनी लड़कियों को प्रधानतः उसी उद्देश्य से शिक्षा देंगे कि वे अपने धर्म और कर्तव्य को समझ सकें और बच्चों का पालन–पोषण करना सीख सकें। परन्तु स्त्रियों का कार्य क्षेत्र केवल गृह में परिमित करना

हमारा अभिप्राय नहीं है। यह मत भ्रमात्मक है कि "हमारे समाज में केवल सीता और सावित्री हों, गार्गी, मैत्रेयी और देवदूती न हो।"[43]

फ्रांस अथवा इंग्लैंड में शिक्षित महिलाओं द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र में सहभागिता और समानता की माँग रूसों के परस्पर असमान निर्भरता के आधार पर स्त्री–पुरुष शिक्षा के बँटवारे के समर्थन से हो गई थी। पश्चिमीय शिक्षित स्त्रियों के स्वरूप को भारत में स्वच्छंद और उच्छृंखल रूप में देखा गया। सामाजिक मर्यादाएँ पार करना उच्छृंखलता का प्रतीक थी। स्त्रियाँ इसे इसलिए ग्रहण नहीं करना चाहती क्योंकि उन्हें स्त्रियोचित गुण रूपी आभूषण प्रिय है। 'एम मनोहर आभूषण', सहनशीलता लेख में लेखिका इंग्लैंड में स्त्रियों द्वारा अपने अधिकारों को लेकर किए गए आंदोलन की तीव्र आलोचना करते हुए लिखती हैं–"कालचक्र ने संसार भर में नई लहर प्रवेश कर दी है, जहाँ देखों तहाँ स्वतंत्रता की भेरी बज रही है, स्त्रियाँ भी इंगलिस्तान में शासन–पद्धति में विभाग लेने के लिए चोटी एडी का पसीना कर रही है, मर्दों को भी कान काटने उद्यत है। परन्तु हम लोग अपने परम प्रिय आभूषण को त्याग करके आजकल की स्वच्छंदता मोल न लेंगी, किन्तु उसको निरन्तर मांज–मांज कर उज्ज्वल करती जायेंगी।"[44] पुरुष इसलिए कि उन्होंने स्त्रियों को अधीन रखना अपनी शान समझ रखा है। जिस निष्ठा से अशिक्षित स्त्रियाँ पुरुषों की गुलामीपरक सत्ता बना कर रख सकती थी, शिक्षित स्त्रियाँ शायद ही रख पाती। क्योंकि सुशिक्षित स्त्रियों का स्वाभिमान कभी उन्हें आत्मसमर्पण करने की आज्ञा नहीं देता। स्त्री–स्वतंत्रता के विषय में रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि–"स्त्री कितनी भी आज़ाद हो जाए स्त्री की उस स्वतंत्रता को सह पाने और बर्दाश्त करने के लिए पुरुष–मन को तैयार होना भी जरूरी है। स्त्री मुक्ति की मुहिम को पुरुष समर्थन की दरकार होती है, चूँकि समानता के अधिकार को समाज स्वीकृत करेगा, तभी उस पर कार्यान्वयव संभव होगा और अभी यह समाज पुरुषों द्वारा ही संचालित है। पुरुष की सत्ता व समाज पर जोरदार पकड़ है। यह भी सच है कि स्त्री अभी गुलाम की स्थिति में है और पुरुष स्वामी की स्थिति में, इसलिए स्त्री को अपने बंधन से मुक्त होने के लिए ज्यादा जद्दोजहद करनी होगी। उसमें स्त्री–मुक्ति की चेतना और इच्छा के साथ–साथ अपनी पहचान का जगना जरूरी है और चेतना तभी पैदा होगी जब इच्छा जगे या जन्में।"[45] बदलते सामाजिक–सांस्कृतिक संदर्भ में सामाजिक और पारिवारिक ढाँचे में असीम अंतर को और अधिक अंतर का संकट पैदा किया। पुरुष के लिए प्रत्येक परिवर्तन सहज और

स्वाभाविक रूप से प्रभावित करने वाला था। पुरुषों ने जितना प्रयास अपने घर–परिवार की स्त्रियों को इन परिवर्तनों से बचाने का प्रयास किया उतना स्त्रियों ने भी इनको बचाने की कोशिश की।

भारतीय समाज की संपूर्ण सामाजिक संरचना पुरुषों द्वारा व्यवस्थित है। भारतीय पुरुष उसके व्यवस्थापक और संचालक दोनों है। इसी शक्ति द्वारा पुरुष अपने पुरुषत्व और वर्चस्व की सत्ता कायम है। इस व्यवस्था में शिक्षित स्त्रियों की समस्त बुराईयाँ पुरुष वर्चस्व का प्रतीक है। नवजागरणकालीन शिक्षित स्त्रियों पर आरोपित बुराईयाँ परंपराबद्ध रूढ़िगत समाज की सदियों से प्रचलित स्थापनाओं का परिणाम है। इसने 'स्त्री' की छवि को गढ़ा है। और भारतीय स्त्रियों ने इन स्थापनाओं को चाहे–अनचाहे अपनाकर अपनी 'स्त्री' की छवि को और अधिक सुगाढ़ किया है। नहीं तो, बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं में स्थान–स्थान पर यह देखने को नहीं मिलता–"पढ़ी लिखी स्त्रियाँ समझती हैं, हमें काम न करना चाहिये, क्योंकि एक तो हम पढ़ी है दूसरे पति देव दो चार कमाते हैं। ऐसा सोचकर वह दिन भर खाट पर पड़ी सुनहली डिब्बियों में पान सुरती भरकर खाया करती है। घर का काम नौकर–चाकर करते हैं। भोजन महाराजिनें बनाती हैं। छोटे–छोटे माता के पास रहने योग्य बालक नौकरों संग रहकर खराब हो जाते हैं। पढ़ी–लिखी देवियों का स्वास्थ्य तक खराब हो जाता है और उन की दवा करते करते बाबू साहबों के नाकों दम आ जाता है।"[46] जून 1917 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका में 'स्त्री शिक्षा की रीति पर कुछ विचार' शीर्षक से श्रीयुत मुकुट बिहारी लालदर का स्त्री–शिक्षा और स्वाधीनता पर लेख प्रकाशित हुआ। इसमें श्रीयुत मुकुट बिहारी लालदर स्त्री–शिक्षा को स्त्री स्वाधीनता से अवश्य जोड़ते हैं लेकिन पाश्चात्य शिक्षा को भारतीय सामाजिक संरचना में अवांछित पदार्थ के रूप में देखते हैं। 'आदर्शवाद' और 'नैतिकता' के मानदंड लागू करने वाले इस समाज के लिए जो स्त्री घर के बाहर विलास की सामग्री आरंभ से रही हो उसे पाश्चात्य परंपरा से शिक्षित स्त्री और अधिक विलास की सामग्री ही प्रतीत होगी। तथा उसके लिए अपने गृह की स्त्रियों को विलास की सामग्री बनने से बचाना प्राथमिक लक्ष्य–"भारत में बिलकुल पाश्चात्य शिक्षा उपयोगी नहीं हो सकती हमारे समाज का संगठन ऐसा है, हमारे यहाँ नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विशेषताएँ ऐसी हैं जो कि शायद ही किसी और देश में मिले। हमारी हिन्दू पत्नी का

आदर्श बहुत उच्च है, वह सहधर्मिणी है। विलास की सामग्री नहीं। वह गृहणी रूप में अपने गृह में स्वाधीन है और गृह के सब लोग उसके आश्रित तथा आज्ञाकारी है।"[47]

पुरुषों की इस वैचारिकी के स्थायित्व के कारक 'हिन्दी प्रदीप' 1904 पत्रिका के अंक में 'स्त्री शिक्षा के दोष' नामक लेख में देखे जा सकते हैं–"जब तक यह बला परदे के भीतर नहीं गई थी तब तक हमारी कुलवती कुल की परिपाटी और अच्छी तरह ढूँढ रही किंतु अब कुछ और ही रंग–ढंग देखने में आ रहा है–महिला जन जहाँ थोड़ा पढ़ना–लिखना जान गई बस इतने में फूली नहीं समाती, तब वे बात बात में अपनी श्रेष्ठता जताने लगती है–पति बाहर अनेक झौंझट सह घर में जहाँ उसके स्वतंत्रता में कोई बाधा छोड़ने वाला न था सुख से काल क्षेप करता वहाँ पत्नी अब उस पर अपना अधिकार जमाने वाली उपस्थित है।"[48] पश्चिमी शिक्षा से भारतीय शिक्षा की तुलना में वह आचार विचार, व्यवहार, धर्म, संस्कृति, समाज आदि के आधार पर अलग दिखलाई पड़ती है। लेकिन स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता संबंधी वैचारिकी दोनों को एक ही धरातल पर इस प्रकार जोड़ती है कि भारतीय पुरुष उसका अनुकरण किए बिना नहीं रह सकता। वह बार–बार परिचय में साक्ष्य प्रस्तुत कर स्त्रियों के अधिकारों और स्वतंत्रता का हनन करते हैं–"इसमें सन्देह नहीं अंग्रेजी लेडियाँ विद्या और स्वतंत्रता के कारण उन्नति की अंतिम सीमा तक पहुँच गई है और स्त्रियों की स्थिति और रहन सहन में अन्तर पड़ गया है तथापि अंगरेज़ जाति में बड़े–बड़े बुद्धिमान अपनी स्त्रियों को पुरुषों से श्रेष्ठ मानने में और उन्हें पुरुषों के नाई राजकीय उत्पाद देने में अपनी सम्मति नहीं देते–उनमें बड़ी–बड़ी पंडिता है सुलेखक है वक्तृता में पटु है परन्तु इंग्लैंड ऐसे स्वतंत्रता प्रिय देश में भी स्त्रियों को पुरुषों के समान राजकीय अधिकार प्राप्त नहीं है इसमें सन्देह नहीं विद्या के अधिक प्रचार से स्त्रियों में स्वतंत्रता का भाव अधिक आ गया है कितनी तो स्वतंत्र बिना ब्याही रह अपना जीवन बिताना पसन्द करने लगी है–इसी से बहुत से साहब लोग विवाह करने को हिचकते हैं क्योंकि नस–नस में जिनके स्वतंत्रता समाई हुई है ऐसी लिखी पढ़ी स्त्री को ब्याहना पूरी झंझट सिर पर लादना है।"[49] भारतीय पुरुष अपने विकास का मॉडल जहाँ पश्चिम का अनुकरण से करते हैं वहीं भारतीय स्त्रियों को पूर्वीय सभ्यता में ढालना स्त्रियों की स्वतंत्रता और अधिकारों के हनन में पश्चिमी अनुकरण का बहाना मिल जाता है।

अमेरिकन और भारतीय शिक्षा शैली में बुनियादी अंतर यही था कि अमेरिकन शिक्षा शैली मानती थी कि स्त्री के शिक्षिता होने पर वह भली प्रकार स्वतः ही एक अच्छी स्त्री व माता बन जाएगी–एक आत्मनिर्भर स्त्री। यहाँ शिक्षिता की परिकल्पना 'आत्मनिर्भर स्त्री' की ही थी। परंतु पुरुष सत्तात्मक समाज अथवा पितृसत्तात्मक समाज के वाहक इसकी अनुमति कभी नहीं देते। वह सिर्फ अपनी असहमति की मुहर लगाना जानते हैं–"अमेरिका ने स्त्रियों की शिक्षा का ऐसा आदर्श रक्खा है जिससे शिक्षा पाकर वे समाज में स्वतंत्रता से रह सकें, अथवा समाज में बिना पुरुषों पर किसी प्रकार का भार दिये ही जीवन व्यतीत कर सकें, अथवा समाज पर भार स्वरूप, उसके सहायक व पोषक बन जावें।

अमेरिकन शिक्षा–शैली यह मानती है कि यदि एक स्त्री अच्छी प्रकार शिक्षित हो जावे तो वह भली प्रकार स्वतः ही एक स्त्री व माता बन सकती है।... अमेरिका वाले स्त्रियों को इस प्रकार शिक्षित बना रहे हैं जिससे उनको प्रत्येक सामाजिक व राष्ट्रीय कार्यों में सहायता दे सकें और हाथ बटा सकें। पर जापान वाले इस प्रकार शिक्षा दे रहे हैं जिससे प्रत्येक स्त्री अपने परिवार को विद्या, सच्चरित्रता, सत्यता, निर्भीकता, देशभक्ति, न्याय व वीरता का घर अथवा केन्द्र बना देवें।... अब यही विचारना है कि भारत में किस प्रकार की शिक्षा दी जाय–अमेरिका के समान शिक्षा देकर स्त्रियों को स्वतन्त्रता से जीवन व्यतीत करने के लिए शिक्षा दी जाय, अथवा जापान के समान उनको आदर्श गृहिणी बनाकर उनको पुरुष की अर्धांगिनी बना दी जाय।"[50] नवजागरणकाल में अनेक प्रसिद्ध साहित्यकार और राजनेताओं ने स्त्री–पुरुष समतामूलक समाज का स्वप्न देखा। लेकिन इन राजनेताओं और साहित्यिक विचारकों के समतामूलक समाज की सार्थकता स्त्री–पुरुष कर्म–क्षेत्रीय विभेद में दिखाई पड़ती है। समतामूलक इस अर्थ में कि प्रत्येक स्त्री पुरुष के समान शिक्षित हो, अधिकार योग्य हो, परंतु स्वतंत्र न हो।[51] इनके समतामूलक समाज में स्त्री–पुरुष का कर्मक्षेत्रीय विभेद अप्रत्यक्ष है। जुलाई 1919 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका के अंक में 'स्त्रियों की उन्नति के विषय में' शीर्षक लेख में महात्मा गांधी के विचार कुछ इसी प्रकार के हैं। वे लिखते हैं–"स्त्री पुरुष की सहचारिणी है, पुरुष के समान ही उसका भी मन है, पुरुष के सब व्यवहारों का सूक्ष्मतापूर्वक ज्ञान कर लेने का उसे अधिकार है, जितनी स्वाधीनता पुरुष को है उतनी स्वाधीनता के उपयोग करने का उसे हक़ है पुरुष जैसे अपने कर्मक्षेत्र में बड़ा है, वैसे ही स्त्री भी अपने कर्मक्षेत्र में खड़ी है–ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही होनी चाहिए। स्त्रियों और पुरुषों की

योग्यता में जो अन्तर दिखायी देता है वह कुछ पढ़ने–लिखने के ज्ञान के कारण ही उत्पन्न नहीं हुआ। बिलकुल जड़ गूढ़ पुरुष भी, विषम रूढ़ि की प्रबलता के कारण ऐसे अधिकार स्त्रियों पर चलाते हैं जो कि उन्हें बिलकुल शोभा नहीं देते, और न उनकी योग्यता ही वैसी है। ऐसी स्त्रियों की दशा हो रही है और इसी कारण हमारे अनेक प्रयत्न सफल नहीं हो रहे हैं, हमारे अनेक कार्य सर्वांग सुन्दर दिखाई नहीं देते। उस अदूरदर्शी व्यापारी के समान हमारी दशा रही है जो कि अधूरी पूँजी पर ही व्यापार चलाना चाहता है।"[52]

स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता विरोधियों को भारतीय शिक्षा की तुलना में पश्चिमी शिक्षा हास्यस्पद लगती है, क्योंकि एक तो यह शिक्षा भारतीय आचार, विचार, धर्म, संस्कृति को अपदस्थ कर अपने अधीन करती है। दूसरे, भारतीय आचार–विचार, धर्म, संस्कृति की मूल जड़ (स्त्री) को कमजोर करती है। इनके इस तर्क के पीछे कोई ठोस वैज्ञानिक आधार नहीं है। कहा जाए कि स्त्रियों के प्रति सहानुभूति का राग अलापने का उद्देश्य अपनी वंश परंपरा को चलाने की चिंता में था। 'स्त्रीदर्पण' अप्रैल 1917 अंक की पत्रिका में श्रीयुत बुद्धशरण के लेख 'स्त्री जाति का कर्तव्य' से यह कहना आसान हो जाता है कि वह 'स्त्री–शिक्षा' विरोधी नहीं है परंतु 'स्त्री स्वतंत्रता विरोधी' अवश्य है। श्रीयुत बुद्धशरण को अपनी जातिगत संस्कारों पर पूरा भरोसा है कि वह (स्त्री) शिक्षित या उच्च शिक्षित होकर स्वतंत्रता की माँग नहीं करेंगी। यही बात वह स्त्री–शिक्षा विरोधियों को समझाना चाहते है–''इसमें संदेह नहीं कि कहीं कहीं लोग उपालम्भ देने लगे है कि स्त्रियाँ भारत की पढ़ लिखकर स्वतंत्र अधिक हो रही है यही कारण है कि कुछ एक परिणामदर्शी न होने के कारण यहाँ तक भी कह बैठते है कि स्त्री शिक्षा से स्त्रियाँ कमज़ोर हो जाती है। सन्तान जनने योग्य नहीं रहती और सबसे बढ़कर उनकी आज़ादी बढ़ जाती है, वगैरह वगैरह बातें लोग कहते हुये सुने जाते हैं। पर इतने ही से यह मतलब निकाल लेना कि स्त्री शिक्षा उच्च कोटि की देने में हानि है नितान्त अनुभव शून्यता को प्रकट करती है।'

बात यह है कि बहुत दिनों के बाद स्त्रियों को कुछ स्वतंत्रता का स्वाद चखने को मिला है। यही कारण है कि कुछ एक स्त्रियाँ सम्भव हैं कि कुछ विशेष स्वतंत्रता चाहें पर सब ऐसी नहीं हो सकतीं।"[53]

स्त्री–शिक्षा क्या है? यह जानने की आवश्यकता निम्न श्रेणी के स्त्री–शिक्षा समर्थकों को थीं। क्योंकि इनके समक्ष स्त्री की सामाजिक स्थिति दोयम दर्जे के नागरिकों के समान थी। इन स्त्री–शिक्षा समर्थकों का स्त्रियों की सामाजिक स्थिति से संबंध स्त्रियों के सामाजिक, व्यवहारिक और आर्थिक शोषण से था। एक निम्न श्रेणी के स्त्री–शिक्षा समर्थक के विचार इस प्रकार है–"शिक्षा एक ऐसी चीज़ नहीं है जिससे कोई भी (क्या पुरुष और क्या स्त्री) बिगड़ जाने, लेकिन हाँ शिक्षा व संगति को बड़ा ही घनिष्ट संबंध है जिसका कि स्त्रियों पर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना है। लेकिन उसका उनके लिए खास प्रबन्ध हो सकता है। दूसरी बड़ों की सेवा है। उसकी कल्पनाएँ है कि वह बिलकुल स्वतन्त्र हो जायेगी। यह उनका कहना अक्षरशः सत्य है। वह शिक्षा पाकर बात–बात पर आपकी जूती न खाय करेगी। और हर एक बात में वह अवश्य तर्क छोड़ा करेंगी जिसका कि आपको बहुत डर है। पर मैं जहाँ तक सोचता हूँ वह सब आपकी कपोल कल्पित बातें होंगी। अगर वह ऐसा करना चाहेंगी, भक्ति व उचित शिक्षा उनको ऐसा न करने देगी। वह सब बातें उस पर होंगी जब आप उनको अधूरी शिक्षा देंगे।"[54] स्त्री–शिक्षा विरोधियों का कम से कम एक स्वरूप था परंतु निम्न श्रेणी के इन 'स्त्री–शिक्षा' समर्थकों का दोहरा स्वरूप था। इनकी भक्ति और शिक्षा स्त्रियों को तर्क–वितर्क की छूट नहीं देती। जूते खाने को बाध्य करती है। यदि तर्क–वितर्क के आधार पर व्यक्ति स्वयं को अभिव्यक्त न कर सकें। ऐसी शिक्षा का क्या लाभ है? नवजागरणकाल में स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता के समक्ष अनेक चुनौतियों में से एक चुनौती स्त्री–पुरुष समानता है। यहाँ समस्त सामाजिक नियम स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता के विरोध में थे। क्योंकि स्त्री की नियति पराधीन रखने की मानी गई है। चूँकि पुरुष की संपत्ति 'स्त्री' है वही निर्धारित करता है कि स्त्री को कितनी शिक्षा देनी है, उसे कितनी स्वतंत्रता देनी है–"विद्या और स्वतंत्रता मनुष्य में व्यक्तित्व और मान पैदा कर देती है और व्यक्तित्व ऐसी जनता के जिसको प्रकृति ने ही हीनबुद्धि और हीन बनाया है कभी उपयोगी और लाभदायक नहीं हो सकता। इस कारण विद्या और स्वतंत्रता की स्त्री को आवश्यकता ही नहीं बल्कि यह गुण उसके हक में बहुत हानिकारक है। प्रत्येक विचारवान मनुष्य का कर्तव्य है कि इन आपत्तियों से अपनी स्त्रियों को सुरक्षित रक्खें।"[55]

स्त्रियाँ किसी भी देश या प्रांत की हो, कितनी भी उच्च शिक्षित या उच्च पद पर आसीन हो। वह सामाजिक, राजनैतिक आदि स्वतंत्रता एवं अधिकारों के लायक नहीं समझी

जाती। परंतु वही जब स्त्री स्वतंत्रता और अधिकारों के लिए स्त्री आंदोलन का नेतृत्व करती है तब तथाकथित विचारक इस भय से स्त्री–शिक्षा के प्रचार–प्रसार को जिम्मेदार ठहराते हैं कहीं उनकी गृहणियों में चेतना के संचार के चलते पुरुष की संपत्ति स्वतंत्रता भंग न हो जाए। जिसे स्त्री रूप में उन्होंने ग्रहण किया हुआ था। इस तथ्य पर 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका के नवंबर 1919 के अंक में 'स्त्रियों की स्वाधीनता' लेख में पंडित विश्वम्भरनाथ जिज्जा प्रकाश डालते हुए लिखते हैं–"आजकल के पढ़े–लिखे पुरुष जो स्त्री–शिक्षा के विरोधी है, उसका भी यदि डूब कर कारण देखा जाय तो इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता कि शिक्षा देने में वे झिझकते हैं। झिझक इस बात की नहीं है कि वे 'ठीक होकर पुरुषों की अपेक्षा करेंगी बल्कि इस बात की है कि चिरकाल से स्त्री के ऊपर पुरुष का सम्पत्तिभाव चला आता है, कहीं वह न शिथिल हो जाय, और शिथिलता आने पर सम्भव है कि वे खुल्लमखुल्ला स्वतंत्रता की घोषणा कर दें। 'ठीक होकर उपेक्षा करने का' उन्हें उतना अधिक ख्याल नही है, क्योंकि हज़ार 'ठीक' होने पर भी 'सम्पत्ति' वाला दावा कहीं चला नहीं गया है।"[56] यह स्त्रियों को पराधीन रखने की प्रक्रिया है। इस पराधीन रखने की प्रक्रिया में ही स्त्रियों को स्वाधीन रखने की प्रक्रिया निहित है। इस विषय में पंडित विश्म्भरनाथ जिज्जा लिखते हैं– "और जब तक वह दावा न निकलेगा तब तक पुरुष और स्त्रियों में समानभाव न आने पायेंगे, जब तक समानभाव न आयेंगे तब तक स्त्रियों की स्वाधीनता आनी महा दुर्लभ है। स्वाधीनता का अभिप्राय उच्छृंखल होकर डांवाडोल होने का नहीं है, बल्कि पुरुष और स्त्री में समानता आनी ही स्त्री समाज की स्वाधीनता होगी। पुरुष स्त्री में वही भाव नहीं आने देना चाहते। अच्छी शिक्षा मिलने पर ही स्त्री जड़ से, आरम्भ से और पहली सीढ़ी से अपने अधिकारों को समझेगी, समझेगी और जिम्मेदारी के साथ समझेगी।"[57] पंडित विश्वम्भरनाथ जिज्जा की स्त्री को स्वाधीन करने की प्रक्रिया में पुरुष को 'संम्पत्ति' भाव का त्याग करना होगा। पुरुषों के 'संपत्ति' भाव को त्यागने से स्त्री–पुरुष समानता आएगी। स्त्री–पुरुष समानता से स्त्रियाँ शिक्षित होंगी। स्त्रियों के शिक्षित होने से वे स्वाधीन होगी। वे स्वाधीन होने से अपने अधिकारों का सहज प्रयोग कर सकेंगी।

इस प्रकार अधिकतर नवजागरणकालीन राजनेताओं और साहित्यकारों के विचार सामंती मानसिकता की उपज थे अथवा दोहरे चरित्र की खुली अभिव्यक्ति। ये सभी स्त्री–शिक्षा और स्वतंत्रता का दावा करके सदियों से दबी चेतना जो जागृत हो रही थी, उसे

दबाए रखना चाहते थे, उसे गुलाम बनाए रखना चाहते थे। इसके समतामूलक समाज का उद्देश्य कहीं न कहीं भेदभावपरक सामाजिक संरचना की वर्गीय यथास्थिति को बनाए रखना था।

3.3 स्त्री शिक्षाः भाषा

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दो दशकों की हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं में स्त्री शिक्षा का प्रश्न प्रमुख था। स्त्री शिक्षा में भाषा की पैरोकारी 'स्त्री शिक्षा' के समानांतर विचारणीय है। पश्चिम सभ्यता के बीच में भारतीय स्त्री के एक बहुत अच्छी माँ, बहन, पत्नी, बेटी के निर्माण में स्त्री शिक्षा के स्वरूप में भाषा और साहित्य का सहयोग आवश्यक था। इसे सहायक नवजागरणवादी युवकों ने बनाया। नवजागरणवादियों अनुसार रीतिकालीन श्रृंगारिक प्रवृत्ति ने स्त्री के स्त्रीत्व को ठेस पहुँचाई। पुरुष समाज में जब तक स्त्री पुरुषों के लिए भोग–विलास का साधन थी तब तक ठीक था लेकिन जैसे ही वह अपने धर्म से च्युत होती है वैसे ही पुरुष समाज को उसका स्त्रीत्व याद आ जाता। यही नवजागरणकालीन युग में स्त्री के साथ हुआ। इसका स्पष्ट साक्ष्य रीतिकालीन सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। डॉ. नगेन्द्र इस विषय में लिखते हैं–''नारी को अपनी सम्पत्ति मान कर ही उसका भोग इनके जीवन का मूल मंत्र हो गया था। विलास के उपकरणों की खोज और उनका संग्रह तथा सुरा–सुंदरी की आराधना अभिजात थी। किसी की कन्या का अपहरण अभिजात वर्ग के लोगों के लिए साधारण बात थी। कदाचित् इसीलिए अल्पायु में लड़कियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। उधर बेगमों और रक्षिताओं के भाग्य का निर्णय तक हो जाया करता था। इस प्रकार विलास में डूबे हुए ये लोग अपनी संतान की देखभाल तक नहीं कर पाते थे। और शिक्षक ऐसे घटिया व्यक्ति होते थे कि कामकला की शिक्षा दे कर अपने कर्म की इतिश्री समझते थे। अतएव लड़कियों के साथ छेड़छाड़, तीतर–बटेर पालना और उन्हें लड़ाना शहजादों और राजकुमारों की दिनचर्या बन गयी थी। विलासिनी माताओं की देखरेख के अभाव में राजकुमारियों और शहजादियां अपने महलों और हरमों में कार्य करने वाले सामान्य कर्मचारियों अथवा भृत्यों के साथ प्रेम–व्यापार करने लग जाती थीं। अनेक सपत्नियों के कारण पति से पूर्ण प्रेम प्राप्त न कर सकने के कारण विवाहिताओं में भी अनेक ऐसी थी, जो ऐसा ही करती थीं।''[58] इन कारकों को देखकर ऐसा कहीं से नहीं लगता है कि स्त्री शिक्षा

का आरंभ किसी सुधार भावना से किया गया हो! स्त्री को 'धर्म' और 'संस्कृति' के मध्य में लाने की प्रक्रिया के रूप में स्त्री शिक्षा पुनर्जागरण का नवीनतम प्रयोग था। समाज सुधारकों की इस मनोवृत्ति से अनभिज्ञ समाज ने स्त्रियों को पढ़ाना और लिखाना बुरा समझा और स्त्री शिक्षा का पुरजोर विरोध किया। किंतु ज्यों–ज्यों स्त्री शिक्षा का प्रचार–प्रसार होता गया त्यों–त्यों पुरुषसत्तात्मक समाज के भ्रम दूर होते चले गए।

इस भ्रम के बीच सामाजिक आवश्यकतानुरूप 'स्त्री शिक्षा' को कहीं न कहीं अवश्य बल मिला। इस पर पुरुषसत्तात्मक समाज ने स्त्री–पुरुष के विभेद को मिटाने वाली शिक्षा के अधिकारों को फिसलता देख स्त्री शिक्षा में भाषाई (अंग्रेजी के अर्थ) और साहित्यिक रणनीति के अंतर्गत 'स्त्री शिक्षा' को दोषपूर्ण माना। सर्वप्रथम 'शिक्षा' स्त्रियों के लिए नहीं थी और यदि हो भी जाती है तो मातृभाषा और विदेशी भाषा पराधीन भारत में स्त्रियों के लिए अंग्रेजी भाषा में शिक्षा काल्पनिक बात थी। क्योंकि जिस देश की स्त्रियों के लिए अपनी भाषा में ही शिक्षा दुर्लभ हो, उसके लिए अंग्रेजी भाषा में शिक्षा काल्पनिक ही होगी। वीरभारत तलवार के शब्दों में–''अंग्रेजों के आने से ठीक पहले स्त्रियाँ न सिर्फ संस्कृत में, बल्कि लोकभाषाओं में भी शिक्षा नहीं पा सकती थीं। हिंदी भाषा और नागरीलिपि का आंदोलन चलानेवाले कट्टर वैष्णव समाज–सुधारक मदनमोहन मालवीय (जो शुरु में विधवा विवाह और स्त्रियों के वोट देने के अधिकार के भी विरोधी थे) के काशी हिंदू विश्वविद्यालय के वेद–विभाग में 20वीं सदी में भी दशकों तक स्त्रियों को वेद–अध्ययन का हक नहीं था।''[59]

20वीं शताब्दी में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता–अनावश्यकता के विषय में कोई संदेह नहीं रह गया था। वहाँ एक बड़ा संदेह उसकी शिक्षा में भाषा को लेकर था। जिस प्रकार समय के लंबे अंतराल तक स्त्रियों को संस्कृत भाषा से दूर रखना समाज के ठेकेदारों का उद्देश्य था उसी प्रकार 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में स्त्रियों को अंग्रेजी भाषा से दूर रखना भी तत्कालीन समाज के ठेकेदारों का उद्देश्य था। ऐसे ठेकेदार स्त्री अंग्रेजी भाषा शिक्षा का विरोध कठिन, विदेशी भाषा और अनावश्यक कहकर कर रहे थे–''अच्छा तो स्त्रियों को अँगरेजी में दी जानी चाहिए या हिन्दी में? इस समय जब पुरुषों की शिक्षा के लिए भी अँगरेजी जैसी कठिन और विदेशी भाषा का विरोध अनेक विद्वान कर रहे हैं तब स्त्रियों के लिए यह प्रश्न उठाना उपहास मात्र करना है। अँगरेजी तो दूर रही, इस लेखक की राय में

तो संस्कृत पढ़ाना भी स्त्रियों के लिए उतना आवश्यक नहीं। सर्वगुण–आगरी देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा से उनका काम मज़े से चल सकता है।''[60] स्त्रियों को संस्कृत से दूर क्यों रखा जाता था? क्योंकि कोई स्त्री गार्गी, मैत्रेयी बनकर समाज के निर्माता से विद्रोह न करने लग जाए। इतिहास गवाह है स्त्रियों को जब–जब स्वयं को प्रमाणित करने का अवसर प्राप्त हुआ है उन्होंने कोई अवसर नहीं छोड़ा। प्राचीन संस्कृत भाषा में इस प्रकार का स्त्रियों का विद्रोह प्रत्येक समय अथवा काल में समाज को विस्मय करने वाला रहा है। इसमें दो बातें हैं–एक भारतीय पुरुषों को अंग्रेजी भाषा में शिक्षा ग्रहण करने में अपनी पराधीनता नजर आती थी। दूसरी जिस देश ने सैकडों वर्षों तक भारत पर शासन किया। उस देश की भाषा में शिक्षित भारतीय स्त्रियों में भारतीय पुरुषों को अपनी पराधीनता नज़र आने लगी। अधिकतर भारतीय पुरुषों की स्त्री शिक्षा की हिन्दी भाषा के साथ इसलिए सहमति थी क्योंकि हिन्दी भाषा में इस प्रकार की समस्या की कोई संभावना नज़र नहीं आ रही थी। ऐसी परिस्थितियों के बीच 20वीं शताब्दी में समाज नियंताओं को ऐसी अधीनाकृत भाषा की तुलना में स्त्री शिक्षा हिन्दी अथवा संस्कृत (कहीं–कहीं) भाषा में दिलाना उचित लगा–''यह कहना अनुचित न होगा कि स्वतंत्र संस्कृत या हिन्दी ही एक ऐसी उत्तम और स्वच्छ शिक्षा है जिसके अच्छी तरह पाने पर शायद ही कोई आदमी नई पश्चिमी सभ्यता से चकाचौंध होता हो। इससे यह स्पष्ट हुआ कि स्त्रियों को यदि शिक्षा स्वतंत्रता देना हो या उनको स्वतंत्रता पाने की अभिलाषा हो तो यह उचित होगा कि भारत–ललनाओं को पहले हिन्दी और संस्कृत का अभ्यास करावें जिससे कि वे लोग इस नये दीपक की रोशनी की तरफ न झुक अपने पुराने गौरव और स्वरूप को न भूलें।''[61]

भारतीय परिवेश में अंग्रेजी भाषा शिक्षण एक राजनीतिक पहल थी। औपनिवेशिक राज्य के लिए भारतीयों को प्रशासनिक पदों पर कम खर्च के बहाल और भारतीय पुरुषों के लिए धन कमाने के लिए उद्योग अथवा राजकीय व्यवहारों के लिए अंग्रेजी शिक्षा को आवश्यक समझा गया–''साधारण शिक्षाक्रम में स्त्री और पुरुष दोनों में से किसी को भी अंग्ररेज़ी की आवश्यकता नहीं है। धन कमाने के उद्योग में और राजकीय व्यवहारों में पुरुषों को अंगरेज़ी भाषा में ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। मैं नहीं समझता हूँ कि स्त्रियों को व्यापार अथवा नौकरी करना चाहिए। जिन थोड़ी स्त्रियों को अंगरेज़ी भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेना होगा, वे पुरुषों के लिए स्थापित किऐ गये स्कूलों में प्राप्त कर लेंगी। मैं समझता हूँ कि

स्त्रियों के लिए विशेषतया स्थापित की गयी पाठशालाओं में अंगरेज़ी भाषा की शिक्षा देने से हमारी पराधीनता और बढ़ती जाएगी।''[62] हंटर आयोग के समक्ष भारतेंदु हरिश्चंद्र लड़कों को घर में शिक्षित करने की अपेक्षा सरकारी स्कूल में शिक्षा प्रदान करना उचित समझा क्योंकि भारतेंदु अनुसार घर में एक ट्यूटर द्वारा दी जाने वाली शिक्षा आधुनिक और यूरोपीय सिद्धांत पर आधारित न होने के कारण बिलकुल भी उपयोगी और मूल्यवान नहीं है। परंतु 20वीं शताब्दी में स्त्रियों के लिए स्त्रियों को अच्छी शिक्षा दिलाने की हैसियत से ट्यूटर नहीं स्त्री शिक्षक और अध्यापक/अध्यापिका रूपी पुस्तकों को उपयोगी मानकर इन्हें पढ़ने के सुझाव दिए जा रहे थे। 'वर्तमान काल की शिक्षा' लेख में श्रीमति मिश्र महिला सुझाव देते हुए लिखती हैं–''यदि पुरुषों से कोई कहे कि इन को (लड़कियों को) क्यों नहीं शिक्षा प्राप्त कराते तो उत्तर मिलता है कि हम को यह शिक्षा पसन्द नहीं है कि दो चार किताबें पढ़ लीं। जब तक कि अच्छी शिक्षा किसी स्त्री से न दिलाई जाय तब तक कोई शिक्षा नहीं दी जा सकती। तनिक सोचने का स्थान है कि यदि कोई स्त्री शिक्षा देने योग्य नहीं मिली तो उन्हें किताबें पढ़कर शिक्षा नहीं प्राप्त करनी चाहिये। आजकल जो पुस्तकें तैयार हो रही हैं वे सचमुच अध्यापक या अध्यापिका का कार्य देती है उन को पढ़कर अच्छी से अच्छी शिक्षा प्राप्त हो सकती है।''[63]

जाहिर सी बात है भारतेंदु हरिश्चंद्र लड़कों के लिए सरकारी स्कूलों में जिस आधुनिक प्रणाली और यूरोपीय सिद्धांत की बात कर रहे हैं उसमें अंग्रेजी भाषा शिक्षण का प्रावधान है। निःसंदेह समानता की दृष्टि से स्त्री और पुरुष को एक स्कूल में शिक्षा प्रदान करना स्त्री–पुरुष समानता को बढावा देना है। लेकिन स्त्रियों के लिए विशेष अंग्रेजी भाषा के स्कूल खोलने को भारतीय पराधीनता समझकर लड़कों के स्कूलों में लड़कियों को अंग्रेजी शिक्षा देने की बात कहना स्वच्छ मानसिकता की निशानी नहीं है। इसका अभिप्राय यह है पुरुष समाज ने स्त्री अस्तित्व को बहुत हल्के से लिया। 20वीं शताब्दी के शिक्षित विचारकों का वर्ग भारत में सभ्यता, ज्ञान और स्वातंत्र्य भावना लाने में अंग्रेजी शिक्षा की बड़ी भूमिका मानता था[64] लेकिन निसंदेह स्त्रियों में सभ्यता, ज्ञान और स्वातंत्र्य भावना लाने में अंग्रेजी शिक्षा की बड़ी भूमिका से भी वह भयभीत था।

वह स्त्रियाँ जो अभी तक राजनीति की शिकार होती रही हो लेकिन राजनीति का हिस्सा नहीं बनीं हो, उनको एक ओर अंग्रेजी शिक्षा से वंचित रखना भारतीय पुरुष की राजनीति है तो दूसरी ओर अंग्रेजी भाषा में शिक्षा दिलाना भी भारतीय पुरुष की राजनीति ही थी। इसे पुरुष समाज की आवश्यकता न कहा तो क्या कहा जाए? श्रीमती मिश्र महिला 'वर्तमान काल की शिक्षा' नामक लेख के माध्यम से आधुनिक शिक्षा प्रणाली व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए लिखती हैं–''घर की स्त्रियों से बातचीत करना तो पुरुषों के लिये बहुत लज्जास्पद जान पड़ता है एक इन्टर–मीडिएट पास युवक अपने मित्रों से कहता है कि मैं भला अपनी स्त्री से क्या बात करूँगा क्योंकि वह मेरे विचारों क्या समझ सकती है, यह अच्छा कहा, आपके विचार एक दम इतने उच्च हैं कि सर्वांग सुन्दर शरीरवाले मनुष्य के समझ न आवें, अर्थात जा गूँगा बहिरा नहीं है। किन्तु हाँ यदि आप अंग्रेज़ी ही में अपना मुँह खोलेंगे, तो अवश्य ऐसे मनुष्य की समझ में नहीं आ सकता जो अपनी भाषा को ही नहीं लिख पढ़ सकती हैं।''[65]

20वीं शताब्दी में अंग्रेजी भाषा शिक्षण में विविध बुराई के अनुमान स्वरूप शिक्षित वर्ग द्वारा अंग्रेजी भाषा शिक्षा की आवश्यकता का मुख्यतः कारण 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में हिन्दी साहित्य का समृद्ध न होना भी माना गया–''अंगरेजी के माध्यम से शिक्षा देने के कारण समय और बल की हानि, मानसिक विकास की भूमिका की अपूर्णता, रटने की आदत, मातृभाषा का अनादर, स्वदेशी सभ्यता से अनभिज्ञता, जनसमूह से पार्थक्य आदि अनर्थ होते हैं यह बात लगभग सभी मानते हैं। स्कूलों में इस समय भी मातृभाषा द्वारा शिक्षा दी जाती सकती है। पर अभी दस पाँच वर्षों तक–जब तक कि हिन्दी साहित्य की उन्नति न हो–कालेज़ों में अंगरेज़ी का माध्यम ही स्वीकार करना होगा। जब स्त्री कॉलेज खोलने का समय आये तब इस विषय पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है। हमारा यह प्रयोजन नहीं कि शिक्षा प्रणाली से अंगरेज़ी या अन्य भाषाएँ बिलकुल निकाल दी जायँ। एमरसन के शब्दों में जो मनुष्य केवल एक भाषा जानता है वह एक भी नहीं जानता। पाश्चात्य देश के बालक, बालिकाएँ अपनी मातृभाषा के अलावा कम से कम एक विदेशी भाषा अवश्य सीखती हैं। हम अनुन्नत भाषा–भाषी लोगों के लिये तो यह और भी अधिक आवश्यक है। अतएव हमारी सारी शिक्षाप्रणाली में अंगरेजी, फ्रेंच, बंगला, मराठी आदि भाषाओं के सीखने का अवश्य प्रबन्ध होना चाहिये।''[66] लगभग संपूर्ण भारतवर्ष में 'स्त्री अंग्रेजी भाषा शिक्षा' की दृष्टि से स्कूल अथवा

कॉलेजों की स्थिति एक समान थी। फिर भी भारतवर्ष में अंग्रेजी भाषा के समकक्ष या अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त देश अथवा राष्ट्र की अन्य भाषाओं को स्कूल अथवा कॉलेजों में लाने की सीख दी जा रही थी और स्वभाषा अध्ययन द्वारा इस काल्पनिक संरचना को आनंद और सुलभता के वेश में तोड़ने का प्रयास किया जा रहा था। जुलाई–दिस. 1919 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका 'स्त्रियों की उन्नति के विषय में' शीर्षक लेख में महात्मा गाँधी के विचार दृष्टव्य है–''स्त्रियों अथवा पुरुषों को अंगरेजी सीखने में समय व्यतीत न करना चाहिए, इसमें स्त्रियों अथवा पुरुषों का विद्यानन्द कम करने का मेरा उद्देश्य नहीं है; किन्तु इसमें मेरा यही उद्देश्य है कि जो आनन्द प्राप्त कर लेने के अंगरेज़ी पढ़नेवालों को बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं वह आनन्द सबको सुलभतया प्राप्त हो सकें। वसुन्धरा बहुरत्ना है, सारा साहित्य भण्डार अंगरेजी में ही नहीं भरा है, अन्य भाषाओं में भी भरपूर है, मैं समझता हूँ वे सबको सुलभ होने चाहिए। इसके लिए मार्ग एक ही है और वह यह कि हममें से जिन लोगों को भिन्न भिन्न भाषाओं से प्रेम हो जिन्हें उनका ज्ञान हो, वे उन भाषाओं के साहित्यरत्नों को स्वभाषा के द्वारा अपने भाइयों को प्राप्त करा दें।''[67]

यहाँ शिक्षित वर्ग के लिए स्त्रियों द्वारा दो चार किताबें पढ़ने का अर्थ शृंगारिक अथवा आज की भाषा में कहे 'लोकप्रिय साहित्य' पढ़ने से है। यह साहित्य विशेषकर स्त्रियों के लिए अच्छा नहीं माना जाता है। सुधारवाद के सबसे बड़े अग्रही भरतेंदु लड़कियों के पाठ्यक्रम की आलोचना इसलिए करते हैं कि प्रेमसागर, विद्यांकुर, इतिहासतिमिरनाशक आदि रचनाएँ शृंगारपरक हैं। भारतेंदु की भाषा में कहे इनसे स्त्रियों के नैतिक चरित्र का विकास नहीं कर सकते। भारतेंदु अथवा इस प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति रखने वालों का खुलासा करते हुए वीरभारत तलवार लिखते हैं कि–''क्या स्त्रियों के लिए शृंगारिक साहित्य नहीं हो सकता? जरूर हो सकता है क्योंकि भारतेंदु ने अपनी दोनों 'प्रेमिकाओं' के लिए शृंगारिक पद लिखे थे। उन्हें शायद 'शरीफ घरों' में रहनेवाली स्त्रियों की चिंता थी जिन्हें वे ऐसे साहित्य से बचाकर रखना चाहते थे।''[68] स्त्री रूपी प्रेमिका, वेश्या और रखैल शृंगार का पात्र हो सकती है, स्त्री रूपी माँ, बहन और पत्नी नहीं क्योंकि वह विलास प्रवृत्ति की हो जाएगी! वीरभारत तलवार ने भारतेंदु हरिश्चंद्र के विषय में सही कहा है। वास्तव में शृंगारिक साहित्य का प्रश्न भारतेंदु हरिश्चंद्र के माध्यम से समस्त कुलीन वर्ग के लिए अपने घर की स्त्रियों को बचाना था। 'स्त्रीदर्पण' मई–जून 1919 में प्रकाशित 'स्त्रीशिक्षा और भविष्य का संस्कार' शीर्षक लेख

के रचियता बा. यदुनन्दन इसी वर्ग में आते हैं। वह अपने लेख में लिखते है–''आज कल हम लोग देखा करते हैं कि बाज़ारों में मेलों के अन्दर स्त्रियाँ बाज़ारू पुस्तकें जो एक दम असभ्य हैं, पढ़ने के लिए खरीदती हैं। उनके हाथ तड़पड़ाती मछली, रात की मीठी मीठी बातें, मीठा ज़हर आदि असंख्य पुस्तकें ऐसी होती हैं कि जिनके नाम लेने से लज्जा मालूम होती है। उन कुमारियों और माताओं को सीता और यशोदा की सी शिक्षा देनी चाहिए।''[69]

इस वर्ग में स्त्रियाँ भी शामिल हैं। हो सकता है इन स्त्रियों के लिए नैतिक मूल्यों से बचकर चलना मुश्किल रहा हो या नैतिक मूल्यों की राजनीति के प्रति इनकी समझ विकसित न हो पाई हो। इसलिए वह स्त्रियों और श्रृंगारिक साहित्य के विषय में ऐसा लिखती हैं। 'स्त्रीदर्पण' मार्च 1917 'वर्तमान काल की शिक्षा' शीर्षक से प्रकाशित लेख में श्रीमती मिश्र महिला लिखती हैं–''रहे कुछ, हमारे भाई तो यदि उनके घर की स्त्रियाँ चिट्ठी शुद्धाशुद्ध लिख लेती हैं अथवा किस्सा डल्ला इत्यादि पढ़ लेती है तो बस वह समझते हैं कि अब हद्द हो गया और इधर–उधर मूछों पर ताव देकर कहते हैं, स्त्रियों को अवश्य पढ़ाना चाहिये। मैं तो इन सब बात का विशेष पक्षपाती हूँ। मेरे घर की सब स्त्रियाँ पढ़ लेती हैं। किन्तु वह पढ़ना स्त्रियों के लिए न पढ़ने से भी अधिक हानिकारक है क्योंकि उन्हें अच्छे ग्रंथ तो पढ़ने को मिलते नहीं है यदि स्टेशनों पर बिकते हुए, घृणित उपन्यास अवश्य हाथ लग जाते क्योंकि उनके मूल्य सर्व साधारण की पहुँच के अन्दर होते हैं और उन्हें स्त्रियाँ नौकरों से अथवा स्वयं खरीद लेती हैं। जिनके पढ़ने से स्त्रियों के ह्रदय की वृत्ति खराब हो जाती है और वह विलास प्रिय और कड़े दिल की हो जाती है।''[70]

लड़कियों के पाठ्यक्रम में प्रेमसागर, विद्यांकुर, इतिहासतिमिरनाशक, ब्रजविलास, इन्दरसभा, लैला मजनू आदि रचनाओं पर प्रतिबंध लगाने से पहले ऐसे व्यक्तियों को नैतिकता का पैमाना निर्धारित करना चाहिए था। संपूर्ण समाज पुरुष प्रधान समाज है। इस दृष्टि से नैतिक चरित्र निर्माण की सबसे अधिक आवश्यकता पुरुषों को थी। परंतु लड़कों के पाठ्यक्रम में श्रृंगारपरक साहित्य लगाना लड़कों के नैतिक चरित्र निर्माण की महत्त्वहीनता को प्रमाणित करता है। यह आवश्यक नहीं है कि यह साहित्य स्त्रियों को वैश्या बनने के लिए प्रेरित करता है। यह ज्ञान का साधन भी बन सकता है जो वास्तव में होता भी है। स्त्रियों को प्रत्येक प्रकार का ज्ञान अर्जित करने की आवश्यकता है। शील, अश्लील आदि शब्दों का

निर्माण पुरुष समाज की मानसिक उपज है। इन्होंने इनको स्त्रियों के लिए इतना रूढ़ बना दिया है कि स्त्रियाँ स्वयं इसमें लज्जित अनुभव करती है। यह स्थिति स्त्री के जीवन में कभी न आए इसके लिए स्त्रियों को रूढ़ियों को तोड़ आगे बढ़ने में समझदारी है।

संदर्भ सूची

1. वीरभारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, पृ. 124
2. वही, पृ. 36

   "पुरुष सुधारक समाज के पितृसत्तात्मक ढाँचे पर हमला नहीं करते थे, बल्कि इसे सुरक्षित रखते हुए ही इसके अन्दर कुछ सुधार लाना चाहते थे।"
3. सरस्वती, मार्च 1905, पृ. 105
4. सरस्वती, फरवरी 1980, पृ. 307
5. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर, 1915, पृ. 23
6. सरस्वती, 1918, पृ. 309
7. आलोचना, (सं.) नामवर सिंह, अक्टू.–दिस. 2004, पृ. 177
8. सरस्वती, जनवरी, 1918, पृ. 22–23
9. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 113–114
10. वीरभारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, पृ. 35
11. मर्यादा, अक्टूबर 1915, पृ. 309
12. चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, पृ. 133

    "हिन्दू स्त्रियों को औपचारिक शिक्षा देने का अभियान व्यवस्थित रूप से पहली बार ईसाई मिशनरियों ने शुरू किया। भारतीय स्त्रियों की दुर्गति और उपेक्षा पर उन्होंने अपने हित के लिए गहरे रूप से प्रकाश डाला और उनके द्वारा दी जा रही शिक्षा को हिन्दू धर्म की बुराईयों और विसंगतियों के बोझ को उबरने का प्रथम चरण कहा।"
13. स्त्रीदर्पण, दिसंबर 1917, पृ. 310
14. स्त्रीदर्पण, मार्च 1917, पृ. 131
15. वही, अप्रैल 1917, पृ. 192
16. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 92
17. स्त्रीदर्पण, फरवरी 1920, पृ. 120–121
18. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, पृ. 59
19. मर्यादा, अक्टूबर 1915, पृ. 310
20. स्त्रीदर्पण, मार्च 1917, पृ. 131
21. राज किशोर, स्त्री–पुरुषः कुछ पुनर्विचार, पृ. 124
22. नया ज्ञानोदय, प्रभाकर श्रोत्रिय (सं.), जुलाई 2005, पृ. 40–42
23. स्त्रीदर्पण, अप्रैल, 1917, पृ. 216
24. चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, पृ. 43

    ''हमारे घर की स्त्रियाँ गृह के कामकाज में दक्ष तो होती है अवश्य परन्तु वैज्ञानिक रीति में काम करना नहीं जानती, अमरीका आने इसे इस बात की भी प्राप्त हो जायगी।"

25. स्त्रीदर्पण, अप्रैल 1917, पृ. 219

26. वही, पृ. 311

27. वही, जनवरी 1920, पृ. 246

28. वही, पृ. 247–248

    "विधवा विवाह का होना घोर पाप है। मुझे यहाँ कहने की आवश्यकता मालूम होती है कि विधवा–विवाह इत्यादि की ज़रूरत स्त्री शिक्षा के अभाव के कारण उत्पन्न होती है। स्त्री शिक्षा न दी जाने से छोटी आयु में विवाह होना और इसी कारण अपने कर्तव्यों को न समझना और थोड़ी ही उमर में विधवा हो जाना विधवा–विवाह को मजबूर करता है।"

29. वीरभारत तलवार, रस्साकशीः 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत, पृ. 187

    "हिंदी नवजागरण का गढ़ विधवाओं का भी गढ़ था। सारे हिन्दुस्तान में विधवाएँ काशी में आती थीं। जो दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों को लेकर मुमुक्षु भवन जैसी बड़ी इमारतों तक में बसी हुई थी।"

30. स्त्रीदर्पण, दिसंबर 1918, पृ. 325

31. स्त्रीदर्पण, दिसंबर 1917, पृ. 310–311

32. वही, पृ. 309

33. मर्यादा, अगस्त 1915, पृ. 113–114

34. स्त्रीदर्पण, जनवरी 1920, पृ. 241

35. वीरभारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्यः कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियाँ, पृ. 137

36. कृष्ण कुमार, गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, ग्रंथ शिल्पी (इण्डिया), संस्करण 2000, पृ. 11

37. वीरभारत तलवार : 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत, पृ. 39

38. नया प्रतीक, (सं.) स.ही. वात्स्यायन, मार्च 1976, पृ. 76

39. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1919, पृ. 226

40. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1920, पृ. 303

41. सरस्वती, सितंबर 1914, पृ. 506

42. ओमलता (सं.), स्त्रियों का सामाजिक जीवन एवं अन्य निबंध, पृ. 95

43. मर्यादा, अक्टू. 1915, पृ. 309

44. स्त्रीदर्पण, अप्रैल 1919, पृ. 206

45. रमणिका गुप्ता, स्त्री मुक्ति : संघर्ष और इतिहास, पृ. 110

46. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1919, पृ. 131

47. स्त्रीदर्पण, जून 1919, पृ. 327

48. हिन्दी प्रदीप, नवंबर–दिसंबर 1904, पृ. 9

49. स्त्रीदर्पण, मार्च 1919, पृ. 192

50. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1919, पृ. 237–239

51. ओमलता (सं.), स्त्रियों का सामाजिक जीवन एवं अन्य निबंध, पृ. 94

    "क्या पुत्र अपने पिता का वशवर्ती नहीं होता। क्या ब्रह्मचारी या विद्यार्थी अपने आचार्य की अधीनता में नहीं रहता? क्या प्रजनन राजा की आज्ञा के पालक नहीं होते? धर्म संबंधी बातों में क्या सब लोग शास्त्र का आदेश नहीं मानते? यदि राजशक्ति के अधीन होना गुलामी नहीं, यदि आचार्यों और विद्वानों की आज्ञा मानना गुलामी नहीं, तो स्त्रियों को अपने पिता और पति के अधीन होकर रहना भी गुलामी नहीं।"

52. स्त्रीदर्पण, जुलाई 1919, पृ. 37

53. स्त्रीदर्पण, अप्रैल 1917, पृ. 192

54. वही, नवंबर 1920, पृ. 304

55. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 74

56. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1919, पृ. 227

57. वही, पृ. 228

58. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 263

59. वीर भारत तलवारः 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत, पृ. 35

60. सरस्वती, जून 1917, पृ. 309

61. सरस्वती, फरवरी 1910, पृ. 279

62. स्त्रीदर्पण, जुलाई 1919, पृ. 40

63. स्त्रीदर्पण, जून 1917, पृ. 299

64. वीर भारत तलवार, 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत, पृ. 20

65. स्त्रीदर्पण, मार्च 1917, पृ. 129–130

66. मर्यादा, अक्टूबर 1915, पृ. 315

67. स्त्रीदर्पण, जुलाई 1919, पृ. 41

68. वीर भारत तलवार, 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत, पृ. 38

69. स्त्रीदर्पण, मई–जून 1919, पृ. 254

70. स्त्रीदर्पण, मार्च 1917, पृ. 129–130

'स्त्री' के साथ विवाह की रीति जुड़ते ही उसके जीवन में परिवर्तन की बाड़–सी आ जाती है। विवाह पूर्व व विवाह पश्चात् की रणनीति को समझते हुए वह अपने जीवन को आधार प्रदान करने की कोशिश में लगी रहती है। कभी यह कोशिश पूरी होती है और कभी समाज के पितृसत्तात्मक नियमों के आगे घुटने टेक उनकी पिछलग्गु हो जाती है। 'स्त्री विवाह' को समाज में बहुत बड़ी चुनौती माना जाता है। जिस स्त्री के लिए उसके परिवारजन योग्य वर ढूँढ लेते हैं वह स्त्री भाग्यशाली कही जाने लगती है और जिस स्त्री के लिए योग्य वर नहीं मिलता वह 'अभागी' समझी जाती है।

प्रारंभिक काल से स्त्री के विवाह के समय स्त्री को कुछ सामान देकर विदा किया जाता था जो नव–जोड़े की गृहस्थी को सुचारू रूप से चलाने में कारगर सिद्ध होता था। यह नियम अब विकराल रूप धारण करता जा रहा है जो स्त्री के भविष्य पर काले साये की तरह मंडराता रहता है। डॉ. अमरनाथ स्त्री से जुड़ी दहेज की रीति पर लिखते हैं–"जैसे–जैसे बेटी की उम्र बढ़ती जाती है, माँ–बाप के चेहरे पर दहेज का खौफ और घना होने लगता है। माँ–बाप अपना पेट काट–काटकर, दिन–रात कड़ी मेहनत करके, असमय में ही बुढ़ाते हुए दहेज की रकम जुटाने लगते हैं। उधर दहेज का दानव सुरसा के मुँह की तरह बढ़ता चला जाता है, जिसकी हवस शान्त करने के लिए कर्ज, उधार, गिरवी, रेहन और न जाने क्या–क्या कुकर्म–झूठ–फरेब, तिकड़म, घूसखोरी, मुनाफाखोरी, चोरी, लूट, तस्करी आदि तक की जिल्लते उठानी पड़ती है। जिन्दगी का सारा मकसद, सारी इनसानियत, सारे मानवीय सम्बन्ध बस एक ही चीज़ में सिमट–सिकुड़ जाते हैं–पैसा–पैसा और पैसा।''[1]

'स्त्री' के विवाह को पैसों से आँककर उसकी अस्मिता की बलि चढ़ाई जाती है। जितना योग्य, संपन्न एवं सरकारी नौकरी प्राप्त पुरुष होगा उसकी माँग भी उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है। जैसे उस पुरुष का पालन–पोषण उस स्त्री के मत्थे ही किया गया हो। यह व्यवस्था पितृसत्तात्मक समाज के कारण है जिसमें पुरुषों को हमेशा से ही उच्च स्थान प्राप्त है और स्त्री नीचले स्थान पर भी अपनी जगह बनाने की जद्दोजहद से जूझ रही है।

विवाह स्त्री–पुरुष की साझी विरासत है जिसका उत्तरदायित्व किसी एक पर नहीं डाला जा सकता है। स्त्री और पुरुष दोनों की ही इसमें समान भागीदारी होती है। परंतु विवाह के समय पुरुष यह भूल जाता है और अधिक से अधिक स्त्री पक्ष से पैसा वसूलने के

लिए तत्पर रहता है। लड़कियाँ भी अपना बचाव या पक्ष नहीं रख पाती इसलिए उनकी स्थिति पशुओं के जैसी हो जाती है। कन्या पक्ष भी कन्या का जल्द से जल्द कन्यादान के पक्ष में रहता है। डॉ. अमरनाथ कन्यादान पर लिखते हैं "कन्यादान हमारे यहाँ विवाह–प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, जिसमें कन्या को दान कर दिया जाता है मानो वह कोई चेतना विहीन जड़ पदार्थ हो, सोना, चाँदी या पशु की तरह, जिसे दान देकर दाता लोग स्वर्गलोक में अपनी सीट रिजर्व करा लेते हैं। कन्यादान बहुत बड़ा दान है, उससे बड़ा पुण्य मिलता है। वाह रे हमारी संस्कृति!"[2]

4.1 विवाह का अर्थ और उद्देश्य

समाजशास्त्रीय वर्ग विवाह को राष्ट्र की उन्नति से जोड़ कर देखता हैं। स्त्री समाज का हिस्सा है। विवाह के पश्चात् सन्तान की वृद्धि के साथ ही कुटुम्ब की वृद्धि होने लगती है। कुटुम्ब समाज के साथ अपना संपर्क स्थापित करता है। समाज में स्त्रियों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया जाता है उसका असर समाज और राष्ट्र पर भी पड़ता है। यदि स्त्रियों की अवनति होगी तो समाज व राष्ट्र भी गर्त में चला जाएगा। स्त्रियों की उन्नति के साथ ही समाज व राष्ट्र की उन्नति संभव है।

विवाह के समय प्रायः वर पक्ष और कन्या पक्ष दोनों ही एक स्त्री से यह अपेक्षा करते हैं, कि वह दोनों परिवारों का दायित्व अच्छी तरह निभाए। इस विषय में उसके अधिकारों की बात नहीं की जाती है। विवाह का अर्थ ही समानता की कसौटी को लिये हुए है। परंतु स्त्री–पुरुष विवाह पश्चात् स्त्री को कर्तव्यों का पाठ पढ़ा कर पुरुष स्वतंत्र हो जाता है जबकि विवाह समानता की माँग करता है।

सामाजिक दृष्टि से विवाह एक भूलभुलैया या मृगतृष्णा–सा प्रतीत होता है। परंतु विवाह के पश्चात् जिम्मेदारियों को बोझ समझने की नीति विवाह के अर्थ को ही बदल देती है। विवाह एक–दूसरे के भावों को समझने का दूसरा नाम भी है परंतु कभी–कभी अनजान व कच्ची उम्र के रिश्ते भावनात्मक रिश्तों की नाजुक बागडोर संभाल नहीं पाते हैं। मर्यादा जुलाई–दिसंबर 1915 के अंक में 'स्त्रियों के अधिकार' शीर्षक से श्रीमती कमला देवी श्रीवास्तव लिखती हैं–"विवाह बड़े महत्त्व का मानव–संगठन है। इसमें स्त्री–पुरुष एक–दूसरे के भावों और आचार–विचारों पर मोहित होकर ही अपने को एक–दूसरे से आबद्ध करते हैं।

परंतु यहाँ तो हृदय में भाव उदय होने ही नहीं पाते, विचारों का परिपक्व होना तो दूर, विचार करना तक नहीं आता और विवाह हो जाता है। वैवाहिक जीवन की जिम्मेदारियों से पति–पत्नी दोनों ही नितान्त अनभिज्ञ होते हैं और इसी का यह परिणाम है कि भारतीय सन्तान इतनी निकम्मी होती है।"[3]

विवाह के समय धर्म अपनी विशेष भूमिका निभाता है। धर्म समता, समानता पर आधारित होता है परंतु अग्नि के इर्द–गिर्द लिए सात वचन स्त्री के जीवन को सभी तरह से बाँध देते हैं। स्त्री बिना पति के कहीं आ जा नहीं सकती यह सब धर्म को आधार बनाकर स्त्री को बाँधने के नियम है। धर्म भी पुरुष को सहानुभूति देता है। पुरुष की स्त्री के साथ कोई सहानुभूति नहीं रहती है। विचारशीलता की कमी के कारण विवाह जैसा पवित्र रिश्ता खोखला होता जा रहा है।

स्त्री विवाह के यदि इतिहास पर ध्यान दिया जाए तो युद्ध के समय पराजित जाति को दासत्व झेलना पड़ता था। विजयी लोग पराजित लोगों की स्त्रियों को अपने साथ ले जाते थे और उनसे विवाह करते, दासी बनाकर रखते या बेच देते थे। दोनों ही पक्षों में आहुती एक स्त्री को ही देनी पड़ती थी। कुछ समय बाद विवाह जैसे नियम बना दिये गये। लड़ाइयाँ बंद होने से स्त्री को भी दासत्व से मुक्ति मिली। उन्हें नये कानून व नवीन राज व्यवस्था के आधार पर सम्मान प्राप्त हुआ। विवाह की प्रारंभिक प्रथाओं में स्त्री अपना वर स्वयं चुन सकती थी परंतु उसकी स्वाधीनता बढ़ जाने के डर से उसे विवाह पद्धति के धार्मिक नियमों में बाँध कर सामाजिक विषयों पर भी कड़े नियम बना दिए गए। इससे स्त्री के लिए विवाह एक आवश्यक संस्कार बन गया। इससे स्त्रियों के अधिकार व अस्मिता को हानि उठानी पड़ी।

विवाह के मर्यादित नियम कायदों में बँधकर स्त्रियों की दशा निरंतर गिरती जा रही है। स्त्री की प्राचीन दशा को देखें तो संसार में स्त्री–पुरुष बराबर अपने भोजन की तलाश करते थे। शत्रु से युद्ध के समय स्त्रियाँ भी अपना जौहर दिखाती थी। परंतु वर्तमान में कर्तव्य के नाम पर केवल स्त्रियों की बलि चढ़ाई जाती है। विवाह पश्चात् स्त्री अपना सारा वात्सल्य एवं प्रेम अपने सुख और आनंद में लगा देती है। विवाह का उद्देश्य संतानोत्पत्ति भी माना जाता है परंतु वर्तमान में स्थिति में परिवर्तन आ रहा है। भारत में विवाह सांसारिक सुख की

प्राप्ति एवं संतान सुख के लिए किया जाता था। मर्यादा जुलाई–दिसंबर 1915 के अंक में 'माता' शीषर्क से श्रीमती रामेश्वरी नेहरू लिखती हैं–"ब्याह करना प्रत्येक सांसारिक स्त्री पुरुष का धर्म था। आजकल के नये विचारों के प्रभाव में यह विचार दिन–दिन महत्त्व में घटता जाता है। ब्याह करना या सन्तान उत्पन्न करना अब स्त्री पुरुषों का कर्तव्य या धर्म नहीं रहा है। ब्याह जीवन की भोग विलास की वस्तुओं में से एक समझा जाता है और ब्याह के पश्चात् भी सन्तानोत्पत्ति कुछ आवश्यक नहीं मानी जाती। स्त्रियों की माता बनने की इच्छा दिन–दिन घटती जाती है। माता बनकर बालक की देख–रेख में व्यर्थ समय नष्ट करना उन्हें अच्छा नहीं लगता।"[4]

यह स्थिति अचानक उत्पन्न नहीं हुई है बल्कि इस स्थिति के उत्पन्न होने में पुरुषों द्वारा स्त्रियों के प्रति किया गया दासत्व व्यवहार है। पुरुष बाहर कमाता है। घर की जिम्मेदारी स्त्री पर होती है। पुरुष के श्रम का मूल्य निर्धारित होता है परंतु स्त्री के श्रम का कोई मूल निर्धारण नहीं होता है। वह दिन–भर घर के कामों में पिसती रहती है उसके पश्चात् भी उसे आर्थिक स्वतंत्रता का लाभ प्राप्त नहीं होता है। आर्थिक स्वतंत्रता की बलवती इच्छा ने माता बनने की प्रबल इच्छा का लोप कर दिया है। विवाह का उद्देश्य संतान सुख प्राप्ति अवश्य है परंतु मात्र पुरुष इससे स्वतंत्र रहता है और स्त्री की जिम्मेदारियाँ कई गुना बढ़ जाती हैं जिससे वह अपने अस्तित्व का निर्माण नहीं कर पाती है। मर्यादा जुलाई–दिसंबर 1915 के ही अंक में श्रीमती रामेश्वरी नेहरू लिखती हैं–"आर्थिक स्वतंत्रता लाभ करने के अभिप्राय से ही अमेरिका और यूरोप में कुंवारी स्त्रियों के अतिरिक्त सहस्रों ब्याहता स्त्रियां कलों, कारख़ानों, दूकानों, दफ्तरों आदि में काम कर रही है। ऐसी स्त्रियों को कई–कई घंटे घरों से बाहर रहकर कार्य करना होता है।"[5]

ऐसा नहीं है कि जीवनयापन के लिए विवाह की आवश्यकता ही खत्म कर दी जाए यदि ऐसा होगा तो पारिवारिक आनंद की अनुभूति का आनंद लोग नहीं ले पाएँगे। विवाह के पश्चात् व्यक्ति में ऐसे परिवर्तन आते हैं जो शायद वह खुद भी नहीं जान पाता है। यह परिवर्तन उसके व्यवहार में चरित्र को शुद्ध करने वाले, रूचिकर और हृदय को प्रसन्न करने वाले होते है। और कभी–कभी यही सामाजिक मनोविकार का कारण बन जाते हैं। 'प्रभा' अक्टूबर 1913 के अंक में श्रीयुत वृन्दाबनलाल वर्मा, बी. ए. अशिक्षा के कारण वैवाहिक

दुष्वृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए लिखते है–"जिन्होंने ऊंची शिक्षा नहीं पाई है, वे स्त्रियों को पैर की जूती समझते हैं। सदाचार का विचार बहुत ही शिथिल हो गया है। अपने विवाह से असंतुष्ट हिन्दू–युवा, जलते कलेजे को–अशान्त मन को–ठण्डा करने के लिये प्यासी आँखों से इधर–उधर देखता है। और मेले–तमाशों में इधर–उधर भटकता है। अधिकांश स्त्रियाँ भी, कई कारणों से, असंतुष्ट युवा और युवती का अधार्मिक मिलाप होता है तथा मर्यादा टूटती! कुल और देश रसातल को जाते हें!! समाज के शरीर में दुराचार का अत्यंत भयानक घुन लग जाता है!!!"[6]

विवाह के पश्चात् पुरुष चाहने लगता है कि उसकी पत्नी आज्ञाकारिणी हो और स्त्रियाँ अपनी अस्मिता से अनजान बिना कुछ कहें अपना पतिव्रत धर्म निभाती चलती है। पतिव्रत धर्म की आड़ में समाज स्त्री के प्रत्येक क्षण को मर्यादित कर देता है। यदि ऐसी स्थितियों का प्रारंभ में ही समाधान न किया जाए तो विवाह के समक्ष कई समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है। विवाह का उद्देश्य संपूर्ण मानव जाति के कल्याणार्थ होता है। मानव अपने नवीन जीवन की शुरूआत के साथ अपने परिवार, समाज व राष्ट्र को भी प्रभावित करते हैं। पति–पत्नी में यदि वैवाहिक समझ न हो तो इसका असर उनसे जुड़े अन्य लोगों पर भी पड़ता है। विवाह दूसरे के साथ तालमेल बैठाने के साथ ही स्वयं के साथ तालमेल बैठाना भी है। बिना तालमेल के विवाह का अर्थ निरर्थक हो जाता है। प्रत्येक विवाह अपने साथ संकल्प, योगदान, त्याग, प्रेम, वात्सल्य, सम्मान और अटूट साझेदारी लेकर आते हैं। एक पक्ष अपने स्वाभिमान में रहकर विवाह के अर्थ को भूल अपना राग अलापने लगता है तो दूसरे पक्ष का कर्तव्य बनता है उसे विवाह के अर्थ व उद्देश्य से अवगत कराया जाए। बिना विवाह के अर्थ को जाने उसका उद्देश्य निरर्थक है। विवाह के नाम पर समाज में एक उक्ति प्रचलित है कि 'शादी का लड्डू जो खाये पछताये जो न खाये वह भी पछताये' यह उक्ति अपने स्तर तक ठीक है परंतु जहाँ सही गलत के फैसले की समझ ना हो यह ठीक नहीं बैठती। क्योंकि विवाह पूर्व या बाद क्यक्ति के समक्ष छोटी–बड़ी समस्याएँ आती रहती है। विवाह पश्चात् स्त्री या पुरुष यह क्यों कामना करते हैं कि उनकी जिंदगी में केवल सुख ही आएँगे, कोई उतार–चढ़ाव नहीं। मात्र सुख की धारणा के बलवती होने से विवाह पश्चात् विवाद उत्पन्न होते हैं और नाजुक क्षणों में जल्दबाजी के तहत ऐसे फैसले ले लिये जाते हैं जिससे जीवन–भर पछताना पड़ता है। यहाँ बात केवल नवीन जोड़ों की नहीं है बल्कि

प्रत्येक वैवाहिक युगल की है। वैवाहिक अर्थ व उद्देश्य विवाह के कुछ वर्ष पश्चात् तक के लिए न होकर प्रत्येक युगल के जीवन की डोर से बँधा होता है। जिसे कुछ निभाते हैं, कुछ नहीं और कुछ इधर तक आते–आते हार मान लेते हैं।

विवाह का सही अर्थ सामाजिक कुरीतियों को तोड़ते हुए स्त्री की अस्मिता को पूर्ण स्वतंत्रता देना भी है। सामाजिक लोक–कथाओं में स्त्री को घर की इज्जत के रूप में गढ़ा जाता है। वह अपने चरित्र को लेकर काफी सोचती है, भयभीत रहती है कि कहीं उसके चरित्र पर कोई दाग न लग जाए। समाज भी उसी तरह अपनी रणनीति तैयार कर उसे अपने नियंत्रण में रखता है। 'स्त्रीदर्पण' मई 1917 के अंक में 'स्त्री धर्म' शीर्षक से श्रीमती पदमावती का वक्तव्य देखिए–

"पति शुश्रूषयैव स्त्री कान्न लोकान्समश्नुते।
दिवः पुनरिहायाता सुखानामम्बुधिर्भवेत्।।

स्त्री केवल पति की सुसेवा ही करके सम्पूर्ण स्वर्ग के सुखों को भोगती है और स्वर्ग से पुनर्वार भू लोक में आकर सुखों की समुद्र हो जाती है। सावित्री और सत्यवान की कथा आप लोगों को मालूम है कि सत्यवान जब एक रोज़ लकड़ी कांटने जा रहे थे उस रोज़ सावित्री ने उनसे हठ करके आज्ञा ली और उन के साथ वन में गई। सावित्री देवी रोज़ नहीं जाती थी परंतु यह दिन उनको हमारे प्रसिद्ध नारद मुनि जी बता गये थे सो इसी दिन उसने उनके कहने का उल्लंघन करके और उनके साथ वन में गई और फिर उन को स्वर्ग से वापस लाईं।"[7]

स्त्रियों को विकट परिस्थितियों का सामना करना आना चाहिए। स्त्रियों को स्वयं पर निर्भर होकर अपनी सहायता स्वयं करनी चाहिए। विवाह पूर्व व पश्चात् अपने अधिकारों के लिए उसे स्वयं लड़ना होगा। स्त्री को कमजोर समझने की भूल करने वालों के लिए यह उसका जवाब होगा। यदि स्त्री अब भी ऐसा नहीं करती है तो प्रत्येक पत्रिकाओं एवं पुस्तकों में उसकी सेवा सुश्रुषा के बारे में ही चर्चा होगी और उसकी पहचान उसके पिता, पति या पुत्र से ही जानी जाएगी। विवाह का अर्थ समानता की भावना लिए हुए है परंतु पूरे वैवाहिक जीवन में यह समानता स्त्री को मिल नहीं पाती। जिस उद्देश्य से विवाह किया जाता है

उसकी संपूर्णता भी केवल पुरुष में ही दिखायी देती है। स्त्री को उस उद्देश्य से पीछे धकेल दिया जाता है।

4.2 विवाह के नियम

प्रारंभिक दशको में स्त्री का विवाह उसके बाल्यकाल में ही हो जाता था। दस साल से भी कम आयु में स्त्री का विवाह हो जाना 18वीं शताब्दी में साधारण बात थी। स्त्री का मासिक धर्म शुरू होने से पहले ही उसका विवाह हो जाना उचित माना जाता था। मासिक धर्म के पश्चात् या अधिक आयु में लड़की के विवाह को उचित नहीं माना जाता था। 1860 के पहले तक एक पुरुष द्वारा अपनी पत्नी के साथ किये गये सेक्स को अनुचित नहीं माना जाता था। 1860 के बाद भारतीय दंड संहिता में एक पति द्वारा दस साल से कम आयु की पत्नी के साथ शारीरिक संबंध बनाने को 'बलात्कार' की संज्ञा दी गई। बाद में भारतीय दंड संहिता की धारा 375 से लेकर 'शारदा अधिनियम' जिसे बाद में 'बाल विवाह नियंत्रण अधिनियम' कर दिया गया था, में भी स्त्री के विवाह संबंधी समस्याओं पर विचार किया जाने लगा।

प्रारंभिक दशकों में अगर बाल विवाहित स्त्री अपने पति के घर में शोषित या प्रताड़ित की जा रही है तो उसे वह घर छोड़कर अपने पिता के घर जाने का सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं था। पति कैसा भी हो उसे ही अपना सर्वस्व मानकर उसके साथ जीवनयापन करना ही होता था। अगर ऐसा करने से कोई स्त्री मना करती है तो वह समाज में कलंकित एवं अपमानित समझी जाती है। पूर्व में पत्नी द्वारा ऐसा करने पर पति को उसे जेल भिजवा देने का अधिकार भी प्राप्त था। "नागरिक प्रक्रिया संहिता 1882 की धारा 260 में दाम्पत्य अधिकारों की पुर्नस्थापना के लिए डिगरी नामगी और पत्नी की बरामदगी के लिए दावा दायर करने सम्बन्धी प्रावधान थे। इसके तहत पति अनिच्छित पत्नी को अपने साथ रहने के लिए मजबूर करने के लिए जेल भिजवाने की धमकी दे सकता था। प्रसिद्ध 'रकमाबाई मुकदमा' इसके तहत लड़ा गया। 1884 में दादाजी भीकाजी ने अपनी पत्नी के ऊपर दाम्पत्य सम्बन्ध की पुर्नस्थापना के लिए मुकदमा दायर किया, पर उसकी पत्नी रमाबाई जो महाराष्ट्र के एक निम्नवर्गीय बढ़ई परिवार की शिक्षित लड़की थी, ने इसका विरोध किया। उसके विरोध का तर्क पति की गरीबी, अशिक्षित, हैसियत, फिजूलखर्ची और सबसे महत्त्वपूर्ण, शादी

के समय 11 साल की उम्र में उससे स्वीकृति का अभाव था। रमाबाई पति के साथ रहने की बजाय जेल जाने को भी तैयार थी। इससे तलाक की जरूरतों पर बातचीत शुरू हुई और यह भी कहा गया कि दाम्पत्य सम्बन्ध की पुर्नस्थापना के लिए पति का हित साधन या पत्नी को कारावास जैसे प्रावधान समाप्त होने चाहिए।"[8]

स्त्री बाल विवाह में हो रहे परिवर्तनों का हिंदू समाज में विरोध किया जाने लगा। ऐसी स्त्रियों को पवित्रता के दायरे से बाहर रखा जाने लगा। कहा गया कि अधिक समय तक अविवाहित रहने से स्त्रियाँ भ्रष्ट व कर्तव्यविमुख हो जाती है, उन्हें किसी का भय नहीं रहता है, अपने साथ वह समाज को भी गर्त में धकेलती है। स्त्री के प्रति इस प्रकार की सोच रखना प्रारंभिक दशकों में आम बात थी। संकीर्ण हिंदू समाज में स्त्री के लिए इससे अधिक की उम्मीद भी नहीं कि जा सकती थी। संस्कृति, मान–मर्यादा, समाज व पवित्रता का डर महिलाओं में बैठा कर उन्हें कठपुतलियों की तरह नचाना भारतीय संस्कृति की ही देन है। विवाह की उम्र निश्चित करने के पीछे उनका तर्क था कि सेक्स व विवाह की उम्र निश्चित हो जाने से लड़कियों को वेश्यावृत्ति व बलात्कार से बचाया जा सकता है।

स्त्री बाल–विवाह एक सामाजिक अभिशाप है। इसमें अधिक उम्र के पुरुष के साथ कम उम्र की स्त्री का विवाह कर दिया जाता है। 18वीं सदी में ऐसे कई मुकदमे हैं–"10 वर्षीय फूलमणि की अपने 35 वर्षीय पति हरिमोहन मैती के साथ सम्भोग के दौरान मृत्यु। मालवारी जैसे अभियानकर्त्ता ने विवाह की सहमति के लिए उम्र सीमा बढ़ाने का नया अभियान शुरू किया। उन्होंने उत्तर प्रदेश का दौरा किया और 1886 में इलाहाबाद, लखनऊ, आगरा, अलीगढ़, बरेली, मथुरा आदि में सभाएँ सम्बोधित की। सुधारवादियों के इन दबावों के कारण 1891 में सरकार ने यह कहा कि 12 वर्ष से कम उम्र की पत्नी के साथ सम्भोग दंडनीय होगा। गौरतलब है कि इस कानून द्वारा केवल सेक्स करने की उम्र में इजाफा करने का प्रयास किया गया, ना कि विवाह की उम्र का। लेकिन इसका भी काफी विरोध हुआ। यह विरोध सबसे ज्यादा कलकत्ता में हुआ पर इससे उत्तर प्रदेश भी अछूता नहीं रहा। वाराणसी से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र भारत जीवन ने इसमें अग्रणी भूमिका अदा की।"[9]

प्रारंभिक दशकों में एक पुरुष कई पत्नियाँ रख सकता था। कुलीन वर्ग इसमें सबसे आगे था। हिंदू–मुसलमानों में यह कुप्रथा काफी जोर–शोर से प्रचलित थी। अधिक पत्नियाँ

रखना मर्दानगी की निशानी मानी जाती थी तथा प्रत्येक पत्नी के साथ अधिक मात्रा में दहेज भी लिया जाता था। कई पत्नियों के होने से वे अपना एकाधिकार पाने के लिए आपस में ही झगड़ पड़ती थी। इर्ष्या, द्वेष, घृणा की समस्या दिनों–दिन बढ़ती जाती थी। दोनों तरफ से स्त्री की ही हानि थी। वास्तविकता तो यह थी कि समाज में बहु–विवाह को बुरा नहीं समझा जाता था। अगर स्त्री अनेक पति रखती है तो वह सामाजिक बहिष्कार की पात्र होती है परंतु पुरुष इस विषय में गलत है यह भाव उनके मन में बहुत देर से आता था। 'सरस्वती' जनवरी 1914 के अंक में 'विचित्र वैवाहिक प्रथायें' शीर्षक से सत्यशोधक इस विषय में लिखते हैं–"निर्धनता और शिक्षा प्रसार ने भारत में इस प्रथा को बहुत कम अवश्य कर दिया है, पर कुछ ही समय पहले बङ्गाल के बहुत से कुलीनों की जीविका बहु–विवाह ही पर अवलंबित थी। 1796 में बाबू योगेन्द्रनाथ भट्टाचार्य ने लिखा था–'पहले एक कुलीन आसानी से सौ और सौ से भी अधिक विवाह कर सकता था। अपनी पत्नियों के नाम–धाम याद रखने के लिए उसे रजिस्टर रखने पड़ते थे। हाईकोट के इस फैसले ने इन लोगों को बड़ा धक्का पहुँचाया कि कुलीन के लिए सब पत्नियों का पालन–पोषण करना आवश्यक है।' पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपनी पुस्तक में एक गाँव के निवासी चार कुलीनों के नाम और पते लिखे हैं। उनमें से एक के 65, दूसरे के 56, तीसरे के 55 और चौथे के 41 स्त्रियाँ थीं। उसी गाँव में एक बीस वर्ष के लड़के के सोलह विवाह हो चुके थे। कायस्थ आदि कुछ उच्च तथा कुछ नीच जातियों ने भी इस प्रथा का अनुकरण किया है। मुसलमानों में एक पुरुष के चार तक स्त्रियाँ हो सकती हैं।"[10]

स्त्रियों के पक्ष में यदि कोई खड़ा भी दिखता है तो वह गिने–चुने होते थे। प्रारंभिक दशकों में स्त्री की स्थिति इतनी जटिल थी कि यदि कोई अपनी राय भी रखता था तो उसके विचारों में विरोधाभास अधिक होता था। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका के फरवरी 1917 के अंक में 'हमें आनन्द कैसे प्राप्त हो' लेख के रचनाकार 'श्रीयुत विश्वेश्वर दयाल विद्यार्थी' लिखते हैं कि पुरुष व स्त्री को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए। जितनी शिक्षा पुरुष प्राप्त करता है उतनी शिक्षा का अधिकार स्त्री को भी होना चाहिए। वे स्त्री स्वतंत्रता के पक्षधर है परंतु कहीं–कहीं पर आकर एकांगी हो जाते हैं और विवाह पश्चात् स्त्री के कर्तव्यों का लेखा–जोखा प्रस्तुत करने लगते हैं कि स्त्रियों को अपने पति को खुश रखना चाहिए, पति को भी स्त्री का ध्यान रखना चाहिए जिससे वह अपना संपूर्ण पति की सेवा में न्यौछावर

करने के लिए तैयार रहे। वे यूरोप व भारतवर्ष की महिलाओं की तुलना करते हुए लिखते हैं कि–"हमें योरूप की महिलाओं के जीवन पर लांछन लगाने का कोई अधिकार नहीं यदि उनका जीवन शुद्ध तथा प्रेम से परिपूर्ण हो अधिकांश इस समय योरूप की महिलायें हर एक बात में बढ़ी–चढ़ी हैं यह कहे बिना हम नहीं रह सकते आज जितना योरूप की महिलायें अपने पतियों की सहायक तथा हितैषनी है वैसी भारतवर्ष में बहुत कम दिखाई देती है परंतु इतना अवश्य कहूंगा कि बहुत सी स्त्रियों को अपने पति से प्रेम होते हुए भी उन की मृत्यु के पश्चात् पुनर्विवाह कर लेती हैं यह असली प्रेम ज़ाहिर नहीं करता।"[11]

समाज स्त्री की त्याग मूर्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है और वही लोगों के दिमाग में बनी हुई है। यदि पति अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह कर सकता है तो पत्नी को इसकी इजाजत क्यों नहीं है। सामाजिक कुप्रथाएँ इस प्रकार लोगों के मन में घर कर बैठी है कि इससे निजात पाना काफी मुश्किल है। पति अच्छा बर्ताव इसलिए करें कि उसकी पत्नी उसे ही सर्वस्व या ईश्वर मानने को तैयार हो जाए। यह कैसी चतुराई है कि मनुष्य की अस्मिता व स्वतंत्रता छीनकर आदर, सम्मान व प्रेम के सहारे उस पर अपने (पुरुष पति) होने का अहसास रहना। प्रारंभिक पत्रिकाओं में इन बातों पर विचार हुआ है परंतु कुछ तथ्यात्मक नतीजे निकलकर आने की संभावना कम है।

स्त्री को वस्तु समझकर काम दिलाने का झांसा देकर उन्हें बेच दिया जाता है। उन्हें अपना वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर होना पड़ता है। ऐसी स्त्रियाँ यदि इस दलदल से बच–बचाकर अपने घर पहुँचती है तो उसे उसका पति या परिवार के अन्य सदस्य स्वीकार नहीं करते हैं। परिवार और समाज के लिए वह अस्वीकार्य होती है। ऐसे में वह पुनः उसी दलदल में जाने के लिए अभिशप्त हो जाती है। विवाह के पश्चात् स्त्री का जीवन पूर्णतः बदल जाता है। उसमें शारीरिक व मानसिक रूप से इतने बदलाव आते हैं, कि वो जब तब उन परिस्थितियों को समझने की कोशिश करती है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। जब विवाहित स्त्री को जबरन वेश्यावृत्ति में धकेल दिया जाता है और उन पर लगातार पति बदलने का आरोप लगाया जाता है। तब वह स्त्रियाँ सवाल करती हैं कि–"वह यह बात कब गवारा कर सकता है कि ऐसा क़ानून बना दिया जावें कि स्त्री कपड़ों की तरह पति बदल सके। हम लाट साहब का ध्यान इस ओर दिलाती हैं। हम अपने उन भाइयों का ध्यान भी

इस ओर दिलाती हैं कि जो विधवा विवाह होने पर आसमान जमीन सर पर उठा लेते हैं। उनसे यह प्रार्थना है कि इस कानून को मंसूख कराने का पूरा आन्दोलन करें। केवल विधवा विवाह को बुरा कहकर घर में सो रहने से काम नहीं चलेगा। विधवा विवाह से बुरा सधवा विवाह है।"[12] सधवा विवाह में जितनी समस्याएँ हैं उतनी अन्य किसी में नहीं। स्त्री के विवाहित होने पर उसके पैर के नाखुन से लगाकर सिर तक प्रत्येक अंगों में पति के नाम के आभूषण होते हैं। इन आभूषणों की पहचान पति में की जाती है। विधवा होने पर इन्हीं आभूषणों को उनसे दूर कर दिया जाता है। कैसी विडंबना है शरीर स्त्री का पर उसके अंगों पर पहनने वाले आभूषणों पर नाम पति का है।

प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं की ओर ध्यान दिया जाए तो उनमें अधिकांश स्त्रियों को ही अपने कर्तव्यों एवं नियम–कायदों का निर्देशन किया गया है। विवाहित स्त्री के साथ अन्याय होता है तब भी पुरुषों की ओर न्याय की माँग करते हुए दर्शाया गया है। वर्तमान में इसमें परिवर्तन आया है। अब स्त्री अपनी इज्जत, सम्मान, अस्मिता व स्वतंत्रता के लिए किसी पुरुष अवतरण का इंतजार नहीं करती। परंतु प्रारंभिक दशकों में न तो परिस्थितियाँ आज जैसी थी और न स्त्रियाँ इतनी शिक्षित व जागरूक थी। इसलिए 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका में श्रीयुत विश्वेश्वर दयाल विद्यार्थी स्त्री पर विवाह पश्चात् व पूर्व में होने वाले अन्याय पर लिखते हैं, "बहिनों उठो अपने मर्दों को रोज़ याद दिलाती रहो कि हमारी सख़्त बेइज्ज़ती हो रही है। उस बेइज्ज़ती से बचाना उन का परम धर्म है। हमको कलङ्क का टीका लगा है। उस को धोना उनका कर्तव्य है। जब कभी किसी से मिलो इस बुरी प्रथा का हाल सुना दो और उसको भी अपने घरों मे इसी प्रकार करना सिखाओ। घरों में आन्दोलन मचा दो फिर देखों कि पुरुषगण कैसे अपनी बहिनों की बेइज्ज़ती देखेंगे कब तक उनको अपने देश की नीच दशा का एहसास न होगा।"[13]

विदेशों में युवतियाँ बिन ब्याही माँ बन जाती है। वहाँ की युवतियों को अपना फैसला लेने का हक है, पर भारतीय परिवेश और संस्कृति इसकी इजाजत नहीं देता है। इसलिए स्त्रियों के संस्कार, उनकी शिक्षा–दीक्षा सब दूसरे ढंग से की जाती है जिसमें वे अपनी मर्यादा में बनी रहे। विवाह से पूर्व भारतीय स्त्री को किसी अन्य पुरुष के साथ संबंध बनाने की इजाजत नहीं है। विवाह पश्चात् ही वह अपने पति के साथ शारीरिक संबंध बना सकती

है। प्रारंभिक दशकों की पत्रिका 'स्त्रीदर्पण' में 'बिन ब्याही माता' लेख में स्त्री को भारतीय संस्कृति के ढांचे के अनुकूल माना है। उसे यही सुझाव दिया जाता है कि वह संस्कृति का पालन करते हुए, अपनी मर्यादा में रहते हुए, पतिव्रत धर्म को निभाते हुए देवी बनी रहे। इस लेख में इस बात से साफ इंकार किया गया है, कि विवाह पूर्व संबंध बनाने वाली या विवाह पूर्व बच्चा पैदा करने वाली स्त्रियों के प्रति भारतवर्ष में कोई सहानुभूति नहीं रखता है। विवाह पूर्व कुंवारी लड़कियों द्वारा बच्चा पैदा करने को लेखक व्यभिचार का नाम देते हैं।

विधवा विवाह पर भी प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में ठोस तथ्यात्मक विचारों के दर्शन का अभाव मिलता है। विधवा विवाह को पाप समझा जाता है तथा विधवा स्त्री को सधवा स्त्री की तरह जीने का कोई हक नहीं समझा जाता था। तरूणी विधवा स्त्री की स्थिति तो ओर जटिल थी। स्त्रियों को शिक्षा से वंचित रखा जाता था, आर्थिक स्वावलंबन के रास्ते उनके लिए बंद थे इसलिए उनके समक्ष अपनी पूरी जिंदगी के निर्वाह का प्रश्न खड़ा हो उठता है। विधवा स्त्रियों को अपने जीवन के निर्णयों के लिए दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता था। जीवन में उसके पति के मरने के बाद विधवा स्त्रियों के जीवन में कोई रंग नहीं रह जाता है। वह किसी चीज की माँग भी करती हैं तो उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है। यह स्थिति वर्तमान में भी बनी हुई है। विधवा विवाह में परिवर्तन तो आया है परंतु समाज की संकीर्ण मानसिकता को पूर्णतः बदलने में समय लगता है। आर्थिक रूप से निर्बल होने के कारण कुछ अशिक्षित विधवाएँ कुमार्ग में जाने के लिए अभिशप्त होती है। विधवाओं के लिए सामाजिक नियम–कानून तो बना दिए गए परंतु उनकी रक्षा व भरण–पोषण का प्रबंध नहीं किया गया। 'स्त्रीदर्पण' अप्रैल 1919 के अंक में 'विधवाओं का विवाह' लेख में लिखा है कि–"जहाँ संसार को धर्म–विरुद्ध शिक्षा ही दी जाया करती है, कुछ अभागिनों का सच्चे मार्ग से उचट जाना कुछ असम्भव नहीं।... असल में सरकारी कानून ने जैसे एक और निर्दयता से नारीवध रूपी पाप की जड़ उखाड़ कर फेंक दी, वैसे ही साथ–साथ उन्हीं बचायी हुई नारियों के लिए लालच और पाप का रास्ता खोल दिया। इसलिए अन्यान्य बातों में देश की उन्नति के साथ–साथ जो विधवाएँ चाहें उनका विवाह करा देना ठीक समझा जाने लगा है। परंतु देखा जाता है कि अभी तक सभी लोग बाल–विधवा मात्र के हितैषी बनना चाहते हैं। तरूणी विधवाओं का विवाह क्यों नहीं होना चाहिए, उनको मनमाना गुप्त पाप करने का अधिकार क्यों नहीं देना चाहिए, इस बात के कारण कोई महाशय नहीं दिखाते। यदि विधवाओं का

विवाह करा देना ही उचित समझा जावें तो सभी अवस्था की विधवाओं का विवाह करवा देने में बाधा न रहनी चाहिए।"[14]

विधवा सहित संसार की सबसे अभागी स्त्री समझी जाती थी। उसे अपशकुनी मानकर मांगलिक कार्यों में उसकी उपस्थिति को स्वीकार नहीं किया जाता है। अबोध बालिका के पति की मृत्यु पर उसे दोषी ठहराया जाता है। पति की मृत्यु पर समस्त प्रायश्चित उसी से करवाये जाते थे। विधवा स्त्री के रहने का स्थान घर के करीब बनाया जाता था उसमें सांसारिक वस्तुओं का अभाव होता था बस खाने–पीने के दो–तीन बर्तन व बेरंग कपड़े होते थे। विधवा स्त्री से यह उपेक्षा की जाती है कि वो अपना समय केवल पूजा पाठ में व्यतीत करें। जन्म भर उसे मानसिक यातनाएँ दी जाती है और उससे आशा की जाती है, कि वह इस पर तनिक भी संकोच न करे। जो स्त्री जितनी शक्ति से इन सब सामाजिक वर्जनाओं को सहती रहती है वह उतनी ही महान या देवी के रूप में समझी जाने लगती थी। अपनी स्थिति पर मुँह खोलने वाली विधवा को कलंक डूबो देने वाली समझा जाता था। 'एक अजीब उद्धार' लेख में 'एक सनातनी कश्मीरी' नामक लेखक ने विधवा स्त्रियों के प्रति चिंता व्यक्त की है। वे विधवा स्त्री पर होने वाले अत्याचार को हिंदू जाति के विनाश का सूचक मानते हैं। अबोध बालिका के पति के मर जाने पर उस बालिका को दोष देने के बजाए उनके माता–पिता को दोषी मानते हैं। सभ्यता, संस्कृति के नाम पर सुधारवादी नारे लगाने वालों एवं भारतीय नवयुवकों को संबोधित करते हुए वे लिखते हैं, "यों तो सभी तरह के सुधार होने आवश्यक है, परंतु उनमें विधवा के पुनर्विवाह का प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यह एक बड़े मार्के का परिवर्तन होगा इसके लिए बड़े साहस और आत्मत्याग की आवश्यकता होगी। सामाजिक परिवर्तन सहज ही में नहीं हो जाया करते। और एक सामाजिक ही क्यों, किसी तरह का भी परिवर्तन क्यों न हो, पहले पहल उसमें बड़ी–बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता हैं। परन्तु परिवर्तन जब एक बार हो गया तब उसे कौन रोक सकता है?"[15]

विशेष विवाह अधिनियम (स्पेशल मैरेज एक्ट) 1872 को बनाया गया। इसमें विवाह के धार्मिक व जातीय नियमों की बंदिशों पर से रोक हटा दी गई, बहुविवाह पर पाबंदी लगाई गई, तलाक को कानून का दर्जा दिया गया। 1911 तक यह कानून सभी हिंदुओं पर लागू हो गया। परंतु यह सब होने के बाद भी समाज में अंतर्जातीय विवाह को स्वीकार नहीं किया

गया। इसके पीछे यह तर्क दिया गया कि एक बीज समाज के स्त्री पुरुष से अगर कोई सवर्ण ब्राह्मण हिन्दू शादी करता है तो उनका रक्त प्रदूषित हो जायेगा व उनकी पवित्रता खंडित हो जायेगी। अंतर्जातीय विवाह का उनके भीतर खौफ पैदा हो गया। वे बनी–बनाई परंपराओं के टूटने से आतंकित होने लगे थे। अंतर्जातीय विवाह धर्म व जाति के संपूर्ण किलों को ध्वस्त करने वाला वह शस्त्र था जिसकी तेजधार का पता उन्हें वार से पहले ही चल गया था। इसे होने से रोकने के लिए कई सुधारवादी आंदोलन व सम्मेलन किये गए। उन्हें हिंदू जाति की पहचान के मिट जाने का, भेदभाव के समाप्त हो जाने का भय था। आर्य समाज की शाखाओं ने इसका सार्वजनिक विरोध किया–"यह कहा गया कि हर हिन्दू जाति और समुदाय में पर्याप्त संख्या में मर्द और औरत हैं, इसलिए उनके एक–दूसरे के बीच विवाह की कोई ज़रूरत नहीं है। यह भी कहा गया कि ऐसे अन्तर्जातीय विवाहों से हिन्दू नस्ल को न तो सुधारा जा सकता है और न ही हिन्दू राष्ट्र को मजबूत और पुरुषत्त्वपूर्ण बनाया जा सकता है। ऐसे विवाह से कमज़ोर और कमतर बच्चे पैदा होंगे और यह हिन्दुत्व के लिए घातक होगा।"[16]

अंतर्जातीय विवाह पर बनाया गया पटेल बिल भी अपनी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति रखता है। 'पटेल बिल' में एक जाति से दूसरी जाति में हुए विवाह को पुराणों के उदाहरणार्थ सिद्ध करने की कोशिश की गई है। पटेल बिल का विरोध शङ्कराचार्य महाराज ने भी किया था। उनका कहना था अगर बिल पास हो गया तो वे इसके विरुद्ध सत्याग्रह करेंगे। पटेल बिल बनने से पहले ही विरोधियों के स्वर एक साथ गूंजने लगे परंतु उन्हें पटेल बिल की अच्छाई नजर नहीं आयी।

विवाह के पश्चात् स्त्री के लिए पर्दा–प्रथा की व्यवस्था की गई है। पर्दा–प्रथा के अनुसार विवाहित स्त्री का चेहरा उसके भाई, पिता व पति व पुत्र के अलावा कोई अन्य न देखें। स्त्रियों के मानसिक व नैतिक विकास में पर्दे की महत्त्वपूर्ण भूमिका समझी जाती है। मुसलमान समाज में पर्दा प्रथा को और अधिक तटस्थता से पूरा किया जाता है। पर्दा प्रथा का पालन करने वाली स्त्री का चेहरा अगर कोई देख लेता है तो उसे बुरा माना जाता था। पर्दा प्रथा स्त्री की रक्षा के लिए बनाया गया वैवाहिक नियम था जो धीरे–धीरे इतना जटिल

होता गया की वह उसकी पहचान पर भारी पड़ने लगा। पर्दा प्रथा वर्तमान में भी गाँव, देहातों में जारी है।

विवाह के पश्चात् स्त्री पुरुष में की जाने वाली असमानता भी वैवाहिक नियमों की श्रेणी में आता है। विवाह के बाद स्त्री के साथ पुरुष की दासी के रूप में व्यवहार किया जाता है। स्त्री के चाहे–अनचाहे पुरुष उस पर अपना अधिकार थोपता रहता है। स्त्री बिना पूछे कहीं आ जा नहीं सकती थी इसके लिए उसे अपने पति की स्वीकृति आवश्यक थी। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका की चूँकि संपादिका 'श्रीमती रामेश्वरी नेहरू' अपने संपादकीय में 'विवाह के नियम' में रूस में लेनिन द्वारा प्रत्येक मनुष्य की बराबरी का जिक्र किया है। उनका मानना है अपने स्वार्थ के चलते कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपना दास नहीं बना सकता। प्रत्येक स्त्री पुरुष की अपनी अस्मिता व स्वतंत्रता है। इस संदर्भ में 'स्त्रीदर्पण' अगस्त 1919 में लेखिका लेनिन द्वारा समाज में किये गए वैवाहिक नियमों के विषय में लिखती हैं–"कोई स्त्री या पुरुष बिन–ब्याहा नहीं रह सकता। जब स्त्री 18 वर्ष की हो और पुरुष 20 का, उसको अपना नाम एक सरकारी रजिस्टर में लिखना पड़ता है और छह महिने में विवाह करना पड़ता है। यदि वह ऐसा न करे तो उनको 3 बार नोटिस दिया जाता है, और फिर ज़बरदस्ती की जाती है। यदि कोई स्त्री अथवा पुरुष बीमार हो, या अंगहीन हो तो क्षमा मिलती है। जब स्त्री और पति में न बने तो उनको अलग होने का अधिकार है। परंतु इस दशा में उनको फिर अपना नाम उसी कारेपन वाले रजिस्टर पर लिखना होता है और छह महिने में फिर विवाह करना पड़ता है। यदि बच्चे हो तो जो माता या पिता उनको लेना चाहे उसे दे दिये जाते हैं, या दोनों में बंट जाते हैं। जब कोई स्त्री या पुरुष अपने वास्ते जोड़ा ढूँढता हो, तो उसको वह अफ़सर जिसके पास रजिस्टर रहता है, सहायता देता है।"[17]

स्त्री विवाह के संबंध व उसके अधिकारों के प्रति श्रीमान् कन्नोमल, एम.ए. ने बहुत आधुनिक विचारधारा 20वीं सदी के प्रारंभिक दशकों में व्यक्त की थी। उन्होंने सोलह बिंदुओं में स्त्री सुधार की सभी बातों को समाहित कर लिया। उनके विचार प्रशंसनीय हैं परंतु उस समय में यह एक पाश्चात्य दृष्टि मानी जाती थी। कन्नोमन एम.ए. के विचारों को पाश्चात्य शिक्षा–प्रेमी के विचार कहकर मुकुन्दीलाल, बी.ए. (औक्सन, बार–एट लॉ) लिखते हैं कि "क्या इन उपायों से हिन्दू जातीयता का अंश रह सकता है? कदापि नहीं। पहले तो ये उपाय

असाध्य है; दूसरे ये ऐसे हैं जिनके प्रयोग से हिन्दू समाज की धर्म और मान मर्यादाओं पर धब्बा लगता है। जिन नियमों पर हिन्दू समाज का संगठन हुआ है, उनके तो ये सर्वथा ही प्रतिकूल हैं।"[18] कन्नोमल जी ने स्त्रियों के लिए अंग्रेजी शिक्षा पाश्चात्य रहन–सहन, पसंदीदा विवाह, पुनर्विवाह, स्वच्छंद भ्रमण स्त्री–पुरुष समानता, आर्थिक सबलता के लिए नौकरी जैसे नियमों को उचित माना है। परंतु उस समय के अनुसार इसे उचित नहीं माना जाता था। समय के साथ जो थोड़ा–बहुत परिवर्तन हुआ वह सबके सामने हैं।

4.3 वैवाहिक प्रथाएँ

स्त्री–पुरुष अपना जीवन एक–दूसरे को भेंट करके विवाह बंधन में बँधते हैं। विवाह स्त्री–पुरुष संबंध से आरंभ होकर कई सीमाएँ पार करता हुआ अपने चरम तक पहुँचता है। स्त्री–पुरुष के वैवाहिक काल में ऐसी कई प्रथाएँ हैं, जो उनके एवं समाज के लिए काफी महत्त्वपूर्ण होती है। संसार की प्रत्येक जाति, समाज की अपनी वैवाहिक प्रथाएँ हैं इन प्रथाओं के आधार पर ही उनके समाज की पहचान होती है। अफ्रीका, अमेरिका, साइबेरिया, मलेशिया, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड देश की अपनी प्रथाएँ हैं। भारत में कश्मीर, तिब्बत, नेपाल और भूटान की तराइयों में अपनी अलग प्रथाएँ हैं।

'सरस्वती' जनवरी 1914 के अंक में 'विचित्र वैवाहिक प्रथायें' शीर्षक से सत्यशोधक 'मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट' सहायता से विवाह–प्रथाओं के विषय में लिखते हैं "दक्षिण की दस–पाँच असभ्य जातियों में तो विवाह का प्रचार है ही नहीं। चाहे जिस स्त्री का चाहे जितने समय के लिए, चाहे जिस पुरुष से सम्बन्ध हो जाता है। इरूला और करम्बा नाम की जातियाँ ऐसी ही है। समाज की यह बहुत ही पहले की अवस्था का चित्र हैं। इसी प्रथा का प्रतिबन्ध होते होते सभ्य वैवाहिक प्रथाओं का विकास हुआ है। द्रविड़ देश, काश्मीर, पंजाब, बरार, मध्य–प्रदेश और संयुक्त–प्रदेश की कुछ नीच जातियाँ विवाह की रस्म को तो मानने लगी है; पर विवाह के पूर्व उनकी लड़कियों को, अपनी ही जाति में स्वेच्छाचार की पूर्ण स्वतंत्रता है। विवाह के पश्चात् भी यह स्वतंत्रता रहती है; पर कुछ कम। युक्त प्रदेश के घासिये और मदराम के मदुवर लोग कुछ दिन के लिए और आसाम के गारों नामक जंगली कुछ त्यौहारों में, ऐसी स्वतंत्रता अपनी स्त्रियों और लड़कियों को खुशी से देते हैं।"[19]

पूर्व समय में स्त्री–पुरुष के मध्य ऊँच–नीच या बलहीन या बलशाली दासत्व या असमानता जैसी कोई बात नहीं थी। जो अधिकार पुरुष को प्राप्त थे वही अधिकार स्त्री को भी प्राप्त थे। यदि पुरुष कई स्त्रियों के साथ शारीरिक संबंध बनाता था तो स्त्री भी इसके लिए स्वतंत्र थी। स्त्री पर सामाजिक मर्यादा का कोई पहरा नहीं था। आसाम आदि क्षेत्रों में मातृसत्तात्मक समाज है। वहाँ विवाह की प्रथा अनुसार शादी के बाद कन्या अपने माता–पिता के ही घर में रहती है। पति को कभी–कभी वहाँ आकर रहने की इजाजत होती है। कुछ जातियाँ बच्चे हो जाने पर उन्हें साथ रहने के लिए स्वतंत्र कर देती है। सन्तान माँ के गोत्र की समझी जाती है परंतु पिता की जायदाद पर पुत्र का ही अधिकार समझा जाता है। कहीं–कहीं जातियों में विवाह एक स्त्री या एक पुरुष से न होकर बहुविवाह व बहुकालिक होते हैं। जैसे कि "परिवारन और तोतियन आदि जंगली जातियों में विवाह बहुकालिक होता है, पर स्वेच्छाचार या व्यभिचार की मनाई नहीं। विवाह–विच्छेद आसानी से हो जाता है। पंजाबी पहाड़ियों की कुलू आदि जातियों में, सोंतालों में नीलगिरि के टोड़ा और कुरम्ब आदि में, कोचीन के दज़वनों और कनयनों में कई भाइयों की एक ही स्त्री होती है। कहीं–कहीं सब भाई विवाह की रस्म में शरीक होते हैं। पर वधू के साथ बहुधा बड़े भाई का ही विवाह होता है। कुछ जातियों में तो बहुत प्राचीन समय में कोई भी दस पाँच मनुष्य मिलकर एक स्त्री रखते थे। वह प्रथा जब बन्द हुई तब कई भाई मिल कर एक स्त्री रखने लगे। उसी का प्रचार अब तक कहीं–कहीं बना हुआ है।"[20] सभ्यता बदलने के साथ ही लोगों के भाव बदलने लगे और उन्होंने स्त्री पर बंदिशे लगाना शुरू किया। उन्हें लगने लगा कि एक स्त्री के अनेक पति होना सामाजिक दृष्टि से ठीक नहीं है इसलिए स्त्री के लिए बहुपति चुनाव की प्रथा समाप्त हो गई परंतु पुरुषों द्वारा अनेक पत्नियाँ रखने का यह सिलसिला निर्धनता व शिक्षा प्रचार ने 19वीं सदी तक आते आते कम कर दिया। वर्तमान में हिंदुओं व मुसलमानों में यह प्रथा कहीं–कहीं देखी जाती है। मुसलमान समाज में एक पुरुष चार स्त्रियाँ रख सकता है।

पश्चिमी संस्कृति में बाल–विवाह नहीं होता है। पश्चिमी लोगों में लड़का–लड़की के सामने विवाह का प्रस्ताव रखता है। परंतु अगर लड़की किसी उच्च घराने की हो तो वह नियम बदल दिया जाता है। उस समय लड़की लड़के के सामने विवाह का प्रस्ताव रखती है अगर लड़का हाँ करता तो उसे अपना साम्राज्य छोड़कर लड़की के साथ उसके साम्राज्य में

रहना पड़ता है। परंतु कहीं कहीं राजनैतिक कारणों से इस प्रथा में परिवर्तन कर दिया जाता है। पश्चिमी देश के महारानी व उसके पति की इच्छा थी कि "पुत्र तथा कन्या का विवाह ऐसे स्थान पर और ऐसे स्त्री तथा पुरुष के साथ हो जिनमें परस्पर प्रीति हो और जिसमें दोनों सुखपूर्वक अपना जीवन बिता सकें। योरप में यद्यपि सामाजिक नियम यह है कि स्त्री पुरुष, पति पत्नी को अपनी इच्छा के विरोध नहीं करते, पर राजघरानों में प्रायः इस सामाजिक नियम का पालन राजनैतिक कारणों से नहीं हो सकता। इस अवस्था के रहने पर भी महाराणी का उद्योग सदा यही रहता था कि पुत्र और पुत्री सम्बन्ध करके सुखी रहें।"[21]

भारत की कई आदिवासी जातियों में विवाह की अनेक विचित्र प्रथाएँ मिलती है। इन प्रथाओं का पालन व रक्षा वह अपनी जान से भी ज्यादा करते हैं। जो व्यक्ति विवाह के बाद इन प्रथाओं का पालन नहीं करता है वह दण्ड का भागीदार समझा जाता है। गोंड, भील, संथाल जाति के लोगों में एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ विवाह कर सकता है तथा एक स्त्री भी एक साथ कई पति कर सकती थी। पतियों को अपना घर छोड़कर स्त्री के घर आकर रहना पड़ता था।

'कुकी' जाति के लोगों में नरहत्या को उनके समाज की सबसे बड़ी प्रथा मानी जाती थी। कुकी जाति के लोग स्त्री को प्रधान मानकर चलते हैं। इस जाति में विवाहित व सन्तान युक्त युगल की काफी इज्जत होती है। विवाह के पश्चात् संतान का नाम उनके ही परिवार के किसी वृद्ध के नाम पर रखा जाता था। संतान के बाद पिता 'पुत्र' से पहचाना जाता है। इनके विवाह की प्रथा भी विचित्र है। इनमें "अविवाहित मनुष्य का कोई आदर नहीं होता। विवाह होने के पहिले वर को कन्या के घर तीन वर्ष तक रह कर दास की भांति काम करना पड़ता है, तब कहीं उसका विवाह होता है। परंतु तब भी वह स्वतंत्रता नहीं पाता। विवाह होने के पीछे भी उसे पांच सात महीने तक उसी भांति दासत्व दशा में रहना पड़ता है। पांच वर्ष पूरा होने पर वह अपना घर अलग बना कर उसमें स्वतंत्रतापूर्वक रह पाता है। जाते समय उसे अपने श्वसुर को दो रुपये देने पड़ते हैं। जो लोग इस भांति दास की नाई काम करना नहीं चाहते, उन्हें इससे छुटकारा पाने के लिए दो या इससे अधिक रुपये देने पड़ते हैं।"[22]

'अरलेङ्ग' जाति के लोगों में भी इसी तरह की प्रथा प्रचलित है। अरलेङ्ग जाति में विवाह बालिग युवक–युवतियों में होता है। विवाह से पूर्व वर को दो वर्ष के लिए कन्या के

यहाँ दास की भाँति सेवा करनी पड़ती है। विवाह के समय एक मुर्गे का बलिदान दिया जाता है जिसे सिर्फ वर–वधू को ही खाना होता है।

'आओ' जाति में विवाह स्त्री–पुरुष की सहमति से होता है। चिनंगों जाति में कन्या के पिता को कोई उपहार देकर विवाह की रीति संपन्न कराई जाती थी। मोंग सेन जाति में विवाह होने के 20 दिन पूर्व वर और कन्या अकेले यात्रा के लिए निकल पड़ते थे। विवाह के अवसर पर बैल काट कर उसका भोज सभी को करवाया जाता था। उनके त्यौहारों के समय स्त्री और पुरुष के विवाह निश्चित किये जाते थे। "इन लोगों में 'पहिले कन्या' को कहीं से हर लाकर विवाह करने की प्रथा थी। यह तेवहार अगस्त मास में तीन दिन तक होता है। इसमें लताओं का एक रस्सा बनाया जाता है, जिसके एक सिरे को गाँव के युवा लोग अपनी ओर खींचते है और दूसरे को युवतियाँ अपनी ओर। युवतियाँ रस्से को गाँव के बाहर ले जाने का यत्न करती है और युवा लोग यह यत्न करते हैं कि ऐसा न होने पावे अंधेरा होने पर भिन्न–भिन्न दल की लड़कियाँ अपनी अपनी भूमि पर रासमण्डल बना कर नाचती और गाती हैं। युवा लोग हाथ में बत्ती लेकर दूसरे दल की लड़कियों के पास जाकर तथा उनमें से एक को चुन कर उसे बलात् उठा ले जाते है। जो लड़कियाँ इस भांति ले जाई जाती हैं उन्हें उस युवक को जो उसे ले आया हो, खड़े होकर शराब पिलाना पड़ता है।"[23]

'मेंराडे' अथवा 'गरो' जाति के विवाह 'कुकी' जाति से ही मिलता–जुलता होता है। इसमें भी स्त्री को प्रधान माना जाता है। इन जातियों में विवाह का प्रस्ताव कन्या करती है। वह लड़की के घर जाकर रहता है। पति अगर अपनी पत्नी को छोड़ना चाहे तो वह ऐसा नहीं कर सकता परंतु पत्नी ऐसा कर सकती थी। पत्नी के ऐसा करने पर वह पहले पति की संपत्ति व उसकी संतान को भी अपने साथ ले जाती थी। इनकी जाति के सरदार की मृत्यु पर उसकी विधवा को अपनी ननद के लड़कों में से किसी का चयन कर लेने का अधिकार होता था पति का चुनाव उत्तम घराने से संबंधित होना चाहिए था।

'क्योन–स्मू वा लोहटा' व 'सूमा' जाति के लोगों में लड़की का विवाह छोटी उम्र में हो जाता है। विवाह के लिए लड़कियों को सौ रुपये से लेकर अस्सी रुपये तक में खरीदा जाता है। सूमा जाति में कुंआरी लड़कियाँ व लड़के अपने माता–पिता से अलग दूसरे घर में सोते हैं।

'जेमा' जाति के लोगों में पहले स्त्री प्रधान मानी जाती थी परंतु धीरे–धीरे इसका चलन बंद हो गया। विवाह के समय वर को कन्या के घर कई रात्रि व्यतीत करनी होती थी। वधू के पिता को वर द्वारा द्रव्य उपहार में दिया जाता था। उनकी होने वाली संतान का नाम जाति के अन्य वृद्ध लोग रखते है। स्त्री विवाह पूर्व केश कटवाती है और कौड़ी, पीतल, सीसे और चाँदी के जेवर पहनती है। परंतु विवाह पश्चात् वह केश बढ़ाना शुरू करती है अर्थात् केश नहीं कटवाती है और अपने जेवर अन्य अविवाहिता को दे देती है।

असम की पहाड़ी हिस्से में रहने वाले नागा लोग के लड़के लड़कियों का विवाह उनके वृद्ध तय करते हैं इसमें लड़की की सहमति पूछी जाती है। यदि लड़की सजी हुई तो लड़के वाले को, कीमत के तौर पर, दो भैंस, दो बल्लम, दो दाँव, दो थालियाँ, दो कपड़े, दो काँच की मालायें, दो पीतल के कड़े, दो पीतल के बाजूबंद और दो फावड़े देने पड़ते हैं। लड़की के माँ–बाप लड़की को लड़के वाले के घर ले जाते हैं। उसके जाने पर दरवाज़े के अंदर एक थाली रक्खी जाती है। लड़की थाली में एक पाँव रख कर लड़के की बाई तरफ बैठती है। एक नागा–पण्डित एक मुरगी लेकर उससे शकुन देखता है। गला दबा कर वह मुरगी को मारता है। मरने के बाद यदि मुरगी के पैर अलग–अलग हों तो यह समझा जाता है कि शादी से सुख न होगा। यदि दाहिना पैर बायें के ऊपर हो तो पहले पहल लड़का पैदा होगा। यदि बायाँ दाहने के ऊपर हो तो लड़की।"[24]

मध्य प्रदेश की माड़िये और मुरिया जाति के विवाह की प्रथा बिल्कुल अलग है। इसमें लड़के को अगर लड़की पसंद है तो वह रात में उसके पास जाता है। जाति के अन्य लोगों द्वारा जब यह बात कन्या के माँ–बाप को बतायी जाती है अगर वे इससे राजी हुए तो विवाह हो जाता है नहीं तो वर और कन्या घर से भाग कर विवाह कर लेते हैं फिर कुछ समय पुनः अपने गाँव लौट आते हैं। इससे भिन्न इनकी एक अन्य प्रथा भी है। जो कि इस प्रकार है–"जब लड़की मांगने के लिए मुरिये या माड़िये लोग जाते हैं तब कांसे का एक सींग और कांसे ही की एक अँगूठी लड़की वाले को देने के लिए ले जाते हैं। लड़की वाले के घर में जाकर ये दो चीज़े उसके सामने रख देते हैं और अपना मतलब कह देते हैं। यदि लड़कों वाले को अपनी लड़की देना मंजूर होता है तो वह उन दो चीज़ों को रख देता है और उनके

बदले लड़की मांगने वाला को दो सेर चावल और एक मुर्गा दे देता है। इससे लड़की मांगने वालों को मालूम हो जाता है कि उसे लड़की देना मंजूर है।"[25]

नयादी अर्थात् श्वानभक्षी मनुष्य जो कि भारत के पश्चिमी प्रान्त है, उसके विषय में 'सरस्वती' पत्रिका में लिखा है कि इनका कोई धर्म नहीं होता न ही मूर्ति पूजा में विश्वास करते हैं। लड़की का विवाह सोलह वर्ष की आयु में किया जाता है। लड़की के विवाह के समय लड़की का बाप जाति के सरदार से सलाह करके विवाह का दिन निर्धारित करता है। विवाह के दिन "जाति के कुल कुँवारे लड़के बुलाये जाते हैं। लड़के लोग जब आ जाते हैं तब लड़की को एक घर में बंद कर देते हैं। उस घर की दीवार में बहुत से छेद बने रहते हैं जिनसे कुँवारे लड़के अपनी छड़ी एक ही साथ घर के भीतर डालते हैं। बाहर से सरदार लड़की से एक छड़ी चुन लेने के लिए कहता है। जिस लड़के की छड़ी चुनी जाती है वही उसका पति होता है।"[26] दक्षिण दस–पाँच असभ्य जातियों में विवाह का प्रचलन भी नहीं है। स्त्री–पुरुष दोनों इस मामले में स्वतंत्र रहते हैं। इरूला व करम्बा नाम की जातियों में ऐसा होता था। धीरे–धीरे प्रथा पर प्रतिबंध लगा नवीन प्रणालियों या प्रथाओं का जन्म हुआ।

'स्त्रीदर्पण' पत्रिका में यूरोप में विवाह के बाद होने वाले तलाक की चर्चा की गई है। श्रीयुत विश्वेश्वर दयाल विद्यार्थी का मानना है कि तलाक के कारण दांपत्य सुख के स्थान पर दुःख पैदा करता है। वे भारतीय संस्कृति में एक पति को अपना सर्वस्व मानकर उसके साथ जीवन व्यतीत करने वाली प्रथा को अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। पुनर्विवाह को वे स्त्री का निकृष्ट व्यवहार कहते हैं।

विवाह के बाद पर्दा प्रथा का भी प्रचलन है। इस प्रथा के विषय में 'मर्यादा' अगस्त 1915 के अंक में 'हिन्दू समाज की कुदशा पर एक दृष्टि' शीर्षक पर विश्वेश्वर दयाल विद्यार्थी का कहना है कि "पत्नी शब्द के वास्तविक अर्थ को हमने समझा ही नहीं है, परदे का रिवाज इतने अनुचित रूप में बढ़ गया है कि पति पत्नी आपस में सबके सामने बाते करें तो यह बेहयाई की आखिरी हद मानी जाती है। उनकी बिमारी की दशा में यदि उनका पति परिचर्या में शामिल होता है तो बिकट उपहासपात्र बनता है। उनको बुलाने के लिए एक विचित्र रूप से पुकारा जाता है न कोई नाम है, न कोई अन्य विशेषण प्रयोग किया जाता है।"[27]

विवाह एक सुलझे हुए धागे के समान है परंतु जटिल प्रथाएँ उन्हें उलझा देती है। इन प्रथाओं के कारण मनुष्य बँधा–बँधा सा अनुभव करता है। हालांकि विवाह के कुछ नियम, कायदे–कानून या प्रथाएँ वैवाहिक जोड़े की भलाई के लिए बनाए जाते हैं परंतु धीरे–धीरे उनमें अन्य परंपराओं व मर्यादाओं का जाल ऐसा बनता है कि जो स्त्री या पुरुष के वैवाहिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है।

4.4 पितृसत्ता, विवाह और स्त्री समाज

भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज है। पूर्व में मातृसत्ता के प्रमाण मिलते है परंतु विवाह के नियमों के पश्चात् यह सत्ता डगमगाने लगी और पितृसत्ता का बोलबाला प्रारंभ हो गया। पितृसत्ता द्वारा पुरुष ने स्त्री स्वाधीनता, अस्मिता, विचार श्रम एवं संतानोत्पत्ति पर अपना अधिकार कर लिया। वैवाहिक नियम–कानून पितृसत्तात्मक रूप से तैयार किए गए हैं। विवाह में स्त्री–पुरुष दोनों होते हैं, परंतु वर्चस्व पुरुष का ही अधिक रहता है। स्त्री के लिए वर की तलाश पिता, भाई ही करते हैं माता और पुत्री का इसमें कोई स्थान नहीं होता है। जिस वर को योग्य समझा जाता है उसी के उसका विवाह निश्चित कर दिया जाता है। भारतीय समाज विवाह में जाति को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। जाति के बाद उपजाति व गोत्रों के आधार पर विवाह तय करने में भारतीय समाज की नियति शामिल है।

सर्वकाल में एक सीमा तक विवाह संस्था में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का हस्तक्षेप माना जा सकता है लेकिन विवाह के लिए सवर्ण–असवर्ण जाति जैसी कोई चीज अनिवार्य नहीं थी। भीष्म के पिता का धीवन–कन्या से विवाह, भरत की माता शकुंतला व उनके पिता का गंधर्व रीति से हुआ विवाह, स्वयंवर के आधार पर राम का चयन, द्रौपदी का क्षत्रिय वंश में विवाह आदि उदाहरण किसी भी जातिगत दबाव पर आधारित नहीं है। 19वीं शताब्दी में ही जाति बंधन व पितृसत्तावादी परंपराओं को तोड़ने के लिए पटेल बिल सामने आया। पटेल बिल अंतर्जातीय विवाह को बढ़ावा देने के लिए पास किया गया। परंतु समाज में इसका काफी विरोध किया गया। इस विरोध के पीछे वर्णव्यवस्था पर आधारित मानसिकता काम कर रही होती है। इस मानसिक प्रवृत्ति से लिप्त व्यक्तियों को भय होता है कि इस प्रकार के विवाह से संस्कृति का पतन हो जाएगा परंतु क्या भारतीय संस्कृति का पतन पितृसत्ता के कारण नहीं हो रहा है? 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका मई–जून 1919 के अंक में 'असवर्ण विवाह' नामक

लेख में श्रीमती सुभद्रा देवी लिखती हैं कि ''सर्वकाल में ऐसे कई उदाहरणों के होते हुए भी पता नहीं कि पटेल महाशय के बिल को क्यों आश्चर्यमय तथा हिन्दू धर्म के विरुद्ध दृष्टि से देखा जाता है? क्यों भारत सन्तान इसे धर्म के विरुद्ध समझती है जबकि चार वर्णों की तो क्या कहिए, एक एक जाति के ही सैकड़ों टुकड़े हो रहे हें, हजारों किस्म की जातियाँ बन रही हैं। सवर्ण वैश्य को, क्षत्रिय क्षत्रिय को, ब्राह्मण ब्राह्मण को, इतनी घृणा की दृष्टि से देखता है कि शादी विवाह तो दूर रहे, हाथ से स्पर्श किया हुआ खाने तक में कठिन परहेज है। ऐसे अन्धविश्वासी धर्मधारियों को यदि एकता–विरोधी न कहा जावे तो और क्या कहा जावे? यदि प्राचीन इतिहास में कोई दृष्टांत ऐसा न भी होता, शास्त्रीय प्रमाणों से कोई बात सिद्ध न भी हो सकती तब क्या यह कहा जा सकता है कि जब जिस काल में जिस कार्य की आवश्यकता न थीं, या जब उपयुक्त न समझा जाता हो तो आज भी वह अनावश्यक और अहित कर रही है।''[28]

विवाह में लड़का व लड़की दोनों के ही मत अनिवार्य नहीं समझे जाते हैं। विवाह के समय लड़के व लड़की के पिता ही विवाह के सभी रीति–रिवाज निभाते हैं। इसमें विवाह रखना है या तोड़ना, विवाह निश्चित करने की दिनाँक, यहाँ तक कि वर के लिए वधू व वधू के लिए वर पसंद करने का अधिकार भी पिता को ही प्राप्त होता है। ऐसा लगता है मानो विवाह वधू–वर के जीवन–भर के साथ नहीं, बल्कि वधू–वर के चिर–परिचितों के जीवन भर का साथ निभाने के लिए तय किया गया हो! अर्थात विवाह वर–वधू के लिए जीवन–भर का साथ है परंतु भारतीय समाज में लड़के व लड़की की मर्जी को नजरअंदाज करते हुए विवाह तय किए जाते हैं। विवाह स्त्री–पुरुष के संपूर्ण व्यक्तित्व से जुड़ा होता है लेकिन भारतीय विवाह पद्धति में लड़का व लड़की के स्थान पर पितृसत्ता ही दृष्टिगत होती है। यह प्रत्येक स्त्री–पुरुष के अस्तित्व अथवा व्यक्तित्व निर्माण के लिए सबसे अधिक घातक है। 'प्रभा' सितंबर 1913 के अंक में 'सुधार–विचार' के माध्यम से एक सुधार–प्रिय ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर व्यंग्यात्मक प्रहार करते हुए लिखा गया है–''गुड़ियों के विवाह के समान, विवाह करने के पक्षपातियों से देश भरा पड़ा है। बिचारा 'वर' उस अवस्था में जबकि उसका विवाह किया जाता है, यह जानता ही नहीं कि यह सब पाखण्ड क्यों हो रहा है! वह तो उस दशा में अनजान बालक होने के कारण, माता–पिता की इच्छा के अनुकूल ही–फिर चाहे वह इच्छा पापों से परिपूर्ण, गन्दे विचारों से भरी हुई और नीचता का शुद्ध स्वरूप ही क्यों न हो–चलने

वाला रहता है, कि 'प्रेम', 'विवाह', 'वर', 'वधू', 'पिता', 'माता', 'ससुर', 'सासु', 'हितकारी', 'अहितकारी', 'पोशक', 'नाशक', 'अनुकूल', 'प्रतिकूल', 'जीवन', 'मरण' और 'उद्धार', 'सर्वनाश' का अर्थ क्या है। जैसे बकरे–बकरियाँ निर्दयता से कसाई के हाथों बेच दिये जाते हैं, वैसे ही बालक–बालिका माता–पिताओं के द्वारा मूर्खतारूपी मौत के हाथों बेचे जा रहे हैं।''[29]

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की स्थिति दयनीय बनी हुई है। स्त्री के ऊपर नैतिकता का आवरण अनिवार्य समझा जाता है। नैतिकता के आवरण के तले स्त्री अपने वर्तमान और भविष्य का निर्माण उसी आधार पर करने लगती है। वह प्रत्येक अत्याचार को चुपचाप सहन करती है। स्त्री की मानसिकता पर मानो पितृसत्तात्मक का ताला पड़ गया हो! प्रायः पितृसत्तात्मक समाज के समक्ष घुटने टेकना, अत्याचारों को सहना उसकी आदतों में शुमार हो जाता है। कई मान्यताओं को वह बिना उस पर विचार किए सहर्ष स्वीकार करती जाती है। स्त्रियों की इस स्थिति के पीछे स्त्रियों का मात्र अशिक्षित होना है। शिक्षा के अभाव में वह समस्त अत्याचारों एवं परंपरागत मान्यताओं को विधि का विधान मान कर चलती है। वह किसी प्रकार का प्रतिरोध न कर सकें, इसका पूर्णतः ध्यान रखते हुए उन्हें उनके अधिकारों के प्रति चेतनाहीन रखा जाता है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों पर अपना वर्चस्व कायम रखने के लिए अनेक कुरीतियाँ सामाजिक विकास के साथ प्रचलित हुई। विवाह से संबंधित कुरीतियों में पर्दा प्रथा, बाल–विवाह, अनमेल विवाह प्रमुख हैं। कुरीतियों के अत्यधिक प्रचलन के कारण ही धीरे–धीरे स्त्रियों को पराधीन करने के लिए विशेष नियम कानून बने।

पितृसत्तात्मक समाज में सामाजिक मान–मर्यादाएँ स्त्रियों को स्पष्ट रूप से कुछ भी कहने और करने में अवरोध उत्पन्न करती है। यदि वह आर्थिक रूप से स्वयं को सशक्त भी बनाना चाहे तो सामाजिक–पारिवारिक मान–मर्यादाएँ उनकी अवहेलना करती है। क्योंकि समाज में स्त्री मात्र दूसरों का हित साधने के लिए ही उत्पन्न हुई है। कुछ जैविक पहचान के साथ जन्मे एक सामाजिक प्राणी को सर्वप्रथम स्त्री कहकर सामाजिक–पारिवारिक हस्तक्षेपों से अलगाया जाता है फिर यह सोच लिया जाता है कि वह पराई संपत्ति है। कभी न कभी इसे अपने माता–पिता का घर छोड़कर जाना है। पैतृक सम्पत्ति में सहभागिता कैसी? यदि कोई पिता अपनी पुत्री को उच्च शिक्षा दिलाने का पक्षपाती है इसलिए नहीं कि वह उसका व्यक्तित्व विकास करना चाहता है, बल्कि अपनी स्वार्थसिद्धि पूर्ति हेतु ऐसा करता है।

स्त्री को शिक्षा अवश्य दी जाती है परंतु वह स्वतंत्र निर्णय न ले सकें, इसका भी पूर्णतः ध्यान रखा जाता है। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह निर्मूक प्राणी की भाँति पितृसत्तात्मक समाज की आज्ञा का पालन करती रहे और किसी भी बात पर अपना अभिमत न दे।

आवश्यक नहीं है कि पितृसत्ता के वाहक मात्र पुरुष ही होते है, पितृसत्ता की वाहक स्त्री भी हो सकती है। पितृसत्ता स्त्री का सहारा लेकर समाज अपनी पैठ बनाए हुए है। स्त्री के बिना समाज में पितृसत्ता का अस्तित्व असंभव है। पितृसत्ता को बढ़ावा देने के लिए 'स्त्री' को एक औजार के रूप में प्रयोग किया जाता है। पितृसत्ता यदि सामाजिक रूप से स्थापित की गई है तो पुरुष के साथ–साथ स्त्री की भी उसमें उतनी ही भागीदारी होती है। इसे उदाहरणस्वरूप समझा जा सकता है। एक सास अपनी बहू के साथ वैसा ही व्यवहार करती है जैसा उसकी सास ने उसके साथ किया था। यह परंपरागत प्रायः चलता ही रहता है। स्त्री की पराधीनता एवं बंदिशों में उसकी 'माता' और 'सास' की वही भूमिका होती है जो किसी पुरुष की होती है।

स्त्री सुरक्षा का उत्तरदायित्व पुरुषों को दिया जाता है जैसे कि स्त्री स्वयं की रक्षा के लिए निरी पंगु हो! उसकी सुरक्षा के लिए पिता, पति और पुत्र प्रायः तत्पर रहते हैं। एक स्त्री के लिए पिता, पति और पुत्र की यह प्रक्रिया 'विवाह संस्था' के बिना अपूर्ण है। इसे सामाजिक विवशता अवश्य कहा जा सकता है क्योंकि इस संस्था के कारण कहीं न कहीं स्त्री सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से शोषित होती रही है उसे अपने निर्णय लेने की स्वतंत्रता नहीं है और न ही संतान पर उसका अधिकार माना जाता है। ऐसी व्यवस्था से प्रत्येक स्त्री स्वतंत्र होनी चाहेगी। मनु ने स्त्रियों को नियंत्रण में रखने के लिए पुरुषों को कड़े निर्देश दिए हैं, जो आज भी जनमानस में ज्यों के त्यों बने हुए हैं। भारतीय समाज में स्त्री को निचले पायदान पर रख उसे आश्रित रूप में जीने के लिए विवश किया जाता है। उसके कर्त्ता–धर्त्ता के रूप में पुरुष का चयन किया जाता है। पति के चरणों में ही स्वर्ग है अथवा पति को परमेश्वर मानकर चलने वाली सामाजिक व्यवस्था ही ऐसी भ्रांतियाँ फैलाती है।

पितृसत्ता के विरुद्ध यदि कोई आवाज भी उठाता है तो उसे सामाजिक अवहेलना का सामना करना पड़ता है। नैतिकता के आवरण के तहत कोई भी सामाजिक व्यक्ति अपनी

मानसिकता से पितृसत्तावादी नियम–कानूनों को साफ नहीं करना चाहता। समाज की मंशा सदा यही रहती है कि स्त्री विवाह के पश्चात् पुरुषवादी तौर–तरीकों से चलती रहे। परंतु जब स्त्री इन सब का विरोध करती है तब उसके परिवार व समाज के लोग ही उसके विरोधी हो जाते हैं।

विवाह के समय फिर भी पुरुषों को कुछ अधिकार प्राप्त होते हैं। स्त्रियों को सर्वथा इनसे वंचित रखा जाता है जिसका प्रभाव इनके आने वाले जीवन में पड़ता है। इनके जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि स्त्रियों क जीवन कितना पीड़ादायक होता होगा! विवाह के समय स्त्री पुरुष के समान अधिकारों और विवाह संबंधी स्वाधीनता के विषय में 'मर्यादा' पत्रिका सितंबर 1919 के अंक में लाला लाजपतराय 'भारत का सामाजिक पुनःसंगठन' शीर्षक से अपने 'स्त्री और पुरुष का संबंध' लेख में लिखते हैं कि ''विवाह के अधिकारों के सम्बन्ध में स्त्री–पुरुषों को बराबर अधिकार दिये जायें। कोई कानून जो एक भी प्राणी को अन्यायपूर्वक हानि पहुँचाता है, बुरा है, और उसका हटाया जाना जरूरी है। पर इस विषय के कानून के बदलने का दूसरा अर्थ तलाक़ देने की स्वाधीनता है। पर जहाँ विवाह करने में किसी प्रकार की स्वाधीनता नहीं, वहाँ तलाक़ देने की स्वाधीनता की बात छेड़ना निरर्थक है। अतएव हमको प्रथम–विवाह सम्बन्धी स्वाधीनता के सुधार से कार्यारम्भ करना चाहिए। विवाह के सम्बन्ध में किसी प्रकार की ज़बर्दस्ती करना, अर्थात् वर–कन्या अथवा दोनों में से किसी एक से बिना पूछे–ताछे विवाह करना, मानवीय अधिकारों और स्वाधीनता के विरुद्ध है। ऐसा करना प्राणियों के मनुष्यत्व और स्त्रीत्व की उन्नति में बाधा–स्वरूप है, और एक गर्हित की बात है।''[30] इन नियमों से पूर्व समाज में स्त्री के प्रति लोगों की मानसिकता को साफ करना आवश्यक है कि स्त्री की अपनी स्वतंत्र अस्मिता है। पितृसत्तात्मक मानसिकता के बदलाव से ही स्त्री का सर्वांगीण विकास संभव है।

संदर्भ सूची

1. अमरनाथ, नारी मुक्ति का संघर्ष, पृ. 144
2. वही, पृ. 146
3. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 62
4. वही, पृ. 57
5. वही
6. प्रभा, अक्टूबर 1913, पृ. 374
7. स्त्रीदर्पण, मई 1917, प्र. 252
8. चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, औपनिवेशिक भारत में यौनिकता और सांप्रदायिकता, पृ. 105
9. वही, पृ. 106
10. सरस्वती, जनवरी 1914, पृ. 314
11. स्त्रीदर्पण, फरवरी 1917, पृ. 146
12. वही, पृ. 157–158
13. वही, पृ. 160
14. स्त्रीदर्पण, अप्रैल 1919, पृ. 171
15. वही, पृ. 182
16. चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक, पृ. 112
17. स्त्रीदर्पण, अगस्त 1919, पृ. 110
18. वही, पृ. 195
19. सरस्वती, जनवरी 1914, पृ. 313
20. वही, पृ. 313–314
21. सरस्वती, मई 1901, पृ. 163
22. वही, सितंबर 1901, पृ. 340
23. वही, नवंबर 1902, पृ. 342
24. सरस्वती, जनवरी 1907, पृ. 73
25. वही, अगस्त 1906, पृ. 56
26. वही, जनवरी, 1907, पृ. 357
27. मर्यादा, 1915 अगस्त, पृ. 158
28. स्त्रीदर्पण, मई–जून 1919, पृ. 235
29. प्रभा, सितंबर 1913, पृ. 342
30. मर्यादा, सितंबर 1919, पृ 104–105

मनुष्य के जीवन में पुरुष की भाँति 'स्त्री' का अपना महत्त्व है क्योंकि समाज के निर्माण में एक स्त्री भी अपनी सहभागिता प्रदान करती चलती है। स्त्री संसार के जीवन चक्र को चलाने में अपना योगदान देती है। वह विविध भूमिकाओं में समाज का एक अभिन्न हिस्सा बनती है। वह समाज में अलग–अलग रूपों माँ, पत्नी, बहन, बेटी, प्रेमिका आदि अनेक रूपों में रहकर अपने कर्तव्यों का निर्वाह करती है। कहना न होगा कि मनुष्य का जीवन स्त्री के बिना अपूर्ण है। डॉ. अमिताभ मुखर्जी के शब्दों में–''स्त्रियाँ समाज में अनावश्यक नहीं है बल्कि पुरुषों की तरह समाज के अस्तित्व को बनाए रखने के लिए उतनी ही अनिवार्य है।''[1]

भारतीय समाज में आज भी स्त्रियों की स्थिति देखी जाए तो पूर्ण रूप से सम्मानजनक नहीं कही जा सकती है। समाज में उन्हें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अनेक स्तरों पर उतार–चढ़ावों का सामना करना पड़ता है। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि मान्यताओं के कारण स्त्री जीवन में अनेक परिवर्तन देखने में आए हैं। इन्हीं बदलावों के कारण नारी जीवन अनेक उतार–चढ़ाव से गुजरता है क्योंकि हमारे भारतीय समाज में अनेक धर्म–जाति के लोग रहते हैं और विभिन्न परंपराएँ एवं रीति–रिवाज भी निर्धारित किए हुए हैं। इन्हीं रीति–रिवाजों, नियमों, परंपराओं, मान्यताओं में उलझकर, अथवा इनका निर्वाह करने में स्त्रियों का जीवन निकल जाता है। उसके पश्चात् आज भी स्त्रियों को सम्माजनक स्थान नहीं मिल पाता है और न ही पूर्ण रूप से सुरक्षित होती है। भारतीय समाज में एक और स्त्रियों के प्रति सम्मानीय दृष्टि का दावा किया जाता है तो दूसरी ओर उसका अपमान किया जाता है। ऐसे में स्त्रियों की दशा दोयम दर्जे की बनी हुई है।

स्त्रियों की दयनीय दशा का सबसे प्रमुख कारण आर्थिक रूप से कमजोर स्थिति, अशिक्षा को माना जा सकता है क्योंकि भारतीय समाज में स्त्रियों की शिक्षा को महत्त्व न दिए जाने के कारण स्त्रियों को बाल्यावस्था में विवाह के सूत्र में बाँध कर उसे घर की चारदीवारी में 'कैद' कर दिया जाता है। यदि पति की असमय मृत्यु हो जाए तो सामाजिक मान्यताओं के अनुसार जीवन को निर्धारित करके चलना पड़ता है। माना जाता है कि विदेशी आक्रमणों से स्त्रियों को अत्यधिक कष्ट सहना पड़ा। प्रारंभ से ही कर्तव्य–दायित्वों की बंदी बनकर अपने जीवन को नष्ट करना हो। उसके लिए विदेशी आक्रमण अथवा अन्य कारण

किस महत्त्व के–"कारण विदेशी आक्रमण रहा हो या देश के भीतर किसी प्रकार की शासन व्यवस्था अथवा सीमा युद्ध, दंगे आदि स्थितियों से गड़बड़ाई आंतरिक सामाजिक स्थिरता। इतिहास साक्षी है जब जब यह प्रवृत्तियाँ उभरी नारी की सामाजिक सुरक्षा खतरे में पड़ गई और सामाजिक असुरक्षा के बढ़ते कदमों ने 'नारी के प्रगति मार्ग पर' बढ़ते उसके पैर रूक गये या रोक दिये गये।"[2] प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्रियों के कुछ ऐसे कर्तव्य और दायित्व बताए गए हैं जिनसे यह निर्धारण करना कठिन हो जाता है कि वह स्त्रियों के जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिए है या भटकाने के लिए।

5.1 स्त्री कर्तव्य और दायित्व

भारतीय समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का वर्चस्व कायम रहा है जिसका सर्वाधिक नुकसान स्त्रियों को भुगतना पड़ा। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्रियों को कभी समाज में उच्च स्थान प्रदान करने की कोशिश नहीं की बल्कि समाज में स्त्रियों के अलग से नियम बना दिए गए। उन नियमों के अनुसार ही बचपन से लड़कियों का पालन पोषण किया जाता तथा उनके कर्तव्य और दायित्व निर्धारित किए जाए। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में नवजागरणकालीन प्रभाव से स्त्री जीवन सुधार पितृसत्तात्मक व्यवस्था की धुरी पर चलता है। यह पत्रिकाएँ स्त्रियों को अपने जीवन को और अधिक सुखमय बनाने के लिए कर्तव्य अथवा दायित्वों की याद दिलाती है। हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं में पारिवारिक कर्तव्य से लेकर सामाजिक, सांसारिक समस्त कर्तव्यों तक का ज्ञान दिया है।

5.1.1 पारिवारिक कर्तव्य

पारिवारिक संदर्भ से भारतीय समाज में लड़कियों का पालन पोषण इस विचारधारा के अधीन होकर किया जाता है कि 'लड़कियाँ पराया धन हैं' इन्हें पराए घर जाना है। वे इस विचारधारा के साथ कि 'जन्मभूमि मात्र अमानत है वास्तविक घर ससुराल है' सहज अपना जीवन निर्वाह करती है। परिवार में लड़की होने का अर्थ एक घरेलू, पारंपरिक, मर्यादित एवं सुशील स्त्री होना है। शारीरिक रूप–रंग–गुण–अवगुण की विशिष्ट पहचान भी विकसित की जाती है जिसमें किसी भी प्रकार की असावधानी स्त्री विवाह के लिए घातक बन जाती है। स्त्री अपने कर्तव्यों से च्युत न हो इसलिए उसके कर्तव्यों और दायित्वों पर ही ज़ोर दिया

जाता है। ऐसा प्रशिक्षण जो उसके पद को प्रतिष्ठित करता हो–"भारत में पहले लड़कियों और लड़कों की शिक्षा में स्पष्ट अन्तर रखा गया था। चूँकि एक स्त्री का कर्तव्य केवल अपने घर और बच्चों को देखभाल तक ही सीमित था, यह माना गया कि इन कर्तव्यों का पालन करने के लिए किसी विस्तृत या उच्चतर प्रकार के शैक्षिक प्रशिक्षण की जरूरत नहीं है।"[3]

स्त्री का सर्वप्रथम कर्तव्य गृह प्रबंध माना जाता है। गृह प्रबंध करना पुरुष समाज की थोपी गई परंपरा है। गृह व्यवस्था में स्त्रियों को वह समस्त कार्य करने पड़ते है जिन्हें पुरुष अपनी दृष्टि में हेय समझता है। अथवा अपनी प्रतिष्ठता के विरुद्ध समझता है। यही कार्य एक स्त्री के नित्य कर्म में आता है। भारतीय प्रणाली में एक स्त्री को नित्य कर्म में क्या–क्या करना चाहिए और क्या–क्या नहीं करना चाहिए। वह 20वीं शताब्दी की पत्रिका 'स्त्रीदर्पण' में 'स्त्री धर्म' नामक श्रीमती पदमावती के लेख के माध्यम से देखा जा सकता है। श्रीमती पदमावती लिखती हैं–''घर में सब से पहिले उठना और नित्य कर्म से छुट्टी पाकर घर में बड़ों से नमस्कार करे, सास, जेठानी, श्वसुर और जो और जो बड़े हो उन का पैर छुये। शय्यादि को उठाकर घर का शोधन करे यदि अग्निशाला या गोशाला हो तो वह भी साफ़ करे। यदि घर में मज़दूरनी नहीं है तो गरम जल से अग्नि उपयुक्त पात्रों को धोकर जल्दी रक्खे। घर में जितने छोटे बच्चे हों उन सब को बदलाकर उन को कुछ जलपान कराके पाठ पठन को बैठा देना चाहिये फिर जेठानी से पूछकर रसोई में हाथ लगावे इस के पहिले नहा ले, यदि चौका लीपा न गया हो ता सास से जाकर कहे कि अभी तक दासी ने चौका नहीं लीपा आप कभी चकरानी पर गुस्सा न हो इससे अच्छा यह है कि आप ही चौके की सफ़ाई करे और यदि घर में ऐसे बालक हैं जो पाठशाला जाते हैं तो रसोई जल्दी तैयार करे। माता, पिता, पति, श्वसुर, भाई, मामा इनके दिये हुए वस्त्रों को धारण करे और आभूषण भी पतिव्रत स्त्री पति की आज्ञानुवर्तिनी होकर मन वचन और काया से पवित्र स्वभाव प्रकाश कर छाया के समान पीछे चले पीछे चलने के माने यह नहीं हैं कि पति के साथ साथ टमटम और मोटर पर चढ़ी फिरे अभी वह दिन भारतवर्ष के लिये दूर है क्योंकि हम लोगों में अभी विद्या की कमी है निर्मल चित्तवाली सखी के समान पति का हित करे। बलिवैश्वदेवादि कार्य के सभापत करने पर उस अन्न से जिमाने योग्यों को भोजन कराकर फिर पति को जिमावे। भोजन करने के उपरान्त शेष दिन की आमदनी और ख़र्च आवाज़ से या कठोर वचन कभी भूलकर भी मुंह से न निकलने दे पति को कभी अप्रिय बचन न कहे। जो स्त्रियां असावधान,

उन्माद, क्रोध, ईर्ष्या, ठगाई, अत्यन्तमान की अभिलाष, चुगलपन, हिंसा, बैर, मद, अहंकार, धूर्तपन, नास्तिकपन, साहस, चोरी, दंभ, इन से रहित हैं उन को इस जग में कभी दुःख नहीं होता वह देवी हैं जो इन सब को त्याग देती हैं।''[4]

गृह प्रबंध करते समय एक स्त्री को सुबह से लेकर रात को सोते समय तक किन–किन नियमों का पालन करना चाहिए। वह इंग्लैंड की स्त्रियों के साक्ष्य प्रस्तुत कर पालन करने के लिए बाध्य करने का प्रयास किया गया है। 'स्त्रीदर्पण' 'इंग्लेन्ड की बहू और बेटियां' नामक शीर्षक में श्रीयुत धनीराम बिहारी लिखते है–''वहां की स्त्रियां प्रातःकाल 6 बजे उठती हैं, मुंह हाथ धोकर चाह बनाती हैं और पति के शयन गृह में जा उन्हें चाह पिलाती हैं पुनः रसोई में आग जला पानी गरम करती हैं पति के उठते ही उन्हें गरम पानी से हाथ मुंह धुलाती हैं और फिर अपना (ब्रेकफास्ट) कलेवा तैयार करती हैं और इकट्ठा होकर भोजन करते हैं (जिस गृह में बच्चे होते हैं वह उन के हाथ मुंह धुला कपड़े पहनातीं और अपने ही साथ उन्हें भोजन करवाती हैं) जब पति कार्य को जाता या दफ़्तर जाता तो वह गृह को झाड़ती मेज़ कुर्सियों को कपड़े से पोंछतीं और सब वस्तुओं की सफ़ाई करतीं झूठी चाह के पियालियों को और बर्तनों को अपने हाथ से साफ करतीं और पति के आगमन से पहिले भोजन प्रस्तुत कर लेती हैं। पतियों के लौटने का समय प्रायः 1 बजे का होता है, पुनः भोजन कर जाते। स्त्रियां उन के पश्चात यानी दोपहर को, कपड़े सीती हैं बच्चों के लिये दस्ताने इत्यादि बुनती हैं गृह की और प्रयोजनी कार्य, रन्धनशाला का उद्योग यानी अपने बर्तनों को साफ़ करतीं और पति के पुनः शाम के आगमन के पहिले उन के लिये चाह इत्यादि बनाकर तैयार रखती हैं और बच्चों का हाथ मुंह धुला, उन्हें साफ़–साफ़ कपड़े पहिना स्वयम् भी सज्जित होती हैं। पति के लौटने पर सब मिलकर चाह पीते फिर सैर को जाते हैं और वहां से लौटने पर स्वयम् तो खाना पकाने को जातीं और इनके पति आग के पास बैठ समाचार पत्र या पुस्तक इत्यादि पढ़ते हैं। जब भोजन प्रस्तुत हो जाता तो स्त्रियां मेज़ों पर अपना भोजन सजाती हैं और फिर सब पति के साथ एकत्रित हो भोजन करती हैं बच्चों का सुलाकर यदि उन्हें अवसर मिले तो रात्रि को भी 11 या 12 बजे सियां करती हैं शयन से पहिले कपड़े उतार रात्रि के कपड़े पहिन थोड़ी देर ईश्वर का भजन कर पश्चात शयन गृह में जाती है। केवल इतना ही नहीं आठवें रोज़ बच्चों या पति के व अपने कपड़े भी धोती हैं

उन पर इस्तरी करतीं, जूतों पर स्याही लगाती हैं और ऐसे प्रयोजनीय कार्य करती हैं, जिन में उन का 4, 5 घन्टे इस कार्य में व्यतीत होते हैं।''[5]

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में गृह नियोजन में भोजन अथवा रसोई बनाना स्त्रियों के प्रथम एवं मुख्य कर्त्तव्य है। विवाह के पूर्व इसका विशेष ध्यान रखा जाता है कि स्त्रियों को खाना बनाना आता है या नहीं। यदि वह खाना बनाने में कुशल होती है तभी उसे विवाह योग्य समझा जाता है। उसके इस पाक कौशल की परीक्षा ठीक विवाह उपरांत होती है। कहा जाए उसके पाक ज्ञान का बखूबी प्रयोग तो विवाह के बाद ही होता है। इसकी परम आवश्यकता 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री कर्तव्य निर्धारण के समय अभिव्यक्त है–"स्त्री का मुख्य कर्तव्य है कि गृह प्रबंध सुयोग्यता से करे और सम्पूर्ण गृह कार्यों में सबसे प्रथम कार्य भोजनादि का बनाना व सुप्रबंध करना ही है क्योंकि सांसारिक कार्य करने का एकमात्र 'साधन' शरीर है। शरीर को निरोग्य और बलवान रखने के लिए उत्तम शुद्ध भोजन की परम आवश्यकता है।"[6] प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से परिवार और विवाह संस्था में पुरुषों को बल एवं वीर्य प्रदान करने के लिए शुद्ध एवं स्वास्थ्यवर्धक खाना बनाने व परोसने वाला यंत्र। इससे एक स्त्री को अन्नापूर्णा देवी के अलावा आदर्शवादी तमगों से भी नवाजा जा सकता है–''यों तो स्त्रियों के और भी अनेक कर्तव्य हैं, पर उनका मुख्य कर्तव्य यह है कि रसोई इत्यादि बना कर परिवार के लोगों के बल–वीर्य की पुष्टि करना। यह बड़े महत्त्व का कार्य्य है। शरीर में पाकस्थली ऐसी वस्तु है जिससे शरीर के सभी छोटे बड़े अवयवों को पुष्टि–प्राप्ति होती है। अतएव गृहस्थाश्रमी स्त्रियों का रसोई बनाने में निपुण होना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है जो स्त्रियाँ साक्षात् अन्नापूर्णा कही गई हैं। विधाता ने उनके हाथों में ऐसा रस दिया है कि उनकी बनाई हुई चीज़ों से जैसा स्वाद मिलता है वैसा पुरुषों की बनाई हुई चीज़ों से नहीं मिलता। यह बात अनुभव–सिद्ध है। इस कर्तव्य का ठीक ठाक पालन करने से स्त्रियाँ आदर्शभगिनी, आदर्शकन्या, आदर्शवधू, आदर्शमाता और आदर्शपत्नी बन सकती हैं।''[7] स्त्रियों को इस कर्तव्य का पालन करने के लिए प्रवीणता प्राप्त करने के लिए यदि रसायन शास्त्र अध्ययन की आवश्यकता पड़े तो इसमें विचारकों को कोई आपत्ति नहीं है।

स्त्रियों द्वारा भोजन बनाना उनका मुख्य कर्तव्य है। किंतु 'स्वास्थ्य वृद्धि नामक कर्तव्य' स्त्रियों के मुख्य और प्रधान कर्तव्य समझे जाने वाले कर्तव्यों में मूल कर्तव्य है। स्पष्ट तौर पर स्वच्छ और पौष्टिक भोजन का सेवन कर अपने स्वास्थ्य अथवा शरीर की वृद्धि करना स्त्रियों का मूल कर्तव्य है। इस कर्तव्य के निर्वाह से ही स्त्रियाँ अपने अन्य कर्तव्यों का निर्वाह भलीभाँति कर सकती हैं। अन्यथा उन्हें परिवार के सदस्यों द्वारा भार स्वरूप समझा जाता है। स्त्रियाँ भार स्वरूप न समझी जाए इसलिए 'स्त्रीदर्पण' 'स्त्रियों के कर्तव्य' नामक लेख में श्रीमती शारदासुमन्त बी. ए. स्त्रियों के आरोग्य रूपी कर्तव्य पर जोर देते हुए लिखती हैं–''आरोग्य–शास्त्र स्त्रियों को बहुत उपयोगी होती है। यह जानना बहुत जरूरी है कि घर में और घर के आस–पास सफाई रहती है या नहीं और रसोई, पानी, दूध, शाक, भात इत्यादि सभी वस्तुओं में आरोग्य के नियमों पर पाबन्दी होती है या नहीं। घर के आगे कूड़ा करकट फेंकना तथा पड़ोस में गंदगी फैलाना। ये देखने में ज़रा–ज़रा सी बातें आरोग्यता के लिए हानिकारक होती हैं। सफाई न रहने से मच्छर, मक्खी और अनेक तरह की बीमारी पैदा करनेवाले कृमि पैदा हो जाते है। सफाई का हरेक बात में स्त्रियों को ख़्याल रखना चाहिये। कसरत, खुली हवा और पौष्टिक भोजन का सेवन कर अपनी शरीर–संपदा को बढ़ाना हमारा कर्तव्य है।''[8] लेखिका का मानना है कि स्वयं और घर का स्वच्छतापूर्वक ध्यान रखने से उनकी शारीरिक उन्नति से सांसारिक उन्नति है और उनकी संतान बलशाली और तेजवान होगी। यह तभी संभव है जब स्त्रियाँ शिक्षित होकर स्वच्छता की सावधानी बरतेंगी और किसी अंधविश्वास में नहीं पड़ेंगी। 'हिन्दी प्रदीप' जुलाई 1907 पत्रिका में 'स्त्रियों के कर्तव्य' नामक लेख में 'एक अबला' लेखिका लिखती हैं–''शिशु पालन भी उनका एक कर्तव्य है। बहुधा स्त्रियाँ अपने फूहरपने और मैली तथा गन्दी आदतों से लड़कों को भी मैला–कुचैला रखती हैं। ऐसा कि उनके लड़कों को देख ओकलाई आने लगती है। दूसरी यह कि बीमार होने पर दवा दारू करने के बदले झार फूंक में कितने लड़के हर साल जाया करते हैं। यह सब स्त्रियों के अपढ़ होने का बाइस है।''[9]

प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में बच्चों के पालन–पोषण की जिम्मेदारी स्त्रियों का प्रधान कर्तव्य है। इसे प्रधान कर्तव्य इसलिए माना गया है क्योंकि लड़कों अथवा पुरुषों के अर्थ में बच्चे देश का भविष्य, कुल का दीपक और जाति–धर्म के संवाहक होते हैं। संतान की उन्नति देश की उन्नति है। ऐसे संवाहकों के पालन–पोषण और रक्षण का भार बड़ा दायित्व

भरा है। इस संदर्भ में 'सरस्वती' जून 1917 के अंक में शालग्राम गुप्त का 'स्त्री–शिक्षा की आवश्यकता' लेख दृष्टव्य है–''सन्तान का पालन–पोषण करना स्त्रियों का प्रधान कर्तव्य है। यह कर्तव्य बड़े महत्व का है। जिस सन्तान पर कुल, जाति और देश की भाव उन्नति अवलम्बित रहती है, जिसके नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जा सकते हैं, जिसके सदाचार–रत, धर्म्मनिष्ठ और परोपकारी होने से देश का देश पवित्र है, यही नहीं, जिसकी पूजा ईश्वर–तुल्य की जा सकती है उसी के लालन–पालन और रक्षण का कार्य माताओं के लिए सचमुच बड़े दायित्व का है।''[10] 20वीं शताब्दी के विचारकों को स्त्रियों के कर्तव्य के रूप में संतान के लालन–पोषण की आवश्यकता अनुभव करने का कारण कम उम्र में स्त्रियों द्वारा माँ बनने के भार से बच्चों पर ध्यान न देना था। जिससे अधिकतर माताओं द्वारा उनके कार्यों में व्यवधान डालने वाले बच्चों को अफीम खिलाने की प्रथा भी सामने आई थी।[11]

स्त्रियों के लिए सख्त निर्देश है कि वह अपने बच्चों का भरण–पोषण सही ढंग से करें, क्योंकि माता ही अपने बच्चों को शिक्षा देकर उन्हें अच्छे संस्कार दे सकती है। माता ही अपनी संतान की परवरिश सही से कर सकती है–"स्कूल जाने तक और स्कूल के कई वर्ष पहले भी अर्थात् दस बारह वर्ष की आयु तक माता का बच्चे पर इतना प्रभाव पड़ता है कि इसके जीवन का बिगड़ना या सुधरना माता के हाथों में समझा जाए तो कोई मिथ्या नहीं।"[12] अनौपचाारिक रूप से माँ परिवार में प्रथम शिक्षिका होती है। शिक्षिता होने के नाते अपनी संतान की मानसिक और नैतिक विकास का उत्तरदायित्व स्त्री पर है। प्रारंभिक दशकों में स्त्रियों को गृह शिक्षा देने का यह बहुत बड़ा कारण है। गृह शिक्षा के दौरान स्त्री को अपनी संतान को शिक्षा देते समय किन–किन विषयों पर ध्यान देना चाहिए। वह 'मर्यादा' अगस्त 1915 के अंक में प्रकाशित श्रीमती शारदासुमन्त बी. ए. के लेख 'स्त्रियों के कर्तव्य' में देखा जा सकता है–

''(1) अच्छा चालचलन।

घर में बड़ों के सन्मुख शान्तवृत्ति, स्वार्थ–त्याग और बन्धुभाव विशेषरूप से सीखने चाहियें। आपस के संभाषण और खेल में कभी बच्चों को अपशब्द न बोलने देना चाहिये।

'वाणी की शुद्धता' यद्यपि एक साधारण सी बात मालूम होती है परन्तु इसकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

(2) उच्च आदर्श

बालकों के हृदय में बहुत ऊँचे मनोभावों का समावेश करना चाहिये। ऊँचें आदर्श होने से ही उनका शुद्ध व्यवहार होगा और बड़े बड़े कार्य सिद्ध होंगे।

(3) सच्चरित्रता, मन की दृढता, निर्भयता, मनोनिग्रह इत्यादि सद्‌गुणों का सिखाना हमारा परम कर्तव्य है। कहते हैं कि जापान में कभी लड़के रोते सुनाई नहीं देते। रोना किसे कहते हैं वे यह समझते ही नहीं। यह क्या बतलाता है? मन के भाव लोक के दिखलाने के लिये होते हैं। रास्ते में छाती कूटना और मुंह फाड़ फाड़ कर रोना ये मन की दुर्बलता जाहिर करते हैं। मनोविकारों को वश में रखना, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर इन हरेक रिपु को अपने कब्जे में रखना इनके वश हमें कभी नहीं होना ही नहीं यही हमारा बड़ा धर्म है।''[13]

शिक्षा स्त्रियों के लिए कितनी आवश्यक है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। स्त्रियों की निम्न दशा अशिक्षा का परिणाम है यह 20वीं शताब्दी में अधिकांश विचारकों को ज्ञात हो गया था। कुछ विचारक स्त्रियों को उनकी वास्तविक स्थिति से मुक्त कराने हेतु शिक्षा प्राप्त करने को स्त्रियों के प्रथम कर्तव्य के रूप में देखते हैं। जैसे 'हिन्दी प्रदीप' जुलाई 1907 के अंक में 'स्त्रियों का कर्तव्य' नामक लेख में एक अबला लिखती है–''स्त्रियों का पहिला कर्तव्य विद्या पढ़ना है। भारत में स्त्रियों जो ऐसी गिरी दशा में आ गई हैं उसका कारण केवल उनकी मूर्खता है। उनमें विद्या न होने से ये यह नहीं समझ सकतीं कि किसमें हमारा लाभ है और किसमें हानि। विचार और दूरदर्शिता जो विद्या के बड़े फायदे हैं दोनों से सदा वंचित रह थोड़े से तात्कालिक लाभ के सामने होनहार अपनी बड़ी भलाई को वे नहीं समझ सकतीं। पुरुषों में स्वदेशी आन्दोलन का बड़ा जोर है पर स्त्रियाँ इसे बिलकुल नहीं जानतीं कि स्वदेशी किस चिड़ियें का नाम है। जब तक इसके गुण हमारी ललनायें न जानेंगी तब तक स्वदेशी में मजबूती न आवेगी।''[14] लेखिका स्त्रियों के शिक्षा ग्रहण करने को प्रथम कर्तव्य मानते हुए स्त्रियों के नैतिक आदर्श का पूर्णतः ध्यान रखती है। वह स्त्रियों को किसी भी श्रृंगारपरक, प्रेमपरक और मनोरंजनपरक शिक्षा देने के विरुद्ध है। वह साफ और सीधे तौर पर सदुपदेश पूर्ण ज्ञान जैसे भूगोल, इतिहास आदि देने की पक्षधर है। जिससे वह कम से कम अपनी लाभ–हानि और दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।[15]

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में शिक्षा ग्रहण स्त्रियों का प्रथम कर्तव्य दो कारणों से माना गया है। प्रथम, स्त्री जाति के उद्धार के लिए द्वितीय, संतानों को सुशिक्षित करने के लिए। तत्कालीन युग में कई जगह स्त्रियों की स्कूली शिक्षा की आवश्यकता इसलिए नहीं अनुभव की जा रही थी क्योंकि बाहरी तत्वों से उन्हें शिक्षित करने का प्रयास किया जा रहा था। लेकिन संतानों को सुशिक्षित करने की दृष्टि से 'सरस्वती' पत्रिका जून 1917 के अंक में प्रकाशित लेख 'स्त्री–शिक्षा की आवश्यकता' के लेखक शालग्राम गुप्त को न स्त्रियों की स्कूली शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है न बाहरी तत्वों की। वह स्त्रियों की विशेष व्यक्तियों द्वारा विशेष शिक्षा के पक्षपाती है। लेखक अनुसार बाहरी तत्वों से सुशिक्षित होना सुसंगतिपूर्ण नहीं है। वह आंतरिक तत्वों के रूप में अपनी जाति विशेष को सुशिक्षित कराने के लिए अपनी ही जाति विशेष (पिता, भाई, पति, ससुर, पुत्र आदि) द्वारा स्त्रियों को शिक्षित कराना चाह रहे थे जिससे सुसंगत शिक्षिका और स्त्री का निर्माण किया जा सके। शालग्राम गुप्त के शब्दों में–''कुछ लोगों का अब भी यही ख़याल है कि विद्वान् और महात्माओं की संगति से जब शिक्षा की प्राप्ति हो सकती है तब स्त्रियों को पढ़ने लिखने की उतनी आवश्यकता नहीं। यह ठीक। पर यदि वे संसर्ग के दोषों पर भी थोड़ा विचार करते तो शायद उन्हें ज्ञात हो जाता कि इस अविद्यान्धकार पूर्ण समय में, ख़ास कर स्त्री–जाति के लिए, ग्रन्थावलोकन द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करना उत्तम मार्ग है। अब यदि कहिए कि भ्राता, पिता, ससुर अथवा स्वामी की संगति से दोष की सम्भावना नहीं तो इसका उत्तर यह होगा कि इन्हें अपनी चक्की पीसने से ही फ़ुरसत नहीं। ये शिक्षा देंगे तो कैसे देंगे। संगति के गुण बड़े विलक्षण होते हैं अवश्य, किन्तु जब तक विदुषी और शिक्षिता स्त्रियों की संख्या अधिक न होगी तब तक सर्वसाधारण स्त्रियों को न तो सुसंगति से लाभ हो सकता है और न पढ़ाने लिखाने वाली स्त्रियाँ ही उन्हें मिल सकती हैं।''[16]

20वीं शताब्दी में आदर्शवादी स्त्री निर्माण की प्रक्रिया में शिक्षा ग्रहण करने के साथ उस शिक्षा को व्यवहार में लाना आवश्यक था। इसलिए स्त्रियों पर एक नया कर्तव्य 'शिक्षा को व्यवहार में लाना' ईजात किया गया। 'स्त्रीदर्पण' 1920 श्रीयुत बाबू राम श्रीवास्तव के 'भारत में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता' शीर्षक लेख में थोपे गए शब्द इस प्रकार हैं–''विद्या प्राप्त करने के पश्चात् उसको व्यवहार में लाना प्रत्येक स्त्री का कर्तव्य है क्योंकि विद्या पढ़ने से केवल किसी बात का ज्ञान प्राप्त कर लेना नहीं है परन्तु उस ज्ञान को अपना लेना

अत्यन्त उसको अपना स्वाभाविक गुण बना लेना व्यवहारिक ज्ञान (Practical Experience) प्राप्त करने से हो सकता है।''[17] पुरुषों पर इसके अवमानने का आरोप नहीं लगाया जा सकता क्योंकि पुरुषों का यह कर्तव्य न होते हुए भी इसका प्रयोग विपरीत परिस्थितियों से बचने के लिए बखूबी किया।

'परिवार' स्त्री पराधीनता का अवतरण है और 'समाज' स्त्री पराधीनता की पराकाष्ठा। परिवार भारतीय समाज व्यवस्था का एक प्रकार से एक अंग है। इससे कहीं न कहीं समाज संचालित होता है। गृहस्थाश्रम का भार स्त्री–पुरुष दोनों पर समान रूप से होता हैं। क्योंकि स्त्री–पुरुष दो अलग–अलग जीव होकर भी एक है। इनके एक कहलाए जाने से स्त्री–पुरुष के कर्तव्य एक नहीं हो जाते। सरस्वती' पत्रिका में स्त्री और पुरुष दोनों को कंधे से कंधा मिलाकर चलने की बात कही गई है। कंधे से कंधा मिलाने के प्रयास में स्त्री का कंधा प्रायः नीचे क्यों हो जाता है? यदि स्त्री और पुरुष समान है, एक है तो धनोपार्जन का कर्तव्य पुरुषों पर ही क्यों है? धनोपार्जन दोनों का समान कर्तव्य होना चाहिए। किंतु भारतीय समाज की पारिवारिक व्यवस्था में ऐसा बिलकुल नहीं है। इसमें पुरुषों का कर्तव्य धनोपार्जन है और स्त्रियों का उस धन को नियोजित रूप से खर्च अथवा सहेज कर रखना। 'सरस्वती' जून 1917 के अंक में 'स्त्री–शिक्षा की आवश्यकता' नामक लेख में शालग्राम गुप्त स्त्रियों के इस कर्तव्य के विषय में लिखते हैं–''धनोपार्जन पुरुषों का कर्तव्य है सही, पर यह नहीं कह सकते कि इस कार्य से स्त्रियों का कुछ सरोकार ही नहीं। धनोपार्जन में पुरुष भले ही प्रवीण हों, किन्तु धन की रक्षा और उसे किफ़ायत से ख़र्च करना स्त्री ही जानती है। प्रत्यक्ष प्रमाण यही कहता है कि पुरुषों में इस कार्य की योग्यता नहीं। धन का लोभ स्त्रियों का स्वभाव ही होता है। लोभ होने से धन का अच्छा संग्रह किया जा सकता है। धन–संग्रह होने पर गृहस्थाश्रम की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। पूर्ति होने पर ही अर्थागम का सच्चा सुख प्राप्त होता है। इसके सिवा, गृहस्थी में किन सामग्रियों के किस समय न रहने से कैसी तकलीफ़ होती है, किस वस्तु की किस समय आवश्यकता है और किसकी नहीं, इत्यादि बातों का विशेष ज्ञान स्त्रियों ही को होता है।''[18] लेखक ने स्त्रियों को जो स्वभाव से धन का लोभी ठहराया है वह स्त्री–पुरुष दोनों का स्वाभाविक गुण है। इसके लिए केवल स्त्रियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। और दैनिक जीवन में प्रयोग–अप्रयोग होने वाली समस्त सामग्री

ज्ञान स्त्रियाँ पैदाइश में नहीं सीखकर आती है। उन्हें इस कार्य के लिए बकायदा तैयार किया जाता है।

स्त्री घर के चारदीवार की वस्तु है इसे अर्थोपार्जन की कोई आवश्यकता नहीं है। चूँकि पति के समस्त कार्यों में साथ देना स्त्री का कर्तव्य है इसलिए पुरुषसत्ता से लिप्त यह संस्था अवसर आने पर स्त्रियों को अर्थोपार्जन की छूट भी देती है–"स्त्रियाँ अपने पति को हर एक गृहस्थ कार्यों में तन–मन से सहायता दे यदि पति की आर्थिक दशा संतोषजनक नहीं तो कोई व्यवसाय करने में उसको उचित सहायता दे।"[19] किंतु स्त्रियाँ इस स्वतंत्रता का प्रयोग अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए नहीं कर सकती थी।

हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं में स्त्रियों के कर्तव्यों और दायित्वों में 'पतिधर्म' को सबसे बड़े कर्तव्य में गिना गया है। पति की आज्ञा का पालन करना, हर धर्म में उसका साथ देना, उसकी सेवा करना अर्थात् पति के प्रत्येक सुख–दुःख में सहर्थ सहयोग देना (पतिधर्म) एक पतिव्रता पत्नी का धर्म है। सामाजिक संरचना में परंपराओं अथवा मान्यताओं का पालन स्त्री धर्म है। स्त्री द्वारा परंपराओं एवं मान्यताओं का विश्रृंखलन समाज विश्रृंखलन है लेकिन पतिधर्म कर्तव्य पालन के समक्ष इन परंपराओं के टूटने की भी कोई परवाह नहीं की जाती।

5.1.2 सामाजिक कर्तव्य

स्त्रियों के सामाजिक कर्तव्य राष्ट्र की आवश्यकता से उपजे स्त्री जीवन सुधारवादी मुद्दे हैं। यह भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्री जीवन का निर्धारण कर रहे थे। यह बदली सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृति परिस्थितियों में स्त्रियों के जीवन का दूसरा पहलू था। इसमें स्त्रियों को आत्मोन्नति, देशसेवा, आत्मत्यागी, परोपकारी, स्वाभिमानी बनने के लिए प्रेरित किया जा रहा था। 'मर्यादा' अगस्त, 1917 के अंक 'स्त्रियों के कर्तव्य' लेख में श्रीमती शारदासुमन्त बी.ए. ने लिखा है कि प्रत्येक स्त्री को अपना समय देवदर्शन, पूजा, हवन, मन्त्रोच्चार आदि में लगा देना समय के अनुकूल नहीं है। इस युग का सेवाधर्म ही सबसे बड़ा धर्म है। दूसरे लोगों को हमारे समय की बहुत जरूरत है। बेशक आत्मोन्नति की हमें उपेक्षा न करनी चाहिए। परंतु परोपकार भी हमारा बड़ा धर्म है।

स्त्रियों के परोपकार, देशसेवा और आत्मत्याग के भाव पर 'स्त्रीदर्पण' 1920 के अंक में श्रीमती कैलाश रानी वातल ने भी लिखा है। वह लिखती हैं–''तुम्हारे देश की दशा तुम से छिपी नहीं है इस में समझ लो कितने आत्मत्याग की आवश्यकता है अब यह समय आ गया है कि अपने देश को तुम अपनी ससुराल या बड़ी ससुराल समझो यहां के लोगों का अपना कुटुम्बी समझो, सारी हिन्दु जाति को अपनी बिरादरी समझो, यहां के नेताओं को अपना पुरुषार्थ समझो। सच्ची सभ्यता का जामा पहिनकर अपने भाइयों, पिताओं के संग संग कार्य क्षेत्र में काम करने आओ। तुम्हारे लिये कार्य बहुत है यहां तक कि पुरुषों से दुगना। उन को केवल एक काम है तुम को दो हैं। दो कैसे? एक घर और दूसरा देश। जो काम घर में निबटाकर आओगी वही देश में करना होगा।''[20]

दोनों लेखिकाओं ने स्त्रियों के 'आत्मत्याग' की घरेलू और राष्ट्रीय स्तर पर खूब सराहना की है। 'घर' स्त्री शोषण का प्रस्थान बिंदु है और 'राष्ट्र' चर्मोत्कर्ष। घरेलू स्तर पर अधिकारविहीन और पद दलित स्त्री राष्ट्रीय स्तर पर भी अधिकारविहीन और पद दलित है। एक स्त्री का स्वत्व खोकर 'आत्मत्याग' करना तत्कालीन सामाजिक दुष्चक्र था। 'सरस्वती' अप्रैल 1918 के अंक लेख 'हमारे–हृदय' में श्रीमती उमादेवी नेहरू ने ऐसे आत्मत्याग का विरोध करते हुए सामाजिक दुष्चक्र को प्रकट तथा भारतीय स्त्री के सांसारिक कर्तव्य को साझा किया। वे लिखती है–''प्राचीन आत्मत्याग की कहानी समाप्त हुई–एक स्वप्न था जो जो हो चुका। यह बातें प्राचीन काल की निन्दनीय नहीं–नहीं, हरगिज़ नहीं। हम आत्मत्याग की निन्दा नहीं करतीं। आत्मत्याग एक स्वर्गीय भाव है। किसी आदर्श के लिए अपने आपको मिटा देने से उत्तमतर कार्य संसार में और कुछ नहीं। किन्तु इतना हम अवश्य कहती हैं कि जो आत्मत्याग अपनी आत्मा, अपने शरीर, अपने हृदय का विनाशक हो, जो दूसरो का स्वार्थी, अन्यायी और अत्याचारी बनाता हो; जो अपनी सन्तान की उन्नति के मार्ग में कण्टक और विष बोता हो, जो समाज के सम्मिलित जीवन को दुर्बल और हीन बनाता हो–वह आत्मत्याग नहीं, आत्महत्या है। हम आत्मत्याग की निन्दा नहीं करतीं। हम तो आत्महत्या से बचना चाहती हैं। और यह हमारा सांसारिक कर्तव्य और आध्यात्मिक धर्म है।''[21]

देशसेवा का भाव बुरा नहीं है। किंतु स्त्रियों में इस भाव को उत्पन्न करने से पहले उसे इस काबिल तो बनाया जाय जिससे वह अपने स्वत्वों को पहचान देशोन्नति कर सके।

'मर्यादा' 1917 के अंक 'स्त्रियों के कर्तव्य' नामक लेख में श्रीमती शारदासुमन्त स्त्रियों को अशिक्षित रखने के पीछे के कारक–'धन की आवश्यकता' को सामने रखती हैं। इसलिए श्रीमती शारदासुमन्त स्त्रियों का कर्तव्य मानती हैं कि शिक्षित स्त्रियाँ समाज सेवा के माध्यम से स्त्रियों को आधुनिक शब्दावली में कहे व्यवसायिक शिक्षा प्रदान करें। लेखिका अनुसार तत्कालीन युग में पढ़ी लिखी दाइयों की कमी थी। वह स्त्रियों को शहरों में इसका प्रशिक्षण अथवा क्लासें देने की सलाह देती है। और जिन स्त्रियों को गृहकार्यों के कारण अधिक समय न मिलता हो उन्हें सिलाई–कढाई सिखाने की कक्षाएँ खोलने की सलाह देती है। वह लिखती हैं–''एक बार ज्योंही हम लोगों को ज्ञान प्राप्त होगा त्योंही अपने आप सभी जागृत हो जायँगे केवल जागृति की औषधि चाहिये। अब ऊँघने का वक्त नहीं। दूसरे देशों के साथ पारस्परिक स्पर्धा में यदि हम पीछे रह जायँगी तो फिर आगे न आ सकेंगी। अतएव अपनी उन्नति के लिए समयानुकूल धर्माचरण में तत्पर हो जाओ...''[22] लेखिका की दृष्टि में स्त्रियों द्वारा निष्ठापूर्ण निभाया गया यह कर्तव्य स्त्री जागृति की शृंखला की कड़ी है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में स्त्रियों का सामाजिक कर्तव्य के रूप में जो कर्तव्य बनता है वह स्त्रियों का उद्धार अथवा उसे जागृत करना है। इससे पहले स्त्रियों का स्वयं के प्रति भी कर्तव्य सदियों से चली आ रही परंपराओं, मान्यताओं को तोड़कर 'मनुष्य पद' प्राप्त करना है। इस विषय में 'मर्यादा' पत्रिका के 1915 अंक में प्रकाशित लेख 'भारत की राष्ट्रीय उन्नति तथा स्त्री–जाति' एक विनीत देशभक्त स्त्रियों का राष्ट्र के प्रति कर्तव्य समझाते हुए लिखते है–''उन्नत राष्ट्रों के इतिहासों के अध्ययन द्वारा देश तथा मनुष्य समाज की और अपने कर्तव्य का निश्चय करो। आवश्यक है कि तुम स्वयं अपने स्त्रियाँ होने से भी पूर्व अपने मनुष्य होने का विचार रक्खो। फिर जब तुम एक बार अपनी आत्मा के सम्मुख देश तथा मनुष्य समाज की ओर अपने कर्तव्यविशेष का निश्चय कर लोगो तो संसार की कोई भी शक्ति तुम्हारे तथा मानुषिक कर्तव्य के बीच में न आ सकेगी।''[23]

एक प्रकार से स्त्रियों का राष्ट्र के प्रति कर्तव्य मनुष्यता को प्राप्त करने की दिशा में पहला कदम था। मनुष्यता को प्राप्त करके अन्य स्त्रियों को सामाजिक कर्तव्य समझा कर जागृत किया जा सकता था। क्योंकि जिस नई सभ्यता और संस्कृति का स्वप्न देखा जा रहा था वह स्त्री एकता के संभव नहीं था। इसलिए 'स्त्रीदर्पण' 1920 के अंक में 'कन्या आदर्श' लेख में श्रीमती कैलाश रानी वातल नई सभ्यता और संस्कृति के विकास और उनके जीवन

संबंधी प्रश्नों को हल करने के लिए स्त्री एकता को आवश्यक मानते हुए लिखती हैं–''कर्तव्य के पथ पर खड़ी होकर सब गिरीं पड़ीं बहिनों को उठाओ, क्योंकि नवीन सभ्यता की रचना के लिये नई नई सामग्री व नया नया सामान इकट्ठा करना होगा जो तुम अकेली दुकेलियों के बस का नहीं। मिलकर सब अपनी विकट समस्या हल करो अपने पड़ोसियों की चिन्ता कर आपस के बीच के प्रश्नों को सुलझाना तुम्हारा परम धर्म होगा सारांश यह है कि सारे भारत की मानव जाति की सभ्यता के हेर फेर के रूप सब को चिन्ता पूर्वक विचार करना पड़ेगा।''[24] इस प्रकार 20वीं शताब्दी में स्त्री कर्तव्यों का निर्धारण करके स्त्री जीवन को जिस शैली में दिशा देने की कोशिश की जा रही थी उसकी सही दिशा पहचान कर उस मार्ग पर चलना स्त्रियों के हाथ में था।

5.2 विधवा स्त्री के कर्तव्य और दायित्व

पत्नि पति को अपना सौभाग्य मानकर उसे सिन्दूर के रूप में अपने माथे पर सजाती है और अपने पति के लिए लम्बी आयु अथवा जीवन की कामना करते हुए उसके लिए नाना प्रकार के व्रत उपवास आदि रखती है। विवाह पश्चात् पति के साथ ही स्त्री की भी पद प्रतिष्ठा जुड़ी रहती है। इन सब विचारों का समाज में इतना अधिक प्रचलन था कि पति की मृत्यु के बाद उसका जीवन नरकमयी बन जाता था। समाज के किसी भी शुभ कार्य में उसे भाग लेने नहीं दिया जाता था। उसे शृंगार करने के अधिकारों से वंचित कर दिया जाता था उसे परिवार से अलग एक अलग कमरे में रखा जाता था। उसका सतीत्व परिवार की प्रतिष्ठा का आधार माना जाता था–"परम्परागत हिन्दू संस्कृति के अनुसार एक विधवा से या तो सती हो जाने (अपने आप को पति की जलती चिता के साथ जला देना) या शुद्ध साधारण जीवन शैली बिताने की आशा रखी जाती थी।"[25] विधवा जीवन स्त्री के लिए कठोर साधनामय हो जाता था। ईश्वर का ज्ञान और पति की याद में घर के एक कोने में अपने अस्तित्व को मिटाने के लिए वह विवश की जाती रही थी। बाल विवाह की अनिवार्य परिणति थी, विधवाओं की भयावह स्थिति। उनकी इस स्थिति में सुधार अनिवार्य आवश्यकता है।

लेखक श्रीयुत हरिराम चंद दिवेकर ने विधवा कर्तव्य स्त्रियों से संबंधित अपने एक लेख 'विधवा कर्तव्य' में विधवा स्त्रियों के कर्तव्य के बारे में चर्चा की है। वे मानते हैं कि हमारे समाज के सम्मुख विधवाओं का प्रश्न आज उपस्थित है और समाज के धुरीगण लोग

उस पर भिन्न–भिन्न दृष्टियों से विचार कर रहे हैं किंतु लेखक का मानना है कि–"उनकी दुर्दशा सुधारने के दो ही मार्ग दिखाये जाते हैं प्रथम उन्हें खुशिया देकर अपना उदर निर्वाह करने को समर्थन करना और दूसरा उन्हें पुनरुद्वार करने की अनुज्ञा देकर फिर से सांसारिक बनाना। प्राचीन दृष्टि के लोगों के ये दोनों मार्ग संमत नहीं है।"[26]

लेखक विधवा के पुनर्विवाह का विरोध नहीं करते लेकिन उनका मानना है कि कम उम्र की लड़कियों को अधिक आयु के लोगों के साथ विवाह करना और कम उम्र में विधवा बने रहना ही स्त्री का कर्तव्य है वे अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि–"साठ–साठ वर्ष के बूढ़े किसी कोमल द्वादश वार्षिका कुमारी से विवाह करे और आठ वर्ष से भी छोटी वर्ष में विधवा हुई स्त्री जन्म भर विधवा ही बनी रहे यह मेरा मत नहीं है। मैं विधवोद्वाह का विरोधी नहीं हूँ इतना ही नहीं पर इस कार्य से सहमत भी नहीं हूँ। परन्तु मेरी केवल यही इच्छा है कि आज की परिस्थिति में क्या विधवाओं का यही कर्तव्य है?"[27]

लेखक ने विधवा स्त्रियों को भारत माता के राष्ट्रीय प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने विधवा स्त्रियों को 'माता' संबोधन करके उनकी समाज में जो दशा है उसे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है लेखक का मानना है कि समाज में विधवा स्त्रियों की दशा अत्यंत शोचनीय है समाज ने विधवा स्त्रियों के लिए कठोर नियम, रीति–रिवाज बना रखे हैं जिनके कारण विधवा स्त्रियों का जीवन निर्वाह करना अत्यंत कठिन होता है। लेखक विधवा स्त्रियों की रक्षा पर विचार करते हुए उनकी यथास्थिति बयान करते हैं–"अपने व्यक्ति विषयक स्वार्थ और स्वसुख में निरत होकर बचे खुचे समय में इस दुःख पीड़िता माता का दुःख दूर करने का इलाज नहीं हो सकता। सुदृढ़ और रोग रहिता माता की पूछताछ, खाने–पीने, चैन और मज़ा उड़ाने के लिए बाहर खेलने को जाते–जाते पैरों में बूट पहिनते पहिनते माता जी। ठीक तो है, कुछ दुःख तो नहीं है, पूछने से हो सकती है। पर जब वही जन्मदा, सर्वसुखदा माता व्याधि से पीड़ित हो, बिछौने से जुड़ी हो दुःख से कहरा रही है और बेचैनी से इस करवट से उस करवट पर तड़प रही है, तब खाली मज़ा उड़ाते हुए उसकी चिन्ता नहीं की जा सकती। उन विलापों को सुन मातृ भक्त पुत्र स्व सुख के विषय में अत्यंत उदासिन हो जाता है और दिन रात माता की चिन्ता में बेचैन रहता है। यदि प्यारी माता को मरने न देना हो तो, पुत्रों को यही करना होता है। माता चंगी हो जाने पर मज़ा उड़ाने को भरपूर अवसर मिलता है,

पर यदि एक बार जननी गतप्राय हो जाए तो फिर न मिलेगी। भारत माता का विलाप सुन अनेक मातृ भक्त अपने स्वार्थ और सुख पर लात मार कर उसकी सेवा में रत हो रहे है। गृहस्थाश्रम में रहकर सुख भोगना बहुत युवकों ने छोड़ दिया है और किसी का मत इसके विरुद्ध नहीं है। फिर क्या ऐसी दशा में यह उचित होगा कि जिन्हें प्राचीन नियमानुसार संसार से छुटकारा प्राप्त हो गया है उन्हें फिर से संसार चक्र करने का और इस प्रकार प्यारी मातृभूमि की सेवा से उन्हें विमुख करने का यत्न किया जाये?"[28]

भारतीय समाज में 20वीं शताब्दी के दौरान महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं थी। उन्हें समाज के अनेक रीति–रिवाजों नियमों में बाँधकर जकड़ दिया जाता था और स्त्रियाँ इतनी शक्तिशाली नहीं होती थी कि वे अपनी स्वतंत्रता के लिए आवाज उठा सके। इसके लिए सबसे बड़ा कारण अशिक्षा को माना जा सकता है। महिलाओं को शिक्षा से वंचित रखा जाता था जिसके फलस्वरूप स्त्रियाँ अपने अधिकारों एवं कर्तव्य के प्रति सचेत नहीं हो पाती थी और न ही अपने अपने अधिकारों के लिए लड़ पाती थी।

विधवा स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने के लिए उन्हें शिक्षित करना होगा तभी वे अपने जीवन की सार्थकता को समझ पाएँगी। शिक्षित विधवा स्त्री अपने जीवन निर्वाह के लिए किसी पर निर्भर नहीं रह सकती वह अपने शिक्षित होने पर घर समाज में अनेक कार्य कर सकती है। जैसे–विद्यालयों में बच्चों को शिक्षा देने का कार्य, अस्पतालों में रोगियों की सेवा करने जैसे अनेक कार्य कर सकती है। लेखक श्रीयुत हरि रामचंद्र जी भी इसी मत से सहमत है और वे भी विधवा स्त्रियों की शिक्षा का समर्थन करते हुए 'मर्यादा' जुलाई 1915 के अंक में कहते हैं–"रोगियों की शुभूषा करने का काम स्वभावतः ही स्त्रियाँ अच्छी रीति से कर सकती है। उसमें भी विशेषतः जो मात्रा घिस देने में अधिक कौशल्य और परिश्रम की आवश्यकता नहीं, उसको तो अत्यंत सुगमता से करने के योग्य स्त्री जाति ही है। क्या हमारी विधवा बहिनें यह सुलभ कार्य न करेगी? इस अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के कार्य को विद्वता की अपेक्षा नहीं, धन की आवश्यकता नहीं और शारीरिक शक्ति की भी जरूरत नहीं। केवल स्वार्थ, त्याग, अल्प, संतोष और कार्य पूर्ति की उत्कृष्ट लालसा की ही अपेक्षा है।"[29]

भारतीय सामाजिक मानसिकता स्त्रियों के इस कार्य को करने में निपुण और पुरुषों असमर्थ मानती है। क्योंकि पुरुषों के स्वाभाविक गुण इस कार्य की अनुरूपता से भिन्न हैं।

लेखक के शब्दों में–''पुरूषों के कुछ सहज गुण इस कार्य में बांधा डालते है। छोटे–छोटे गाँवों में जाकर बच्चों को शिक्षा देने का काम कठिन नहीं है। पर साहस प्रिय यश प्रार्थी पुराणों को आकर्षित करने योग्य गुण उनमें नहीं है। पुरुषों की महत्त्वकांक्षा को इसी कार्य के करने में योग्य विस्तार पाने का अवसर नहीं मिलता है और इसी कारण से थोड़े ही दिन में इस कार्य से उसका जी ऊब उठता है और अन्य देश हित के कार्यों की ओर उसका चित्र आकृष्ट होकर वह उस काम को छोड़ देता है। अन्य पाश्चात्य देशों में यह बाल शिक्षा का कार्य प्रायः स्त्री वर्ग के ही हाथ में है और इसका यही कारण है कि यह कार्य पुरुषों के हाथों से निभ नहीं सकता। अन्य कार्य जिनमें शारीरिक शक्ति, मानसिक सामर्थ्य तथा साहस की आवश्यकता है, स्त्रियों के हाथों से पार नहीं पड़ सकते। उनके लिए पुरुषों की ही अपेक्षा है। अर्थात् यह सहज काम स्त्री वर्ग को ही अपने हाथों में लेना चाहिए। फिर भी बच्चों को पढ़ाने के लिए जिस प्रेम और वात्सल्य की आवश्यकता है, वह भी पुरुष वर्ग से स्त्री वर्ग में अधिक होने के कारण इस कार्य के लिए स्त्रियाँ ही योग्यतर है।''[30]

20वीं शताब्दी की प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में अधिकांश विचारकों का स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाने का कोई मंतव्य नहीं झलकता। वह वैधव्य कर्तव्य से च्युत न हो जाए इसलिए उनके लिए नवीन कर्तव्य निर्धारित किए गए। यह 'मर्यादा' 1915 के अंक में श्रीयुत हरि रामचंद्र दिवेकर के लेख 'विधवा–कर्तव्य' से भली–भाँति ज्ञात होता है। वह लिखते हैं–''यदि विधवा स्त्रियाँ जिनका संसार पाश छूट जाता है, इस कार्य को हाथ में लें, तो उनकी आवश्यकताएँ कम होने से जो कुछ थोड़ी बहुत प्राप्ति हो उसी में वे संतुष्ठ रह सकती है और कार्य को भली भांति निबाह सकती है। हमारे गरीब गंवई के लोग धन नहीं दे सकेंगे पर यदि कोई वैराग्य युक्त विधवा स्त्री वहां जाकर उनके बच्चों को विद्यामृत पिलाने लगे, तो उसे वे भूखी या उघाड़ी कभी न रहने देगें। संसार पाश पीछे न होने से ये स्त्रियाँ मन पर धार ले तो इनमें संतुष्ठ रह सकती है।''[31] प्रश्न यहाँ यह है कि प्रारंभिक दशकों में विधवा स्त्रियों को उनके कर्तव्य याद दिलाकर उन्हें आत्मनिर्भर बनाना था या उन्हें यथास्थिति का आदी बनाना क्योंकि जहाँ श्रम का मूल्य निर्धारित न हो वहाँ आत्मनिर्भरता का प्रश्न ही नहीं उठता।

5.3 स्त्री कर्तव्य एवं दायित्व के मायने

किसी भी देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उस देश के स्त्री–पुरुष मिलकर देश की उन्नति के लिए प्रयास करें। जब तक दोनों मिलकर प्रयत्न नहीं करते तब तक वह संसार के राष्ट्रों में उच्च स्थान ग्रहण नहीं कर सकते। स्त्री पुरुषों को किस प्रकार मिलकर कार्य करना चाहिए इस विषय के संबंध में मतभेद हो सकता है और भिन्न–भिन्न समाजों ने इस विषय पर भिन्न–भिन्न दृष्टियों से विचार किया है। पर इस बात से सभी लोग सहमत है कि राष्ट्रीय उन्नति के लिए जिस प्रकार उच्च श्रेणी के मनुष्यों की आवश्यकता है उसी प्रकार उच्च श्रेणी की स्त्रियों की भी आवश्यकता है। आज की स्त्री किसी भी क्षेत्र में पुरुष वर्ग से पीछे नहीं है। लेखिका ताराबाई शिंदे भी इस बात को स्वीकार करती हुई स्त्री–पुरुष समानता पर अपना मत रखती है–"आज की नारी सुशिक्षित होकर पुरुषों की बराबरी कर रही है। जो कार्य पुरुष करता आया है, वह आज नारी भी आसानी से आत्मविश्वास के साथ कर रही है। बच्चों को सुसंस्कृत करने की जिम्मेदारी भी उसकी है। फिर भी समाज में उसका स्थान गौण ही है। पुरुष प्रधान संस्कृति ने स्त्री को आज भी हीन ही समझा है।"[32] आज आधुनिक भारत वर्ष में स्त्रियों का स्थान अप्राकृतिक और अनिश्चित है और उसका मुख्य कारण श्रीमति एनी बेसेंट मानती है कि–"पिछली शताब्दी में भारत वर्ष में दो सभ्यताओं के साथ–साथ प्रचार रहा है और देश की अवस्था के कारण पुरुषों का चरित्र एक सभ्यता से और स्त्रियों का चरित्र दूसरी सभ्यता से संगठित हुआ है। सब बातों में स्त्रियाँ अपनी पूर्वीय बातों को ग्रहण करती रही, साथ ही पुरुष पश्चिमी बातों को ग्रहण कर रहे है इसी कारण आपस में स्त्री–पुरुष मिलकर कार्य नहीं करते हैं।[33]

वास्तविकता देखी जाए तो आज भी हमारे समाज में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी नहीं है। आज भी उन्हें पुरुषों के समान पूर्णतः अधिकार नहीं दिये गए। कहीं उनके साथ घर की सजावटी वस्तु के समान आचरण किया जाता है या कहीं घर की चौकीदारी के लिए विशेष रूप से नियुक्त होती हैं। आज की स्त्री शिक्षित होकर अपने अधिकारों की माँग करने लगी है लेकिन 19वीं व 20वीं सदी की स्त्रियों की स्थिति सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक सभी जगह बहुत ही सोचनीय थी। सामाजिक स्तर पर उन्हें समाज की पुरानी परंपराओं, रूढ़ियों, रीति–रिवाजों, अंधविश्वासों में जकड़ कर रखा जाता था। उन्हें केवल घर

की चारदीवारी में पर्दे में रहने का अधिकार था और पति की सेवा करना, संतान उत्पन्न करना उनका मुख्य कार्य होता था। वहीं धार्मिक एवं आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं होता था।

श्रीमति कमला देवी श्रीवास्तव स्त्री–पुरुष के अधिकारों की असमानता के संबंध में कहती है–"स्त्रियों की हीनता सिद्ध करने में ही सामाजिक स्थिरता की पराकाष्ठा समझी जाती है। हमें नीचे दर्जे का प्राणी साबित करने के लिए स्वार्थी पुरुष धार्मिक पुस्तकों के प्रमाण देते हैं, सामाजिक अशांति के नाम पर लोगों से अपील कर उन्हें भयभीत करते हैं नवीनता की दोहाई कर लोगों को चौकातें है और स्त्रियों को इसी पतित अवस्था में बनाए रखना अपना परम कर्तव्य समझते हैं।"[34]

निसंदेह स्त्रियाँ आज भी गिरी दशा में हैं। पुरुष स्त्रियों पर अत्याचार करते हैं। घर की चाररदीवारी के भीतर की दुनिया चूल्हा–चौका, बर्तन, घर–परिवार आदि ने स्त्रियों की दशा ऐसी कर रखी है जिसमें वे पुरुष की दया की पात्र दिखाई देती हैं। घरेलू हिंसा के विषय में बहुत सुना है लेकिन एकल घरेलू कर्तव्य और दायित्व स्त्रियों पर अहिंसात्मक प्रहार हैं। 'यह हिंसा से कहीं क्रूरतम है। इसमें स्त्रियाँ पल–पल घुटती हैं और अंत में दम तोड़ देती है। स्त्री को देव तुल्य बनाने–मानने वाले अपंग मनोवृत्ति के लोगों के लिए किसी स्त्री को देवी बनाना काफी नहीं है। उन्हें उनके अधिकार देने चाहिए जो कल्पनीय है। इसलिए स्त्रियों का कर्तव्य स्व–विकास की ओर आगे बढ़ना है। प्रभा खेतान के शब्दों में–''लोग हमें स्वप्नद्रष्टा कह सकते हैं क्योंकि औरत में कोई परिवर्तन नहीं आ सकता जब तक कि समाज को उसको पुरुष के बराबर अधिकार एवं समानता नहीं देता। यदि किसी जाति को लगातार हीन–अवस्था में रखा जाये तो सही बात है कि वह हीन ही रहेगी किन्तु मानवीय स्वतन्त्रता इस सीमा को तोड़ सकती है। आप अधिकार तो दीजिये, उपयोग करना स्त्री स्वयं सीख जायेगी। सच्चाई तो यह है कि दमनकर्ता कभी भी आगे बढ़कर अकारण उदारता नहीं दिखायेगा किन्तु कभी तो दमित के विद्रोह और कभी स्वयं सुविधा प्राप्त वर्ग के अपने विकास से नई स्थितियाँ जन्म लेती हैं। इन नई परिस्थितियों की अपनी माँगें होती हैं जिनको पूरा करने के लिये पुरुष स्वयं स्त्री को आंशिक मुक्ति देने के लिए बाध्य होता है। यह तो औरत का कर्तव्य है कि वह विकास की दिशा में आगे बढ़ती रहे और मिलने वाली असफलताओं से

उत्साहित होती रहे। इसमें कोई संदेह नहीं कि एक न एक दिन वह पुरुष के बराबर सामाजिक और आर्थिक समानता पायेगी जिसके कारण उसकी आन्तरिकता में एक नया रूपान्तरण घटित होगा।''[35]

समाज के विकास के साथ–साथ व्यक्तियों के संबंध में भी अंतर पड़ गया। अकेला व्यक्ति मानव जीवन के प्रत्येक भ्रम की उचित पूर्ति करने में स्वयं को असमर्थ पाने लगा और इसी अभिप्राय से समाज का कार्य बाँट दिया गया। अलग–अलग लोग, अलग–अलग श्रेणी के काम करने लगे। अपने–अपने कार्यों में अपने–अपने लोगों को श्रेष्ठ मानने लगे और दूसरे लोगों को अपने से निम्न श्रेणी का मानने लगे। यही समस्त सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक भेदभाव की जड़ थी। इन सभी बातों पर ध्यान दिया जाता है तो प्रश्न उठता है कि अगर स्त्रियाँ पुरुषों के बराबर थी तो क्या कारण हैं कि वे इतनी असहाय अवस्था में पहुँच गई? अर्थात् स्त्रियों की स्थिति बिगड़ती चली गई? यदि इन सभी प्रश्नों का उत्तर देना चाहे तो वर्ग भेद इन सभी प्रश्नों का उत्तर होगा। वर्ग भेद के कारण समाज में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने से छोटा मानने लगा और स्वयं को सबसे बढ़कर।

मनुष्य जन्म से स्वतंत्र होता है, परंतु सांसारिक बंधनों में पड़कर वह ऊँच–नीच का भेदभाव करने लगता है। सामाजिक त्रुटियों के कारण वह अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास नहीं कर पाता और निम्न श्रेणी का मनुष्य हो जाता है। अवसर का न मिलना ही बहुत कुछ इसका जिम्मेदार है। जिन जातियों को आत्मनोन्नति के अवसर अधिक मिलते है वही आज उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर चढ़ी हुई है। वे जातियाँ जिनकी उन्नति के द्वार को अवरुद्ध कर रखा है दूसरों से दबी हुई है और वही नीच मानी जाती है। उन जातियों के व्यक्ति दायित्वपूर्ण कामों के अयोग्य समझे जाते है। यही स्थिति स्त्रियों की भी है। उन्हें उन्नति के पथ पर आगे नहीं आने दिया जाता। पुरुष की मानसिकता यही रही है कि उन्नति केवल पुरुष ही कर सकता है, यह उसका अधिकार है; स्त्रियों को उन्नति का कोई अधिकार नहीं है; स्त्रियाँ मात्र घर की देखभाल, माँ–बाप अथवा सास–ससुर की सेवा, बच्चों के लालन–पोषण, पति को संतुष्ट करने के लिए जन्मी है। पुरुष मानसिकता से अवगत कराते हुए श्रीमति कमला देवी श्रीवास्तव लिखती हैं–"पुरुष अधिक बलवान है, शक्ति सम्पन्न है और इसी कारण अपने को स्त्रियों के भाग्य का फैसला करने का हकदार समझते हैं।"[36] लेखिका

के इस कथन का सटीक उत्तर यह हैं कि स्त्रियों को जब भी अपनी शक्ति, अपने सामर्थ्य को दिखाने का अवसर मिला है तब–तब स्त्रियों ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन बखूबी किया है। उदाहरण के तौर पर रानी लक्ष्मीबाई, रानी कैकेयी, मीराबाई, अहिल्या बाई, रजिया बेगम आदि के नाम ले सकते हैं। इन सभी महान स्त्रियों के नामों को आधार बनाकर इस बात पर ध्यान दिया जा सकता है कि यदि स्त्रियों की दशा सुधारी जाए और उन्हें भी चेतन प्राणी मानकर समाज में बराबर अधिकार दिए जाए तो न उन्हें भार स्वरूप समझा जाएगा, न तिरस्कृत किया जाएगा। स्त्री स्वयं अपनी स्वामी होगी, उसका कोई पुरुष स्वामी नहीं कहलाएगा।

क्या कारण है कि नवजागरणकालीन दौर में स्त्रियों को अपने अधिकारों के लिए स्वयं लड़ना पड़ा। कारण स्पष्ट है–भारतीय समाज सुधारकों में कुछ सुधारक ऐसे भी थे जो बाहरी तौर पर स्त्रियों की स्वतंत्रता का समर्थन करते थे लेकिन वास्तविकता में स्त्रियों की स्वतंत्रता के पक्षधर नहीं थे। उनकी कथनी और करनी में अन्तर होता था। ऐसी स्थिति में स्त्रियों का अपने उद्धार के लिए किसी मसीहा का इंतजार करना व्यर्थ था। वह अपनी जाति उद्धार की मसीहा स्वयं बनीं। उन स्त्रियों में प्रमुख नाम हैं–रमाबाई, सावित्रीबाई फुले, ताराबाई शिंदे, अज्ञात महिला आदि। ताराबाई समाज सुधारकों के विषय में स्वयं लिखती हैं–"ये पुरुष सुधारक बड़े विद्वान और महान है, फिर भी जातिप्रथा के नियमों का उल्लघंन करने में इतना डरते है। विधवा हो गई स्त्री का पुनर्विवाह कराने की हिम्मत नहीं जुटा पाते।"[37] ताराबाई ने समाज सुधारकों की शानदार पोशाकों और उनकी शौकीनी का चित्र खींचते हुए वाहवाही लूटने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए पचास सालों से चल रहे उनके आंदोलन को स्त्रियों के लिए निरर्थक घोषित किया। वे कहती हैं–"तुम लोग बड़ी–बड़ी बातें करते हो, पर कोई उन पर अमल भी करता है? तुम लोग बड़ी–बड़ी सभाएँ करते हो, उन सभाओं में सुन्दर शॉले ओढ़ कर और सिर पर कढ़ाई की हुई पगडंड़ियाँ पहनकर जाते हो, ढ़ेरों सुपारी चबा जाते हो, हर वक्त पान खाते रहते हो, सैकड़ों मालाएँ गले में पहन लेते हो, हौज भर कर इत्र उडेल लेते हो और फिर सभाओं से वापस घर आ जाते हो। बस, इतना ही तुम लोग करते हो। पिछले चालीस पचास सालों से तुम्हारी बड़बड़ करने वाली सुधार सभाएँ चल रही है। इसका फायदा क्या है? तुम सब खुद की अपनी पीठ थपथपाते रहते हो।"[38] इस कारण स्त्री ने आगे रहकर भी पुरुषों से एक कदम पीछे ही अनुभव किया। साद के दर्शन की भांति स्त्री

के कर्तव्य एवं दायित्व नैतिक शून्य से तैयार होते हैं। नई चेतना के सहारे इन्हें एक दूसरे के अनुकूलित करने का प्रयास निरंतर चलता रहता है। वास्तव में इन्हें स्त्रियों के विरुद्ध उनके शोषण के शस्त्र रूप में प्रयोग किया जाता है। ताराबाई शिंदे के मन में स्त्री पुरुष की असमानतापूर्ण व्यवहार को लेकर क्षोभ है। वह समाज में स्त्री के अधिकारों पर बात करती है एवं पुरुषों को धिक्कारती है जो नैतिक 'मर्यादा' के बल पर स्त्री को कभी अपने से आगे नहीं बढ़ने देना चाहता। लेखिका ऐसे पुरुषों के संबंध में कहती हैं–"इतने सारे अवगुण नारी के माथे पर थोप कर क्या तुम पुरुष सद्‌गुणों के बुत बन गए हो? तुम्हारे विचारों से यदि नारी तुम्हारा पुण्य वृक्ष काटने वाली कुल्हाड़ी है तो अपनी निर्मिति का अधिकार तुमने उसे क्यों दिया है? कम से कम यह तो मत भूलों कि तुम्हारा जन्म भी उसी की कोख से हुआ है।"[39] स्त्री इस संसार की जननी है। स्त्री ही संसार के जीवन चक्र को चलाती है। आज की स्त्री सभी क्षेत्रों में पुरुषों के बराबर है वह किसी भी क्षेत्र में किसी भी रूप में पुरुषों से कम नहीं है। स्त्री उद्धार के लिए सब क्षेत्र खुले रहने चाहिए। जीवन को परिपूर्ण बनाने में स्त्री–पुरुष का सहयोग अवश्यक है। पुरुषत्व और स्त्रीत्व दोनों का उत्सर्ग एक–दूसरे को तुच्छ दर्शाने में नहीं होता बल्कि उनकी एकता एवं बराबरी में है।

ताराबाई शिंदे लिंग भेद के आधार पर स्त्री पुरुष के अधिकारों में फर्क करने और दोहरे मापदंड बरतने के विरुद्ध आवाज उठाती हुई अंग्रेजी राज की स्त्री शिक्षा के प्रति उठाए गए कदमों की सराहना करती है–"पुरुष अपने आपको स्त्रियों से इतना भिन्न क्यों समझता है? स्त्री की तुलना में वह खुद को इतना महान और बुद्धिमान क्यों मानता है? अगर वे इतने ही महान और हीरो है तो अंग्रेजों के गुलाम कैसे बन गए? उनके बीच ऐसी क्या भिन्नता है कि पत्नी के मरने से पति पर कोई आफत नहीं आती वह जब चाहे दूसरा विवाह कर ले, पर पति के मरने से विधवा स्त्री को ऐसे–ऐसे दुःख दिये जाते हैं मानों उसी ने पति को मारा हो? ये दोहरे मापदंड क्यों जबकि स्त्री पुरुष की यौन इच्छाओं में कोई भेद नहीं? ऐसी विधवा होने से अच्छा तो सती होना है। धर्माचार्यों ने शास्त्रों में सब नियम पुरुषों की सुख–सुविधा का ख्याल रख कर बनाए हैं, स्त्रियों को नहीं इनके मुकाबले ब्रिट्रिश शासन के कानून ज्यादा अच्छे है, जिन्होंने स्त्रियों की दशा में सुधार और उन्नति के लिए रास्ता खोल दिया है। ईश्वर अंग्रेजी राज को सदा बनाए रखे।"[40]

भारतीय समाज में ब्रिट्रिश शासन व्यवस्था ने शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत लोगों को शिक्षित करने का कार्य किया। स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करने में पीछे नहीं रही जिसके परिणामस्वरूप उनकी स्थिति में सुधार आने लगा। ब्रिट्रिश शासन की नई शिक्षा और कानूनों में उन्नति के जिन नए अवसरों और साधनों को पेश किया उनका सारा फायदा पुरुष अपने लिए बटोर लेना चाहते थे और स्त्रियों को जहाँ तक संभव हो सके उससे वंचित रखने की कोशिश कर रहे थे। नए शिक्षित समाज के बीच पुरुष अपना महत्त्व बनाने के लिए खुद को मिस्टर, सर और ऐसी ही दूसरी उपाधियों से विभूषित कराने के फेर में घूमते–फिरते है। वे बचपन से ही सारे अधिकारों को अपने हाथों में जमा करते जाते थे किंतु स्त्रियों को इस हलचल भरी दुनिया से दूर अंधेरे कोने में धकेल, परदे में छिपा कर उन पर ऐसा प्रभुत्व जमा कर रखते है मानों वह गुलाम हो। भारत में ब्रिट्रिश शासन कायम होने से दलितों और शूद्रों की तरह स्त्रियों की हालत में भी तब्दीली आनी शुरू हुई। आधुनिक शिक्षा ने स्त्रियों के अंदर नई हलचल पैदा कर दी। ताराबाई शिंदे बताती है–"जब से यह राज हुआ, स्त्रियों को शिक्षा का वरदान मिला और उनमें इतनी मानसिक दृढ़ता आई कि वे हर तरह की मानसिक और व्यवहारिक कठिनाईयों का हिम्मत से मुकाबला कर सके। उनके दिल–दिमाग में घर बना कर बैठा अज्ञान का अंधकार दूर हुआ और उनमें यह समझ आनी शुरू हुई कि उनके लिए क्या भला और क्या बुरा है? किससे कैसा बर्ताव करना चाहिए और जीवन की गाड़ी सही ढंग से कैसे चलानी चाहिए? उन्हें इसकी कुछ–कुछ समझ आने लगी कि सत्य क्या है? धर्म और पतिव्रत क्या है? इन सबसे भारत देश में काफी चीज़ें बदलने लगी हैं।"[41]

घर–गृहस्थी को सामंजस्यपूर्ण तरीके से सँभालना; स्त्रियों का एकल प्रयास है। इससे स्त्री का वजूद चूर–चूर हो जाता है। स्त्रियाँ अपने वजूद को मारकर अकेली इस भार को वहन आखिर क्यों करें? अनामिका के शब्दों में कहे–''सहिष्णुता, धीरज, ममता, क्षमा, उदारता, सेवा उत्कृष्ट मानव–मूल्य या आध्यात्मिक मूल्य तो है ही (हिंदी में प्रायः सब मूल्य स्त्रीलिंग ही हैं), किंतु इन सारे मूल्यों का निवेशन सिर्फ स्त्री में हो, क्योंकि स्त्री संस्कृति की प्रहरी है, संस्कृति जो कि संप्रभुओं की क्रीतदासी है, यह तर्क कहीं से भी लें अगर तो वे प्रेम करने लायक (अपनी नैतिक कद–काठी का) पुरुष कहाँ से पाएँगी? अपने से कमतर पुरुष से स्नेह तो किया जा सकता है, उस पर ममता तो लुटाई जा सकती है, किंतु प्रेम सुलगाने लायक जो प्यारी–सी चुनौती सामने वाले के व्यक्तित्व में चाहिए, उसके बिना प्रेम तो असंभव है।''[42]

किसी न किसी को बराबर आने की पहल करने पड़ेगी। पुरुष इसलिए नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करना पुरुष के मूल्यों के विरुद्ध है। इससे उसे कोई हानि नहीं होती और न समाज में तिरस्कारपूर्ण/शोषणपूर्ण जीवनयापन करना पड़ता है। इस कारण वह कभी इस पर आपत्ति जाहिर नहीं करता। स्त्रियों की भलाई इसी में है कि स्त्रियों को अपनी एकल श्रेष्ठता (दैवीय गुण, नैतिक मूल्य, कर्तव्य एवं दायित्व) का त्याग कर मानवीय श्रेणी में आने का प्रयास करना होगा। अपनी मानवीय गरिमा की रक्षा करनी होगी।

संदर्भ सूची

1. Dr. Amitabh Mukherjee, Women in Indian Life: Women in Indian Life and Society, pg. 275
2. आशा रानी व्होरा, नारी विद्रोह के भारतीय मंच, पृ. 155
3. Rajmohini Seth, Modernization of Working Women in Developing Societies, pg. 48
4. स्त्रीदर्पण, मई 1917, पृ. 253–254
5. वही, पृ. 231–232
6. स्त्रीदर्पण, अप्रैल 1917, पृ. 221
7. सरस्वती, जून 1917, पृ. 308
8. मर्यादा, अगस्त 1915, पृ. 114
9. हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1907, पृ. 8
10. सरस्वती, जून 1917, पृ. 306–307
11. मर्यादा, अगस्त 1915, पृ. 116

    'बालक भविष्य की प्रजा हैं। उन पर सारे जगत् का आधार है। इस बात का विस्मरण हो जाता हे। बारह 2 बरस की गुड्डे–गुड़ियों के खेल में लगी हुई लड़कियां माता बन जाती है। वे किस रीति से इस कर्तव्य की गंभीरता समझ सकती हैं? बालक एक प्रकार का खिलौना है और उसी तरह से पाला पोसा जाता है यह एक बड़ी भूल है। उसकी तन्दरूस्ती के लिये बहुत सावधान रहना पड़ता है। कन्याशालाओं में इस विषय का पूर्ण शिक्षण देना उचित है। जब कभी बालक माता को कामकाज में हैरान करता है, या देवदर्शन को जाने से रोकता है, या रात को निद्रा में खलल डालता है तो वे लड़कों को अफीम खिलाती हैं। यह रिवाज बहुत ही हानिकारक है। बालक का शरीर बहुत ही खराब हो जाता है। यदि माताएँ इस अफीम खिलाने की प्रथा को न छोड़े ंतो सरकार को इसके छुड़ाने का प्रबन्ध करना चाहिए।''
12. स्त्रीदर्पण, मार्च 1919, पृ. 141
13. मर्यादा, अगस्त 1915, पृ. 117
14. हिन्दी प्रदीप, जुलाई 1907, पृ. 8
15. वही

    ''घर के टहलुये और टहलिनियों को अपने कस में रखने को थोड़ा गणित भी अधिक नही ंतो त्रैराशिक तक बहुत आवश्यक है जिसमें घर गृहस्थी का ख़रच बरच लिख लिया करे।''
16. सरस्वती, जून 1917, पृ. 307
17. स्त्रीदर्पण, अक्टूबर 1920, पृ. 242
18. सरस्वती, जून 1917, पृ. 307–308
19. स्त्रीदर्पण, मार्च 1917, पृ. 143
20. वही, मई 1917, पृ. 124–125
21. सरस्वती, जून 1918, पृ. 175–176
22. मर्यादा, अगस्त 1915, पृ. 117
23. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 29

24. स्त्रीदर्पण, मई 1917, पृ. 123–124
25. Martha Alterchen, Widows in India, Social Neglect and Public Action, pg. 26
26. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 78
27. वही
28. वही, पृ. 79
29. वही, पृ. 80
30. वही, 1915, पृ. 80
31. वही, पृ. 80
32. ताराबाई शिंदे, स्त्री–पुरुष तुलना, पृ. 9
33. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर, 1915, पृ. 63
34. वही, पृ. 60
35. सीमोन द बोउवार, स्त्री उपेक्षिता, डॉ. प्रभा खेतान, पृ. 344–345
36. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 61
37. ताराबाई शिंदे, स्त्री–पुरुष तुलना, पृ. 53
38. वही, पृ. 54
39. वही, पृ. 33
40. वही, पृ. 52
41. वही, पृ. 55
42. अनामिका, स्त्री विमर्श की उत्तर–गाथा, पृ. 12

कभी–कभी मनुष्य अपने जीवन को सुखदायी एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए ऐसे–ऐसे विधानों की सृष्टि का निर्माता बन जाता है जिसका मानव जीवन में महत्त्व न के बराबर होता है। धर्म ऐसे विधानों में से एक है। सभ्यता के आरंभिक दौर में यह मानव की सहज प्रवृत्ति के रूप में उभरा।[1] यह सभ्यता के चर्मोत्कर्ष विकास में पहुँच कर मानव को अनुशासित करने वाला बन गया। इसने समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए सामाजिक धर्मधारों का साथ देकर धर्म विधान पर बल दिया। आज प्रत्येक धर्म अन्य धर्मों से श्रेष्ठता दिखाने का प्रयास करता रहता है। यह व्यक्ति की आस्था का प्रतीक बन गया है। इसके समक्ष व्यक्ति की अपनी निजी कोई पहचान नहीं है। उसका धर्म उसकी पहचान है। इसे ठेस पहुँचाने का अर्थ व्यक्ति को चोटिल करना है। भारतीय जन–जीवन अपने व्यवहार में धर्म को इस अंश तक समाहित किए हुए है कि उसने इसके प्रति कभी जकड़न अनुभव नहीं की। समाज में घटित होने वाली छोटी–बड़ी घटनाओं के पीछे अधिकतर इसी का हाथ होता है। धर्म संकीर्ण अर्थ में मानव धर्म को वर्णाश्रम में बाँटने वाला है। मानव धर्म के अंतर्गत ब्राह्मण धर्म, वैश्य धर्म, क्षत्रिय धर्म और शूद्र धर्म की निर्मिति है। सभी के लिए इसके मायने अलग–अलग हैं। सामाजिक व्यवस्थापकों ने जब आधे से ज्यादा वर्ग को स्वतंत्र देखा तब उन्होंने स्त्री धर्म विधान का गठन किया। हालांकि स्त्री का काई धर्म नहीं है। वह किसी जाति का हिस्सा नहीं कहलाती है। इस दृष्टि से धर्म का स्त्री जीवन में कोई सरोकार नहीं होना चहिए। किंतु यह वास्तविकता नहीं है। उसे भी धर्म के आधार पर बाँटा गया है। वह संपूर्ण धार्मिक व्यवस्था की धुरी है। इसी के द्वारा समाज का सत्ता इच्छुक वर्ग का आज तक अपने वर्चस्व का पताका लहराए हुए है। स्त्री को 'धर्म' की निर्मात्री न सही, पुरुष की अर्धांगिनी होने के नाते धर्मपालन की अधिकारिणी माना गया है। धर्मशास्त्र में उसे धर्मपत्नी कहा गया है अर्थात जिसे धर्म अनुसार ग्रहण किया गया हो। धर्म को पंडिता रमाबाई के इन शब्दों से समझा जा सकता है। वह लिखती हैं–''हर रिवाज़ जब इतना पुराना हो जाता है कि उसे 'पूर्वजों की पद्धति या पूर्वजों के द्वारा काम करने की पद्धति' की पदवी दे दी जाती है तो धर्म का रूप ग्रहण कर लेता है और कड़ाई से इसके अनुसार चला जाता है। अधिकांशतः परंपराओं से स्थापित ये रिवाज़ आचार–संहिताओं से पूर्णतया स्वतंत्र होते हैं। इस सीमा तक स्वतंत्र होते हैं कि एक व्यक्ति को दंड दिया या उसका बहिष्कार

किया जा सकता है––यदि वह रिवाज़ों द्वारा निषिद्ध कार्यों को करता है। यद्यपि धर्म इसकी अनुमति देता हो।''[2] स्त्री धर्म मजहबी दायरे से अलग की चीज है। वह 'धर्म' की भाँति रिवाजों पर मोहताज नहीं, तब भी धार्मिक अनुयायियों जैसी पूरी निष्ठा स्त्रियों में स्त्री धर्म के प्रति मिलेगी। एक प्रकार से स्त्री धर्म दैनिक क्रियाकलाप है। स्त्री जीवन में इनके रूढ़ हो जाने पर इन्होंने स्त्री धर्म का रूप ग्रहण कर लिया या इन्हें स्त्री धर्म से जोड़कर देखा जाने लगा। भारतीय धर्मशास्त्र स्त्री धर्म की भरमार है। धर्मशास्त्रों के अनुसार स्त्री धर्म स्त्रियों को संयमित एवं सुरक्षित रखता है। स्त्रियों ने जब–जब सामाजिक मान्यताओं, परंपराओं, मर्यादाओं आदि के प्रति अपना विद्रोह प्रकट किया है तब–तब कहीं न कहीं उनका धर्म उन्हें रोकने का प्रयास करता है। धर्माधिकारियों द्वारा स्त्री धर्म की निर्मिति यथास्थिति को बनाए रखने की चाल मात्र के अलावा कुछ नहीं है।

6.1 स्त्री धर्म का सवाल

मानव इतिहास के पृष्ठों में 20वीं शताब्दी सामाजिक विकास में बाधाएँ उत्पन्न करने वाली समस्याओं के रूप में स्त्री जीवन प्रश्नों में सक्रियता दिखाए जाने के कारण सबसे महत्त्वपूर्ण कही जाने वाली सदी है। एक मनुष्य की दुनिया में दूसरे मनुष्य द्वारा स्वयं को मनुष्य साबित करने वाली सदी। भारतीय स्त्रियों के प्राचीन परंपराओं, रूढ़ियों से जुड़ाव के कारण प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं के लिए स्त्री जीवन से जुड़े प्रश्नों को जानने की आवश्यकता के अलावा स्त्री उन्नति मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाली मूल समस्या को जानकर उस पर कुठाराघात करने की आवश्यकता थी अथवा ऐसे नवीन नैतिक मूल्य बनाने की आवश्यकता थी जो स्त्री जीवन को लाभ पहुँचा सके। प्रांरभिक दशकों की पत्रिकाओं को देखकर यह आश्चर्य होता है कि भारतीय स्त्रियों द्वारा प्राचीन परंपराओं, रूढ़ियों, मान्यताओं को मानने का कारण उनका स्त्री धर्म प्रेम है। यह स्त्री की इच्छा–अनिच्छा दोनों पर टिका होना चाहिए। अफसोस यह स्त्रियों पर हमेशा आरोपित होता आया है। सदियों बाद स्त्री संबंधी वैचारिता ने समय की धारा को अपने पक्ष में मोड़ने का प्रयास किया है। वैचारिक पत्रिकाओं के अतिरिक्त स्त्रियों द्वारा संपादित पत्रिकाओं ने अहम् भूमिका निभाई। फरवरी 1917 के अंक में 'स्त्रीदर्पण' की संपादिका पत्रिका के उद्देश्य को रेखांकित करते हुए जिस स्त्री धर्म की बात करती हैं वह

अवलोकनीय है–''स्त्रीदर्पण तो केवल धर्म और सेवा ही करना सिखाता है और स्त्रियों को यही उपदेश देता है कि हर एक बात में अपने पुरुषगण की सहायता करें। केवल गूंगे पशुओं की भांति टूटी गाड़ी के घसीटने में अपना सारा बल न खा दें। स्त्री जाति को चार–दीवारी में कैद में रखने और उनका बल केवल चौके बर्तन में ख़र्च करने से हमारे पुरुषगण स्वयम् काम पूरा नहीं कर सकते। यदि वह देश सेवा को तैयार भी हों तो क्या वह हम से हमारी इस गई बीती दशा में आशा कर सकते हैं कि हम उन को उस कठिन कार्य के करने की हिम्मत दिलावेंगी अथवा स्वयम् सीता की तरह उन के साथ कष्ट भोगने को तैयार होगी।''[3]

स्वतंत्रता आंदोलन के बाद पुरुषों के समानांतर स्त्रियों द्वारा समाज में अपनी भूमिका दर्शाने का सिलसिला आरंभ हो गया था। तत्कालीन समय में अब प्रश्न यह था कि स्त्रियाँ मौजूदा स्थिति में इसे कैसे रखें क्योंकि स्वतंत्र सामाजिक, आर्थिक मानसिकता वाला व्यक्ति ही स्वतंत्र भारत की कामना कर सकता है या पूर्णतः भागीदार बन सकता है। इसलिए स्त्रियों में देश भक्ति से ज्यादा स्वजातीय की स्वाधीनता की भी चिंता थी। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका के लिए स्त्रियों का धर्म सिखाना काफी नहीं था। वह स्त्रियों से इतर भारतीय पुरुषों को उनका धर्म सिखाती है। संपादिका लिखती हैं कि–''जैसा हमारा धर्म है कि हम औरों को धर्म सिखावें वैसा ही औरों का धर्म है कि यदि हम भूल पर हों तो हम को ठीक रास्ते पर लावें। इस से दोनों तरफ़ के लोग लाभ उठावेंगे और देश की उन्नति होगी।''[4]

20वीं शताब्दी नवीन भारत की शताब्दी है। भारतीय समाज अँधाधुँध दौड़ का हिस्सा नहीं रह गया था। वह तर्क–वितर्कों को सामने रखकर सही–गलत की पहचान करने लगा था। हिंदू धर्म की सबसे प्राचीन एवं प्रचारित आचार संहिता 'मनुस्मृति' को संदेहात्मक दृष्टि से देखे जाने के कारण एक ओर विधि–विधानों का विरोध होने लगा दूसरी ओर आचार संहिताओं के विधि–विधानों में परिवर्तन की पूरी तैयारी हो गई। इसे चाहे पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव कहा जाए परंतु 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में यह बदलाव पुरातन समाज की सहज प्रवृत्ति के बिलकुल विपरीत था; पुरुष भी इसके प्रभाव से नहीं बच पाए। उन्हें यह जल्दी आभास हो गया कि आज का समय सामाजिक

बदलावों का समय है। सामाजिक बदलावों के साथ न चलना सामाजिक दौड़ में पीछे छूट जाना है इसलिए मनुवादी विचारों में बदलाव तत्कालीन समय की माँग थी। हिंदू धर्म की आचार संहिता 'मनुस्मृति' की परिवर्तित टीका 'सरस्वती' जनवरी 1915 के अंक में शीर्षक 'मनु का नारी धर्म्म' नामक लेख में मिलती है। इसके विधानों को परिवर्तित करने का कारण देते हुए लेखक का कथन है कि–''सम्भव है, विदेशियों के सम्पर्क से सुधार–सम्बन्धी अशुद्ध भाव हम नव–युवकों के हृदय में प्रवेश पा गये हों। सम्भव है, अँगरेज़ी सभ्यता की बू हमें लग गई हो। सम्भव है, स्त्री–जाति के विषय में ऐसे विचार व्यक्त करके हम अपने ही ऊपर कुठाराघात करते हो। स्त्रियों के अधिक स्वतंत्र हो जाने पर, सम्भव है, हमें पछताना पड़े। तथापि अपनी सम्मति का प्रकाश ही अच्छा है। यदि वह उपयोगिनी होगी तो आद्वत होगी। यदि हानिकारक होगी तो उसकी काँट–छाँट हो जायगी। यदि मनु महाराज फिर जन्म लेते तो, मुझे विश्वास है, अपने पुराने नियमों को वे स्वयं ही बदल देते।''[5]

मनुवादी स्त्री धर्म स्त्रियों द्वारा निभाये जाने वाला धर्म है। स्त्रियाँ प्राचीनता से इस धर्म का प्रयोग करती है। यह धर्म स्त्री के जन्म से निर्धारित हो जाता है। निर्बल समाज स्त्रियों को सुरक्षा प्रदान करने के प्रयास में निर्बल समझता है। इसके बदले स्त्रियों को भारी ऋण चुकाना पड़ता है। उसे अपनी स्वयत्ता खोकर पुरुषों की सेवा में हाजिर रहना पड़ता है। इस धर्म ने स्त्रियों का जीवन अर्थहीन बनाकर छोड़ दिया है। यह स्त्री धर्म न होकर एक प्रकार का सेवा धर्म है–''यह धर्म शूद्र को बताए गए उसके सेवा–धर्म से भिन्न है, क्योंकि इसका आधार वर्ण नहीं, जाति नहीं, व्यवसाय नहीं, शुद्ध लैंगिक–भेद है। स्त्री को पुरुष के ब्रह्मचर्य से लेकर गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास जैसे आश्रमों की सुविधा देने के लिए मुस्तैद रहना पड़ता है। साथ ही पुरुष की सेवा के लिए जीवन की नैसर्गिक छूटों को स्वामी के खूंटों से बाँधा गया है। उसे धन जमा करने की मोहलत नहीं, पति की आज्ञा के बिना हिलने–डुलने की छूट नहीं। वह संतान पैदा करने और उसे पालने से लेकर पुरुष के लिए उत्तम रति के हवाले होती है।''[6] संसार के समस्त जीव स्वतंत्र रूप से जन्म लेते हैं। लड़की भी स्वतंत्र रूप से जन्म लेती है। धर्म, जाति, समुदाय, क्षेत्र, समाज से उसका कोई सरोकार नहीं होता। लेकिन जैसे–जैसे वह बड़ी होती जाती है उसके लिए समाज के नियम–कानून, खेल–खिलौने, संस्कार, क्षेत्र, समुदाय

आदि सब अलग होते जाते हैं। धीरे–धीरे परिवार में उसकी एक निश्चित भूमिका (माँ, बहन, बेटी, पत्नी, प्रेमिका) बनती जाती है। यही सीमित क्षेत्र उसका समाज या संसार होता है।

'स्त्री धर्म' की कड़ी में प्रथम धर्म 'पुत्री' का है। यहीं से स्त्री निर्माण की नींव खड़ी की जाती है। स्त्री जन्म से इस धर्म की अनुगामिनी हो जाती है। धर्म के नाम पर स्त्री जीवन को सीमितताओं में समेटने की कवायद में पिता 'पुत्री' का भार संभालता है। वह उसके जीवन से जुड़े तमाम निर्णयों को लेने का अधिकारी होता है। समस्त धर्मों में स्त्री को पिता, पति और पुत्र के अधीन अथवा इनके संरक्षण में रहकर आज्ञापालन करना अनिवार्य है। विवाह से पूर्व और बाद में स्त्री के भरण–पोषण, रहन–सहन, चाल–चलन, विवाह आदि का उत्तरदायित्व पिता का होता है। पिता उत्तरदायित्व की विरासत अन्य पुरुष पति पर छोड़कर निश्चिंत हो जाता है। पति जैसा हो अपने धर्म पर डटे रहकर धर्म का पालन करना ही पड़ता है। ऐसे ही यह विरासत पति से पुत्र पर आकर थमती है। इस धर्म के कारण आज भी कितनी ही स्त्रियाँ नरकीय जीवन जीने के लिए विवश है, 20वीं शताब्दी में थीं। निर्मूक पशु की भाँति आज्ञाकारी बनकर अपने जीवन को नष्ट कर देना वैयक्तिक समझदारी नहीं हो सकती। पशु भी अपना विरोध प्रकट करने के लिए कभी–कभी हिंसक हो जाते हैं स्त्रियाँ तो मनुष्य हैं। यह 20वीं शताब्दी में अन्याय के विरोध 'स्त्री विद्रोह' के रूप में फूटकर स्त्री को 'स्त्री' से परिचित कराता हुआ स्त्री धर्म के मायने सिखलाता है। यदि प्राचीन स्त्री धर्म स्त्रियों को परवश करता है तो प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में अभिव्यक्त नवीन स्त्री धर्म स्त्रियों को अन्याय एवं अनुचित के विरुद्ध विरोध करना सिखलाता है। इस क्रम में एक पुत्री का धर्म सबसे पहले आता है। अगस्त 1917 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका के अंक में श्रीमती हुक्म देवी की दृष्टि में मृतस्त्रीक विवाह एक कन्या का उसके माता–पिता द्वारा किये जाने वाला अनुचित विवाह है जिसका विरोध करना प्रत्येक पुत्री का धर्म है। वह लिखती हैं–''इस में सन्देह नहीं माता पिता की आज्ञा मानना पुत्र और पुत्री का कर्तव्य है, परन्तु जो धर्म के विरुद्ध हो उसको कदापि न माननी चाहिये। धर्म सब से प्यारी वस्तु है। धर्म के वास्ते मनुष्य को अटल बना रहना चाहिये जिस प्रकार अनेक हवा के झोंके पहाड़ को नहीं हिला सकते इसी प्रकार आप को भी धर्म के ऊपर कटिबद्ध हो जाना चाहिये माता पिता भय दिखावें लोभ दें

परन्तु मत घबराओं और उन की अधर्मयुक्त आज्ञा को मत मानो सदा इस का ध्यान रक्खो ''यतो धर्मस्ततोजयः'' अर्थ है जहाँ धर्म है वहाँ ही जीत है और धर्म के ऊपर दृढ़ रहो जितने महान पुरुष धर्म के ऊपर दृढ़ रहे हैं उनकी सदा जीत हुई है यह बात बिलकुल ठीक है जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। बस इसी विचार को सम्मुख रखती हुई धर्म पर डटी रहो आप की भी जीत होगी। बहुत सी कन्यायें माता पिता की धमकी से डर जाती हैं मत डरो चाहे वह लाख धमकावें धर्म के वास्ते हठ करना उचित है।''[7]

इसी के संदर्भ में 'सरवती' पत्रिका जनवरी 1915 के अंक में 'मनु का नारी धर्म्म' शीर्षक से लेख दृष्टव्य है। लेखक लिखते हैं कि–''बहुधा पिता, भाई इत्यादि योग्य वर को ही अपनी कन्या अथवा बहिन देते हैं। ऐसी दशा में कन्या के लिए कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं। पर लोभवश या और किसी कारण से जब निर्दोष कन्या को नरक–कुण्ड की आग में झोंक देते हैं तब भी यदि वह अपने पति की सेवा–शुश्रूषा करके उसे प्रसन्न रख सके तो हम उसे देवी ही कहेंगे। माता–पिता यदि ऐसा विवाह करने लगें तो लड़की को उससे अपनी रक्षा करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।''[8] बहुधा भारतीय समाज स्त्री को उसके त्याग, तपस्या, निष्ठा के लिए अपार सम्मान देता है परंतु विवाहिता स्त्री को इससे कहीं अधिक मिलता है। विधवा स्त्री का सम्मान तो भूल जाओ। कारण, भारतीय समाज उसे प्रत्येक रूप में धर्म/कर्तव्यों की देवी बनाकर रखना चाहता है। यह सच है 20वीं शताब्दी की पत्रिकाएँ स्त्री को धर्म एवं कर्तव्यों की देवी बनाकर रखना चाहती है। यहाँ उसका धर्म एवं कर्तव्य दोनों अलग है। स्वत्वों और अधिकारों की पहचान 'स्त्री धर्म' है और इनका जीवन में प्रयोग 'स्त्री कर्तव्य' होगा।

नवीन भूमिका में स्त्री धर्म की ऐतिहासिक भूमिका बनाए रखना आवश्यक था। नवीन सोच से उपजी इस युग की यह पहली पीढ़ी जो स्त्रियों के विषय में सोच रही थी। वह आगे आने वाली पीढ़ी में ऐसी विद्या प्राप्त शक्ति स्वरूप स्त्री को आदर्श रूप में चाहती थी जो उससे भी आगे आने वाली पीढ़ी के लिए आदर्श बन सके। इसी संदर्भ में 'स्त्रीदर्पण' 1917 के सितंबर अंक में 'कन्या आदर्श' नामक लेख में श्रीमती कैलाश रानी वातल लिखती हैं–''पहिला ललना–समूह जीवन क्षेत्र में आया विद्या थोड़ा बहुत सुधार

कर अच्छा बुरा उल्टा सीधा कार्य करके चलता बनेगा परन्तु आने वाला समूह तुम्हारा ही है तुम्हारी ही गुणमयी मूर्ति उस समूह की शोभा है, इसलिये हमारी इच्छा है कि आने वाला समूह ऐसा तैयार होकर आवे कि हमारा मुख भी उज्जवल कर देवे। यही कारण है हम तन, मन, धन से अपनी सन्तान का उच्च शिखर पर पहुँचाने के लिये यत्न कर रही है। यद्यपि हम शिखर के बिल्कुल नीचे पड़ी हैं। तुम जानती हो हमारी शोभा तुम से है और तुम्हारा कर्तव्य है कि हमारी त्रुटियों को तुम पूरा करो। तुम्हारा समूह ऐसा पूर्ण रूप से ऐसा शक्ति रूप से, ऐसा विद्या रूप परिपूर्ण हो कि तृप्त भारत की प्यास बुझे।''[9] 20वीं शताब्दी में स्त्री धर्म की ऐतिहासिक भूमिका के रूप हो सकते हैं। पहला, स्त्रियों द्वारा स्त्रियों को जाग्रत करने का दूसरा, राष्ट्र उन्नति की चिंता में संतान (पुत्र) का प्रेरकीय स्रोत।

'अधीनता' परतंत्रता का दूसरा नाम है चाहे यह किसी के भी प्रति क्यों न हो। किसी को किसी भी कीमत पर स्वीकार्य नहीं होगी। फिर पुरुषसत्तात्मक समाज वर्चस्व अभिलाषा में सदियों से स्त्री को अपने अधीन रखते आया है। अधीन उत्तरदायित्व एवं निरपेक्ष उत्तरदायित्व के निर्वहन में अन्तर होता है। इस अन्तर को जितना पुरुषसत्तात्मक समाज के लिए समझना जरूरी था उतना स्त्रियों के लिए यह जानना जरूरी था कि स्त्रियों के जीवन में पिता, पति, पुत्र, गुरु आदि की कितनी भूमिका होनी चाहिए। 'सरस्वती' 1915 'मनु का नारी धर्म्म' नामक लेख में स्त्री के जीवन में पुरुष की भूमिका से अवगत करने के उद्देश्य लेखक लिखते हैं–''परतंत्रता स्त्रियों का भूषण बताया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि बालिका अवस्था में वह अपने माता, पिता गुरु, भाई इत्यादि जिस किसी के पास रहे उसके आज्ञानुसार काम करे। उस उम्र में बड़ों की बताई राह पर चलने ही से आत्म–संयम की शक्ति बढ़ती है। बुद्धि की कोमलता से बाल्यावस्था में भले–बुरे की पहचान सम्भव नहीं। पर युवती होने और योग्यता प्राप्त होने पर अपने पति के बराबर स्वत्व रखने वाली मैत्रिणी बनने का उसे हौसिला रखना चाहिए। वार्धक्य में पति के रहते या न रहते अपनी बालक–बालिकाओं पर उसे हुकूमत करनी चाहिए। सुयोग्य माताओं को पुत्र के वश में नहीं रहना पड़ता। सन्तान सेवा करने के लिए होती है; आज्ञा देने के लिए नहीं।''[10]

स्त्री धर्म के क्रम में पुत्री के बाद पत्नी धर्म आता है। स्त्री धर्म के क्षेत्र में मातृधर्म की अपेक्षा पत्नी धर्म आता है क्योंकि एक स्त्री पत्नी पहले, माता बाद में है। वेद, पुराणों में विवाह उपरांत स्त्री जब पत्नी बनती है तब उसके अपने पति के प्रति कुछ दायित्व बताये गये हैं वहीं पत्नी धर्म कहलाते हैं। पत्नी धर्म के दायित्वों में स्त्री का पति के अनुकूल आचरण करना, पति की वशवर्तिनी बने रहना, किसी अन्य पुरुष से संबंध न रखना, प्रायः प्रसन्न रहना, कभी रुष्ट न रहना, हमेशा शांत स्वभाव बनाए रखना, पति की भक्ति को ईश्वर की भक्ति मानना, चरित्र को कभी दूषित न करना इत्यादि शामिल है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में कुछ विशेष लेख स्त्रियों को इस प्रकार के धर्म सिखाने वाले थे। इस संदर्भ में 'स्त्रीदर्पण' मई 1917 के अंक में 'स्त्री धर्म' शीर्षक लेख में श्रीमती पदमावती के विचार दृष्टव्य है–''पुरुषों की स्त्री गृहस्थाश्रम का मूल है, यदि स्त्री आज्ञाकारिणी हो तो गृहस्थाश्रम से परे और कोई श्रेष्ठ सुख का साधन नहीं है, यदि स्त्री वशवर्तिनी है तो स्त्री धर्म, अर्थ, काम इन तीनों वर्गों के फलों को भोगती है, यदि स्त्री इच्छानुसार नहीं चलनेवाली है उस स्त्री को पुरुष से स्नेह के वश से निवारण नहीं करे तो वह स्त्री क़ाबू से बाहर हो जाती है जैसे अल्प रोग के होने पर यदि चिकित्सा न करे तो वह बड़ा कष्टदायक हो जाता है। हम में बहुत सी ऐसी हैं जो पति की ज़रा सी बात पर रुष्ट होकर बैठ जाती हैं, बहुधा निपढ़ तो ऐसी होती हैं कि अपना घर छोड़कर नैहर या अपनी सखी के घर भाग जाती हैं परन्तु ऐसा हम को कदापि नहीं करना चाहिये हम को रुष्ट तो कदापि पति की बात पर नहीं होना चाहिए परन्तु यह चाहिये कि फिर वैसा न करें जिस में उसको बुरा मालूम हो।''[11]

यह साफ–साफ शब्दों में पुरुष अथवा पति के प्रति अधीनता[12] है। परंतु लेखिका पति की अनुचित बातों को न मानना उनका धर्म बताती है–''बहुत सी आप लोगों में यह कहेंगी कि क्या हम दासी थोड़ी ही हैं या हम को उन्होंने ख़रीद तो नहीं लिया है मैं यह सब मानती हूँ परन्तु मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि हम उन की अनुचित बातों को भी मानें और जो मनुष्य लोग हमारे ऊपर अत्याचार करें उन को चुपचाप सहें। मेरी यह राय नहीं है यह आप कदापि न ख़्याल करें यदि वे हमारे साथ ऐसा करें तो हम को उचित है कि हम उनको मना करें और कुराह से सुराह पर लावें यही हमारा परम धर्म है।''[13] शायद, लेखिका इसके माध्यम से अपने सिद्धांतों पर स्त्रियों के दोयम दर्जे में

परिवर्तन लाना चाहती हो। वह स्त्री जीवन से जुड़ी समस्याओं को गांधीवादी दृष्टिकोण हल करते हुए लिखती हैं–''हम लोगों को यहाँ तक प्रसन्न चित्त होना चाहिये कि यदि कभी भूले से भी गुस्सा आ जाय तो हमारी आंखों से कभी कोई दूसरा न ताड़ जाये कि हमने उसकी बात का बुरा माना और ख़ास करके बड़ों के सामने और पति के सामने तो कभी भी इस बात को ज़ाहिर न होने दे कि हमने उन के कहने का बुरा माना, यदि किसी समय पति ऐसी बात गुस्से में कुछ कह बैठे कि जो हमको बहुत बुरी लगे तो हमको उचित है कि उसको हँसी में उड़ा दें ऐसा करने से फिर उनकी यह हिम्मत कभी न होगी कि फिर हम को डांट बतावें और यदि उस समय हम भी वैसा ही उत्तर देंगे तो झट लड़ाई खड़ी हो जायगी।''[14] ऐसा प्रायः अधिकतर स्त्रियाँ करती ही आई है फिर इसमें नया क्या है? वास्तव 20वीं शताब्दी में धर्म एवं संस्कारों का नष्ट होना भारतीय समाज में एक प्रकार से स्त्री–पुरुष दोनों पर सांस्कृतिक, धार्मिक एवं भावात्मक चोट थी। उसे बचना और भारतीय स्त्रियों को बचाना शायद लेखिका ने अपना फर्ज समझा।

तलाक कोई वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है। इस पर स्त्री–पुरुष दोनों का समान अधिकार है। दोनों समान रूप से न्याय पाने के अधिकारी है। किंतु लक्ष्मी नारायण के विचार पूरी तरह सामाजिक एव न्यायिक व्यवस्था की सच्चाई उजागर कर देते हैं जिसका वह स्वयं हिस्सा हैं। वे लिखते हैं–''परन्तु यदि पति–पत्नी एक दूसरे के साथ न रहना ही पसन्द करते हैं, और पत्नी के चरित्र–दोष के कारण पुरुष उसे छोड़ देने ही के लिए कटिबद्ध है, तो वैसी दशा में 'तिलाक़' से बढ़कर और कोई अन्य उपाय नहीं हो सकता। इससे पुरुष की कुछ हानि नहीं है, किन्तु स्त्री को एक दूसरा पति ढूँढने की मुसीबत उठानी पड़ती है।''[15]

बहुत से राष्ट्रीयता और हिंदुत्व को आपस में जोड़ने का कारण विधवा विवाह को मानते है। यह बात इतनी सरल नहीं है जितनी दिखलाई पड़ती है। 20वीं शताब्दी में विधवा विवाह का प्रश्न संवेदनशील के साथ–साथ जटिल भी था। इसका समस्त श्रेय भारतीय विधवाओं को ही जाना चाहिए क्योंकि यदि विधवा स्त्रियाँ अपना पतिव्रत धर्म न तोड़ती तो विधवा विवाह के लिए कभी विचारकों को विवश न कर सकती थी। इसकी स्पष्ट झलक 'स्त्रीदर्पण' नवंबर 1920 के अंक में मुरार ग्वालियर के श्रीयुत बाबू राम

श्रीवास्तव के 'भारत में स्त्री शिक्षा की आवश्यकता' नामक लेख में दिखती है। वे लिखते हैं–''वर्तमान समय में विधवा–विवाह पर भारत में अनेक–अनेक प्रकार के प्रश्न प्रति दिवस उठते हैं। इस विषय में आप के विनीत लेखक को भी कुछ कहना आवश्यक है। मेरी समझ में विधवा–विवाह होना अनुचित नहीं। मेरा इससे यह मतलब नहीं कि मैं विधवा–विवाह अच्छा समझता हूँ। नहीं मेरा यह कदापि मतलब नहीं। किन्तु वर्तमान समय की भारतीय स्त्रियों की दशा पर ध्यान देते हुये विधवा–विवाह से पतिव्रता धर्म नष्ट हो जाना सम्भव है। पाठकगण! इसका सरल उत्तर यही है कि जिन स्त्रियों को पतिव्रता धर्म की शिक्षा ही नहीं दी गई और जिन्होंने कि 'पतिव्रता' कहलाने की पदवी–प्राप्त कर ली है वह अपने पति के देहान्त के पश्चात् संसार में क्षण मात्र को रह ही नहीं सकतीं। वर्तमान समय ही में ऐसी पतिव्रता स्त्रियों की घटनायें सुनने में आया करती हैं। वर्तमान समय में जब कि सती होना कानून में जुर्म समझा गया है अनेक स्त्रियाँ सती हो जाती है। क्या वह इस कानून को मान सकती हैं। कदापि नहीं। उनको सती होने के लिये तो हृदय ही की अग्नि काफ़ी है। पाठक गण। आप को यह तो मालूम ही है कि किसी समय भारत में सती होने का रिवाज कितने ज़ोर पर था! परन्तु क्या आप यह भी कह सकते हैं कि प्रत्येक स्त्री जो सती देवी थी वह सत्य में सती होना चाहती थी। अनेक स्त्रियाँ कुछ की लज्जा के कारण विवश होती थी। इसी प्रकार विधवा–विवाह का न होना घोर पाप है।''[16] 20वीं शताब्दी में संवेदनशील विचारकों के बीच 'सतीत्व' पतिव्रता धर्म की कसौटी थी। विधवाओं का पुनर्विवाह स्त्रियों को सतीत्व की श्रेणी (Category) से पलभर में बिना सोचे–समझे बाहर निकाल देता था। यह स्त्रियों की स्वयं में दिलचस्पी थी जो उन्हें पतिधर्म त्याग कर पुनर्विवाह के लिए प्रेरित कर रही थी। संवेदनशील विचारकों की संवेदनशीलता अधिक प्रभावशाली तब होती जब विधवाओं को भार स्वरूप सौंपने के बजाय उनको आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के उपाय सोचे जाते अथवा उसके आर्थिक स्वावलंबन का स्वप्न देखते हुए उसे साकार करने का प्रयत्न करते।

स्त्रियों को सुपत्नी, सुचरित्र बनाने वाला 'पतिव्रता धर्म' स्त्रियों के उच्च आदर्शों के शिखर पर टिका था। पर्दा इस धर्म का अहम् भाग है। यह स्त्री–पुरुष में बहुआयामी विभाजन करता है। इसके कारण स्त्रियाँ प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में प्रवेश नहीं कर पा रही थी। राजनीतिक क्षेत्र में पतिव्रता धर्म किस

प्रकार स्त्रियों के अधिकारों का हनन करता है। वह नवंबर 1918 स्त्रीदर्पण के अंक में 'स्त्रियाँ और वोट' शीर्षक से संपादकीय टिप्पणी में दृष्टव्य है–''हम लोगों को वोट देने में एक कठिनाई और भी पड़ती है। भारतवर्ष में ''पातिव्रत धर्म'' के ज़ोर ने स्त्री के विकास में एक प्रकार की रूकावट सदा से डाल दी है। किन्तु दोष इसमें पातिव्रत धर्म का नहीं है। दोष है केवल उन पुरुषों का जिन्होंने स्वार्थवश पातिव्रत धर्म को यह माने पहिनाये हैं कि स्त्री का कोई व्यक्तित्व नहीं है उसको अपना केवल तन, मन, धन ही नहीं, किन्तु अपनी विवेक आत्मा और दिमाग़ तक पुरुष के हाथ बेच डालना उचित है। उसको संसार की किसी बात से सम्बन्ध नहीं। मतलब है तो बस एक पतिदेव से। उसकी सेवा ही परम धर्म है, उसकी आज्ञा ईश्वर वाक्य है। ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि यदि स्त्रियों को वोट देने का अधिकार दे दिया जाये तो प्रत्येक विवाहित पुरुष के दो दो वोट हो जायेंगे। कारण यह है कि स्त्रियाँ पुरातन रीति से पातिव्रत धर्म का पालन करते हुए, अपनी आन्तरिक आवाज़ विवेक तथा अपने दिलो दिमाग़ के प्रतिकूल ''जी हुजूर'' करके पतिदेव ही की ओर से वोट दे देवेंगी। यह एक हानिकारक प्रथा है।''[17]

स्त्रियाँ इस अन्याय/अत्याचार को धर्म की तरह मानती थी। प्राण जाए पर धर्म न जाए। उसकी समस्त क्षेत्रों में भागीदारी के लिए पर्दा प्रथा बनाम धर्म का विरोध जुलाई–दिसंबर 1915 'मर्यादा' पत्रिका में 'भारत की राष्ट्रीय उन्नति तथा स्त्री–जाति' शीर्षक लेख में एक विनीत देशभक्त ने इन शब्दों में किया गया–''परदे के विषय में हम इस बात को कदापि स्वीकार नहीं करते कि जब तक समस्त स्त्रियाँ शिक्षित न हो जावें उस समय तक उन्हें परदे में रखना आवश्यक है। इस प्रकार की लचर दलीलें करने वाले या तो स्वभाव से ही स्त्री को पुरुष की अपेक्षा अधिक नीच समझते हैं अन्यथा उनके लिए अधिक उपयुक्त हो यदि वे भारत के अशिक्षित पुरुषों को जिनकी संख्या करोड़ों है परदे के भीतर रहने का उपदेश दें। यदि हमारी अनेक स्त्रियाँ इस प्रकार के अपमान अनुभव नहीं करती तो इसका कारण केवल यह है कि शताब्दियों के अन्याय तथा धृष्ट निग्रह ने–इस अन्याय ने जो धर्म (?) के नाम पर उनके साथ लगातार किया जाता रहा–उनकी आत्माओं को इतना गिरा दिया है कि वे अन्याय को अन्याय नहीं समझतीं तथा उनकी आत्मा के भीतर उच्च आकांक्षाएँ उत्पन्न ही नहीं होती।''[18]

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में स्त्री–पुरुष दोनों विचारक पतिव्रता धर्म का समर्थन एवं विरोध अपने अनुसार, अपने तरीके से कर रहे थे। इन्होंने पतिव्रता धर्म का कभी विरोध नहीं किया लेकिन समाज में स्त्रियों के दोयम दर्ज़े में परिवर्तन के लिए समाज में समान रूप से भागदारी (धर्म, कर्म, उपदेश, अधिकार, शिक्षा, कर्तव्य आदि) की बात कही। जुलाई–दिसंबर 1915 'मर्यादा' पत्रिका में 'भारत की राष्ट्रीय उन्नति तथा स्त्री–जाति' शीर्षक पर एक विनीत देशभक्त इस पर लिखते हैं–''हम पातिव्रत धर्म के विरोधी नहीं हैं। हम स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक विवाहिता स्त्री का धर्म है कि वह एक पति को छोड़कर किसी भी दूसरे पुरुष की ओर विषय की लालसा न देखे। ऐसे ही अविवाहिता कन्या अथवा स्त्री को उचित है कि वह चरित्र को दूषित न होने दे। किन्तु साथ ही हम स्त्रियों के लिए इस धर्म को पालन करना उतना ही ठीक, उतने ही और केवल उतने ही महत्व का समझते हैं जितना कि प्रत्येक विवाहित पुरुष के लिए पत्नीव्रत धर्म का पालन करना। यदि पुरुष को केवल मात्र पत्नीव्रत धर्म ही स्वर्ग के द्वार तक नहीं पहुँचा सकता तो स्त्रियों को इस प्रकार के उपदेश देना केवल उनकी श्रद्धा पर अनुचित ज़ोर देना है तथा उन्हें भ्रम में डालना है। यदि पुरुषों को एक पत्नीव्रत धर्म के अतिरिक्त और भी सहस्रों बातों के सीखने की आवश्यकता है तथा उन्हें और भी सहस्रों विषयों पर उपदेश व्याख्यान दिये जा सकते हैं और दिये जाते हैं तो कोई कारण नहीं कि स्त्रियों के लिए भी और अनेक अधिक उच्च तथा अधिक आवश्यक विषयों पर उपदेश क्यों न दिये जावें।''[19]

'स्त्रीदर्पण' नवंबर 1920 के अंक में 'आर्य महिलाएँ और उनकी मर्यादा' नामक लेख में श्रीयुत लक्ष्मीनारायण प्रकाश ब्रह्मचारी के विचार कुछ मिलते जुलते हैं। इनके लिए पति भक्ति स्त्री का पतिव्रत धर्म है। श्रीमान के अनुसार यह परंपरा हिंदुओं में ही नहीं, संसार की सभ्य कहलाने वाली जातियाँ जिनमें इस परंपरा का पालन नहीं होता, वे भी इस धर्म का पालन करने में अपना गौरव समझती है। इस धर्म में स्त्री के चरित्र से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। चरित्र दूषित होना अर्थात धर्मभ्रष्ट होना। 20वीं शताब्दी क्या भारतीय समाज के लिए कभी आम बात नहीं रही। सामाजिक बहिष्कार का भय उन्हें काशी, प्रयाग पहुँचा रहा था।[20] पराधीनता और स्त्री जीवन से जुड़ें विधान एक–दूसरे के पूरक है। दोनों का अस्तित्व एक–दूसरे से है। इसलिए स्त्री स्वाधीनता के लिए स्त्रियों

को उसकी शुचिता पर आँकने वाले विधानों को नष्ट होने की आवश्यकता थी। चूँकि भारतीय समाज के लिए स्त्रियों की शुचिता मान–मर्यादा, इज्जत का मसला है और पुरुष इस अत्याचार में समान रूप से भागीदार है तो इन्हें नष्ट नहीं किया जा सकता था पर ऐसे ही कुछ विधान को पुरुषों पर लागू अवश्य किया जा सकता था। भारतीय पुरुषों से लेखक विशेष आग्रह करते हुए लिखते हैं कि–''स्त्रियों की स्वाधीनता का प्रश्न उसी समय सम्मुख हो गया जबकि पुरुष ने उसके लिए पातिव्रत का विधान नियत किया। यद्यपि यह विधान नियत न होता तो भी स्त्रियों का विराट बहुमत उसका पालन करना। अपनी मर्यादा और आत्मप्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिए वे स्वयम् पति की भक्ति करतीं; अपना चरित्र कलुषित करना उन्हें कभी अच्छा नहीं लगता। परन्तु पुरुष ने एक कड़े विधान की तरह उसे उन पर लागू किया, और जहाँ तक बना उसे वहाँ तक बराबर दबाता रहा। पुरुष समाज के लिए यह बिलकुल अनुचित और अन्याय है कि जो वह स्वयं अपने लिए नहीं चाहता, उसी को स्त्री में खूब अधिकता के साथ वह देखना चाहता है। यह बिलकुल अनुचित और अन्याय है कि जो वह स्वयं अपने लिए नहीं चाहता, उसी को स्त्री में खूब अधिकता के साथ वह देखना चाहता है। यदि वह वास्तव में स्त्रियों से उस व्रत का पालन चाहता है, तो उसके लिए भी यह आवश्यक है कि वह भी उसी तरह का व्रत निभावे, स्त्रियों को पतिव्रता बनाने का इससे बढ़कर और कोई दूसरा उपाय नहीं है।''[21]

मनुस्मृति में स्त्री को प्रत्येक अवस्था बाल, युवा एवं वृद्धा में स्वतंत्रता से गृहकार्य करने की अनुमति नहीं है। समाज एवं राज्य संबंधी कार्यों की बात तो दूर रही। केवल घरेलू दक्षता उसके जीवन का पर्याय है। समय बदलते वक्त नहीं लगता किंतु समय के साथ स्त्रियों के प्रति धारणाएँ बदलने में सदियाँ गुजर जाती है। 20वीं शताब्दी में आधुनिक भारतीय समाज बनाने की राह में बदली हुई धारणाएँ स्त्री को पूर्ण रूपेण स्त्री में देखना चाहती है। इसे हम दो दृष्टिकोण से देख सकते हैं। एक धारणा अनुसार स्त्री–पुरुष बराबर होकर भी स्त्रियों का कार्यक्षेत्र बँटा हुआ है। स्त्रियों के लिए विशेष कार्यक्षेत्र (राजनीतिक एवं सामाजिक) में विशेष योग्यता प्रदर्शन अनिवार्य शर्त है। एक विचारक का मानना है–''स्त्रियों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे वे घर की स्वामिनी बन सकें। गृह–प्रबन्ध में ऐसी दक्षता और चातुर्य प्राप्त करें कि पुरुष यह कार्य पूरी तरह उन्हीं पर छोड़ सकें। यह नहीं कि

गृहस्थी के सब कामों की देखभाल पुरुषों के हाथ से उन्हें छीन लेना चाहिए। राजकार्य और सामाजिक विषयों में वार्तालाप करके जन–समूह के विचारों पर असर डालना चाहिए। पर जब तक ब्रह्मचर्य–व्रत धारण करके अपने जीवन को किसी कार्य विशेष की सिद्धि के लिए वे अर्पण न करदें तब तक सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर बिना मांगी सम्मति घुसेड़ने की कोशिश न करें। ईश्वर की दृष्टि में, और सृष्टि के नियम अनुसार भी, औरत और मर्द बराबर हैं। इसको ध्यान में रखकर नारी दल को घर–रूपी दुर्ग पर पूर्ण अधिकार जमाना चाहिए। जब क़िले की मज़बूती हो जाय तब मैदान जंग की फिक्र की जा सकती है। वे ऐसी नीति से काम ले कि बिना भूमि से उतरे ही विजय हो।''[22] स्त्रियाँ ऐसे छद्म षड्यंत्र को पहचाने तो कैसे पहचाने, उन्हें वह सोच व शक्ति की छूट दी ही नहीं गई जिसका प्रयोग कर उन्हीं के चक्रव्यूह को तोड़ पाती। अधिकतर स्त्रियाँ पुरुषों के इन्हीं शब्दों के जाल में फँस जाती है। दूसरी धारणा के अनुसार स्त्री का स्त्रीत्व बनाम व्यक्तित्व संपूर्ण सामाजिकता का अनिवार्य तत्त्व है। वह धर्म, कर्म, अर्थ, समाज, राजनीतिक, सामाजिक, राष्ट्र, न्याय व्यवस्था आदि क्षेत्रों में पूर्णतः पुरुष के बराबर है। अपने जीवन से जुड़े प्रश्नों पर अपना मत प्रकट करने के अतिरिक्त विधान बनाने की भी अधिकारिणी है किंतु ऐसा आज भी बहुत ही कम देखने को मिलता है। सामाजिक व्यवस्था में राष्ट्रीय अंग के महत्त्व की समझ विकसित करते हुए 'स्त्रीदर्पण' नवंबर 1918 के अंक में 'स्त्रियाँ और वोट' शीर्षक से संपादकीय टिप्पणी में संपादिका लिखती हैं–''स्त्री और पुरुष दोनों ही एक राष्ट्र के अंग होते हैं। दोनों ही का यह परम धर्म है कि अपने देश की बिगड़ी हुई दशा सुधारें, देश सेवा करें और उसको उन्नति के शिखर पर पहुँचावे। राज्य के सुशासन में भी परमावश्यक है कि स्त्री पुरुष दोनों ही की सम्मति से राज–कार्य किया जाय, कर आदि लगाये जांय और कानून बनाये जांय। हम देखती हैं कि अब तक जो कानून बने हैं, किसी में स्त्रियों के साथ न्याय नहीं किया गया। यह बात स्वाभाविक भी है। क़ानून बराबर पुरुष बनाते रहे हैं, उन्होंने स्त्रियों के स्वत्वों का इतना ध्यान नहीं रक्खा जितना कि अपने स्वत्वों का। क़ानून बनाते हुए यह आवश्यक है कि जिनके लिए वह क़ानून बनाया जाय, उनसे अवश्य सम्मति ले ली जाय।''[23] विचारों का आदान–प्रदान ज्ञान की वृद्धि में सहायक होता है। एक–दूसरे के ज्ञान की कमी दूर करता है। समस्याओं को हल करने में मार्ग प्रशस्त करता है।

प्राचीनता से पति–पत्नी का संबंध 'स्त्री' के लिए स्वत्वों की आहुति है क्योंकि जो 'स्त्री' दुराचारी, दुष्ट, अत्याचारी, अन्यायी पति को देवता समान पूजे, सुख–दुख का साथी समझे, सुख–सुविधाएँ देने वाला माने, बेड़ा पार लगाने वाला समझती है उसके लिए कैसी स्वतंत्रता अथवा समानता। यह स्त्रियों के स्वत्वों का हनन है। स्त्रियों ऐसा कृत्य पुरुषों के मनोबल को बढ़ाना है। सांसारिक प्रचलन पति को परमेश्वर और पत्नी को दासी बनाता है। इतने अंतराल के बीच पति–पत्नी संबंधों में समानता व्यर्थ की उम्मीद है। स्त्री–पुरुष के संबंधों में आए विभेदों–मतभेदों को खत्म करने के लिए पुरुष को 'देवत्व' से नीचे लाने और स्त्री को 'दासत्व' से ऊपर उठाने का काम 20वीं शताब्दी की पत्रिकाओं ने किया। पति–पत्नी के नवीन संबंधों की नींव रखते हुए 'सरस्वती' जनवरी 1915 के अंक में 'मनु का नारी–धर्म्म' शीर्षक लेख में लेखक लिखते हैं–पति–पत्नी का परस्पर सम्बन्ध जीवनपर्यन्त सखा और सखी का सा होना चाहिए। जैसा अधिकार एक का दूसरे पर है वैसा ही दूसरे का उस पर भी है।''[24]

20वीं शताब्दी की पत्रिकाओं में स्त्री–पुरुष के कुछ खास किस्म के गुणों का ब्यौरा मिलता है। लैंगिक विभेद के अलावा यह विशेष प्रकार के गुण स्त्री–पुरुष की पहचान करने में मदद करते हैं और समाज में निश्चित स्थान प्रदान करते हैं। यह सत्ताधिकारियों का नियम है कि ये विशेष प्रकार के गुण विशेष प्रकार के व्यक्ति में ही हो सकते हैं। स्त्रियों में दया, ममता, सहनशीलता, प्रभा, सहिष्णुता, उदारता, क्षमा आदि होते हैं। और वही पुरुषों में वीरता, शौर्य, नियंत्रण, न्याय, दमन, तटस्थता, धैर्यता आदि के नाम से विद्यमान होते है। स्त्रैण गुण 'स्त्री धर्म' निभाने में बड़े कारगर सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत प्रेम, दया एवं करुणा पुरुष के स्वभाव में नहीं होती है। इनसे संलिप्त व्यक्ति दुराचारी कहलाएगा। स्त्रियों को धर्मभ्रष्ट करने वाला होगा। इसलिए स्त्रियों का धर्म बचाने के लिए स्त्रियों में स्त्रैण गुणों की वृद्धि इसका सरल उपाय था। 'स्त्रीदर्पण' अक्टूबर 1919 के अंक में 'चित्त की एकाग्रता' शीर्षक में पंडित मनोहर प्रसाद के शब्द इस प्रकार हैं–''पुरुष ही स्त्री–जाति को धर्मच्युत कर देता है–यह कहना अनुचित न होगा। उसके बराबर प्रेम–याचना करने से दुर्बल और चंचल स्त्री–जाति धर्मभ्रष्ठ हो जाती है। इस पुरुष–जाति के दुराचरण से बचने के लिए चित्त की एकाग्रता सरल साधन है। भगिनियों इससे कदापि वंचित न रहना।''[25] आज तक अधिकतर पुरुष स्त्रियों की निम्न

अवस्था के पीछे स्वयं को दोषी स्वीकारने में कतराते हैं। धर्म के विषय में उल्टा है। 20वीं शताब्दी में संवेदनशील विचारक ऐसे दोष के लिए स्वयं को दोषी मान रहे थे जो दोष की गिनती में नहीं आता है। प्रेम भावात्मक होता है प्रेम भाव प्रकट करना दुराचरण नहीं होता! तब स्त्री कैसे धर्मभ्रष्ट हो सकती है क्योंकि वह चंचल एवं दुर्बल है। उसे दुर्बल बनाया किसने है इसी पुरातनवादी समाज की सोच ने। स्त्री के विषय में इस प्रेम के मायने अलग है। उसके प्रेम का आधार आदर्श पति प्रेम है जो पति के अलावा पति के प्राण प्रियों से भी प्रेम करने की अपेक्षा रखता है। यहाँ स्त्री पुरुष की भाँति दुराचरित नहीं होती और न पुरुष का धर्म भ्रष्ट होता है इसलिए कि वह धैर्यशील है। यह धर्म के नाम पर किए जाने वाला अन्याय है। आत्मस्वाभिमानी स्त्री इसे कभी स्वीकार नहीं करती। पं. ईश्वरी प्रसाद शर्मा 'आदर्श पति प्रेम' के बहाने ऐसा अन्याय करना चाहते है जिसे एक स्त्री संपादकीय टिप्पणी में अस्वीकार कर देती है। वह लेखक एवं 'स्त्रीदर्पण' की संपादिका पर अपनी पैनी नज़र से टिप्पणी में लिखती है–''कोई यह चाहे कि पतिराम तो पचासों विवाहित या अविवाहित स्त्रियों से प्रेम किया करें और उनकी धर्मपत्नी केवल उन्हीं से नहीं, वरन् उनकी समस्त प्राण धारियों से प्रेम करे, एक ऐसी बात है कि जो प्रकृति के विरुद्ध है। ऐसा तो सतयुग में भी शायद न होता होगा। किन्तु जब पं. ईश्वरी प्रसाद शर्म्मा हमको शिक्षा देते हैं कि सौत से हमें यह कहना ठीक होगा कि–'प्राणप्रिय की प्रियतमा हो, यह समझ प्राण से भी प्रिया तुम्हें हूँ मानती' तो हमें बड़ा आश्चर्य होता है और उससे अधिक आश्चर्य तो जब होता है कि जब ऐसे विचार एक स्त्री द्वारा सम्पादित पत्र में मिलते हैं। जो बात कभी भी नहीं हुई जो बात प्रकृति के विरुद्ध है, वह आप हमसे आज कब के समय में कराना चाहते हैं, क्योंकि आपकी राय में स्त्री का धर्म यह है कि 'नाथ के मन में' जो बास करे वह पत्नी को अवश्य प्रिय होनी चाहिए। यह बीसवीं शताब्दी का आदर्श पति–प्रेम होगा।''[26] यहाँ धर्म–अधर्म का कोई प्रश्न नहीं उठता न ही किसी एक पर आक्षेप लगाया जा सकता है। स्त्री–पुरुष संबंधी विचारों में परिवर्तन का मसला है। पुरुष दोषी होते हुए भी स्त्री से शुद्धिकरण की अपेक्षा रखता है।

स्त्री–पुरुष दोनों के जीवन में समस्त गुणों का अलग–अलग महत्त्व, स्थान एवं भूमिका है। दोनों के व्यक्तित्व के सम्यक् विकास के लिए समस्त गुण दया, ममता, सहनशीलता, प्रभा, सहिष्णुता, उदारता, क्षमा, वीरता, शौर्य, नियंत्रण, न्याय, दमन,

तटस्थता, धैर्यता आदि समान रूप से आवश्यक होते हैं। दोनों को इनकी कमी के कारण कम आँका जाना चाहिए। प्रसिद्ध स्त्री विमर्शकार अनामिका इस विषय में लिखती हैं कि–''बीज–रूप में ये सारे गुण स्त्री–पुरुष–दोनों में विद्यमान होते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक कन्सट्रक्ट कुछ ऐसे हैं कि पुरुषों में खास तरह के गुण, और स्त्रियों में किसी और तरह के गुण आदर्श बताए जाते हैं। 'मर्दाना स्त्री' और 'स्त्रैण पुरुष' गालियों के रूप में विकसित कर ली गई अवधारणाएँ हैं। किसी को भी यह सुनकर हँसी इसलिए आ जाती है क्योंकि अक्सर उग्र प्रतिक्रियावाद के दबाव में होता यह है कि स्त्रियाँ 'पुरुषसम्मत' गुण विकसित करती 'स्त्रीसम्मत' गुणों को ताख पर रख देती हैं, ओर पुरुष 'स्त्रीसम्मत' गुण विकसित करते–करते पुरुषसम्मत गुणों का पिटारे में बन्द कर देते हैं। जरूरत तो दोनों तरह के मूल्यों की होती है; एक गुणसमूह विकसित करने का अर्थ यह नहीं कि दूसरे को धता ही बता दिया जाए।''[27]

पत्नी धर्म के बाद मातृधर्म आता है। चूँकि माता स्त्री का श्रेष्ठ रूप है इसलिए मातृधर्म संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। माता की महानता इतिहास के पन्नों में दर्ज है। वह संसार की सबसे गरिमामयी पात्र के अंतर्गत रखी गई है। बच्चे को जन्म देना, भरण–पोषण, रक्षा, शिक्षा आदि उसके मातृत्व के गुणों में समाहित है। माता पुरुष रूपी बेल को आरंभ से लेकर अंत तक आजीवन अपने संस्कारों से सींचती है। यही उस दौर का सर्वश्रेष्ठ मातृधर्म था। इसके अतिरिक्त स्त्री के शुद्धाचरण को स्त्री धर्म (मातृधर्म) बताकर अंधविश्वास को तोड़ने का इस दौरान भलीभाँति देखा जा सकता है। मार्च 1919 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका के अंक में 'मातृ–पूजा' शीर्षक से लिखते है–''बच्चों को जो रोग माता या शीतला के नाम से होते हैं उनकी बाबत चरक, सुश्रुत में देखो, क्या लिखा है? माता पिता के रुधिर या गर्भ–दोष से उत्पन्न बीमारियों का इलाज योग्य हकीम, वैधों से कराओ। बड़े अफसोस की बात है कि अच्छे अच्छे घर की बहू बेटियाँ, जिनका धर्म अपने पति के सिवाय किसी को छूना तक न था, इस झूठे जाल में फँस कर ऐसे लोगों को स्पर्श करने लगीं कि जिनको काला अक्षर भैंस बराबर और मूर्खता का अवतार कहना चाहिए।''[28] स्त्री–पुरुष दोनों का फर्ज[29] अंधविश्वास से दूर रहना है किंतु यहाँ कहीं पुरुष धर्मभष्ट होते दिखाई नहीं पड़ता। यह पुरुष केंद्रित समाज की अजीब व्यवस्था है कि पहले स्वार्थलिप्सा के वशीभूत होकर, स्त्रियों को शिक्षा से दूर रखकर धार्मिक–सामाजिक

कर्मकांडों, अंधविश्वासों में संलग्न करो और बाद में बेबुनियाद तर्कों द्वारा उनसे दूर रहने के लिए कहो।

20वीं शताब्दी की 'स्त्री' भारतीय 'समाज' में अपनी भूमिका से परिचित हो चुकी है। अब वह भारतीय समाज को आत्मविस्तार द्वारा नयी भूमिका से परिचित कराना चाहती है। असमानता आधारित व्यवस्था के मूल्यहीन कायदे–कानून उसे मान्य नहीं है। इसके लिए वह समाजिक व्यवस्थापकों से सीधे–सीधे तर्क–वितर्क करती है। 'स्त्रीदर्पण' जुलाई 1917 में श्रीयुत पदम्सिंह शर्मा के 'स्त्री शिक्षा पर अकबर के विचार' पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी करते हुए श्रीमती हृदय मोहिनी लिखती हैं–''आपके अनुसार तो स्त्रियों का धर्म केवल यही है कि वह दोनों समय अपने हाथ से घर का भोजन पका लें, घर को साफ़ रक्खें, बच्चे पैदा करें, उन को पालें, कपड़े सियें, घर का हिसाब किताब रक्खें और तन्मय होकर अपने पति की सेवा करें इति शुभम्। बस उनकों संसार की और किसी चीज़ से मतलब नहीं। न तो उन में पवित्र आत्मा है और न विवेक, तर्क आदि शक्तियाँ ही हैं।''[30] आत्मविस्तार स्त्री दृष्टि से 20वीं शताब्दी की नवीन धारणा थी। वह स्त्री के 'स्त्रीत्व' को नकारती नहीं है तो उसे प्राथमिकता भी नहीं देती है उनके लिए वह गौण है। समाज में समान स्थान एवं अधिकार प्राप्त करने के लिए सामाजिक उत्तरदायित्व का भार उठाना स्त्रियों का प्रमुख लक्ष्य था। वह समाज में स्वयं को अंगीकार करती है–''हम केवल स्त्रियाँ ही नहीं है किन्तु भारतीय समाज की सदस्य तथा नागरिक भी हैं। जिस प्रकार प्रत्येक स्त्री का कुटुम्ब की ओर कर्तव्य है उसी तरह उससे कहीं अधिक कर्तव्य समाज की ओर भी है।...हम पहिले एक पवित्र आत्मा है, फिर समाज सदस्य है और फिर अन्त में स्त्रियाँ। हमको भी उदार शिक्षा की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि पुरुषों को।''[31]

'स्त्रीदर्पण' 1919 के अंक में 'स्वदेशाभिमान' पर अपने विचार प्रकट करने वाली श्रीमती विश्वेश्वरी देवी, वाजपेयी की माने तो स्त्री उन्नति अभिलाषी स्त्रियों के लिए समाज के प्रति सर्वप्रथम उत्तरदायित्व है। परिवार में स्त्रियों को जन्म के बाद से रिवाजों, धर्मों द्वारा संस्कारित किया जाता है जिससे वह उस पर थोपे गए सभी उत्तरदायित्वों का निर्वहन सही ढंग से कर सके। उसी प्रकार स्त्रियों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना

जागृत करने के लिए देश के महत्त्व को समझना, देश पर गर्व करना, तन, मन, धन से पूर्वजों तथा महानुभावों का अनुसरण आदि छोटे–छोटे धर्मों से संस्कारित होना होगा–''अल्पायु में निज छोटे धर्मों का पालन करो, तभी बड़ी होकर बड़े धर्मों का पालन करने में समर्थ होगी और देशसेविका भी सम्भव है यदि तुम्हारा यही उद्देश्य हुआ तो बन सकोगी। किन्तु छोटे धर्मों की ओर ध्यान न देकर अभी से देशसेविका प्रसिद्ध होने का यत्न करने से झूठी और पाखंडी के खिताब से अधिक सम्मान न पा सकोगी।''[32]

20वीं शताब्दी में विचारकों का मुख्यतः प्रयास 'भारतीय गौरव' को वापस लाने का रहा। इनकी दृष्टि में भारतीय गौरव एवं क्षति दोनों स्त्रियों पर टिकी थी। भारतीय परिवेश में इस्लाम एवं अंग्रेजी सभ्यता के आगमन के बाद मानो स्त्री धर्म/हिंदू सभ्यता नष्ट हो गई हो। उसे उसी स्वरूप में वापस लाने के लिए सीता, सावित्री, दमयंती, शकुतला आदि की बुद्धि और प्रतिष्ठित पद का परिचय आवश्यक था। श्रीमती विश्वेश्वरी देवी, वाजपेयी के शब्दों में–''हे जगदीश! हे भगवन्! हे जगत्पिता! हे अनन्त बलवाले! सर्वाधार हे पिता! हमें ऐसी बुद्धि दीजिए कि हम निज देश को उसी गौरव पद पर पहुँचा सकें जिस पर हमारी पूर्व माताएँ विराजमान थीं। हम सदा सुकन्याएँ बनकर धर्म पालन करें, निज गौरव को, निज स्वाधीनता को फिर पा सकें। हम जो देवी के स्थान पर जूती कही जाती है, फिर गृहलक्ष्मी, गृहदेवी, इत्यादि कही जाकर सम्मानित हो। हम जातिभेद, बालविवाह आदिक अन्य कुरीतियों को तोड़कर सुरीतियों के फैलाने में, पुनः आनन्द प्राप्त करने में समर्थ हों।''[33] लेखिका प्राचीन आदर्श स्त्रियों में उनकी स्वाधीनता खोजती है। स्त्रियों में यह भावना राष्ट्रीय स्वाधीनता का मार्ग प्रशस्त कर सकती है, नवीन राष्ट्र निर्माण में सहायक हो सकती है, युद्ध क्षेत्र अथवा कार्यक्षेत्र में पुरुषों (पति एवं पुत्रों) को प्रेरित कर सकती है, स्त्रियों के ज्ञान वृद्धि में सहायक हो सकती है किंतु स्वाधीनता एवं स्वावलंबन का भाव नहीं भर सकती। संपादकीय टिप्पणी में–''सीता, सावित्री, दमयन्ती का पुराना आदर्श हमारे लिए सर्वथा पूजनीय है, क्योंकि उस पुरातन काल में उसने पारिवारिक शान्ति कायम रखने में हमारी सहायता की थी किन्तु इस बीसवीं शताब्दी में हमें अपने पुराने ही आदर्श पर रहना काफी न होगा। अब अवस्था बहुत कुछ बदल गयी है और दिन प्रतिदिन बदलती जा रही है। पुरातन काल में स्त्री का एक मात्र पालन पोषण करने वाला पुरुष ही होता था। स्वावलंबन और स्वतन्त्रता उसके लिए नहीं थीं।''[34] 20वीं

शताब्दी में सीता, सावित्री, दमयंती आदि पौराणिक स्त्रियाँ 'भारतीय स्त्रियों' की आदर्श बनीं लेकिन पिटी–पिटाई लकीर की फकीर बनकर नहीं बल्कि नवीन परिस्थितियों में नवीन आदर्श बनकर। उन आदर्शों में सीता का लक्ष्मण रेखा पार करना, सावित्री द्वारा यमराज (परपुरुष) के लोक जाकर उसे चुनौती देना है।

रूढ़िवादी विचारधारा प्रत्येक युग में विद्यमान होती है। 20वीं शताब्दी में रूढ़िवादी सोच से ग्रसित अधिकांश विचारकों ने स्त्रियों में फैशन के प्रचलन पर आपत्ति जताई। उनमें से एक श्रीमती चन्द्रा कौल 'फैशन और भारतीय स्त्रियाँ' शीर्षक से 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका में प्रकाशन हेतु लेख में भारतीय स्त्रियों में बढ़ते फैशन प्रचलन को स्त्री धर्म खंडित करने वाला बताती हैं। 'स्त्रीदर्पण' 1919 नवंबर की संपादकीय टिप्पणी में इनके उद्धृत विचार है–''भारत की स्त्रियों में फैशन का ख़याल बढ़ता जाता है और धर्म को छोड़कर और अपनी देवियों को भूलकर यूरोप की स्त्रियों के विविध कुकर्मों को सीख रही है।''[35] भारतीय प्रणाली में पश्चिमी सभ्यता के आगमन के बाद भारतीय पुरुषों का तो कुछ नहीं, भारतीय स्त्रियों पर बड़ी भारी गाज गिरी। उनमें पश्चिमी सभ्यता/संस्कृति के तत्त्वों को ढूँढ–ढूँढ कर खोजा जाने लगा और उन्हें स्त्री धर्म विरोधी बताया गया। उन पर तमाम तरह के प्रतिबंध लगाए जाने लगे। तत्कालीन समय की आवश्यकता व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र का विकास था। इस दृष्टि से आधुनिक समाज में स्त्रियों द्वारा प्राचीन आर्दशों का निर्वहन करना आत्मघात था। अतः अपने जीवन से जुड़ें नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक प्रश्नों को हल करना स्वयं स्त्रियों का परम धर्म था।[36]

जीवन के पड़ावों पर सिर्फ और सिर्फ स्त्रियों को सहना पड़ता है। विविध समस्याएँ उसके इंतजार में बैठी मिलती है। एक, इसमें लैंगिक विभेद कहीं अधिक होता है, दूसरा स्त्रियाँ शिक्षा से वंचित रह जाती है, तीसरा स्त्रियाँ तमाम तरह के ज्ञान–विज्ञान से वंचित रहकर गृहस्थी जगत से ही परिचित हो पाती है। देखा जाए सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सार्वजनिक दृष्टि से ऐसी कोई परिस्थिति दिखलाई नहीं पड़ती जिसमें स्त्रियाँ पुरुष के बराबर कार्य नहीं कर सकती, न ही गृहस्थी में ऐसी कोई स्थिति है जिसमें पुरुष स्त्रियों के सहयोगी नहीं बन सकते। इस विभेदक भरी सोच

को स्त्री–पुरुष दोनों को बदलना होगा। सामाजिक क्षेत्र दोनों की आवश्यकता का केंद्र है। जब एक पुरुष का पितृत्व एवं पतित्व उसे घर की चारदीवारी में रहने को विवश नहीं करता, तब कैसे स्त्री का मातृत्व और पत्नीत्व उसे घरेलू संकीर्णताओं में बाँध सकता है!

6.2 स्त्री और संस्कृति

मानव सभ्यता का इतिहास अपनी अलग 'संस्कृति' कहता है। 'संस्कृति' किसी व्यक्ति, जाति वर्ग, राष्ट्र आदि के युगों से चले आ रहे आचार–विचार को कहते हैं। संस्कृति इन सभी के मन, रुचि, आचार–विचार, कला–कौशल एवं सभ्यता के विकास की द्योतक है। संस्कृति का स्वरूप मानवीय संस्कृति में निहित होने पर भी भौगोलिक, क्षेत्रीय एवं ऐतिहासिक कारणों से प्रत्येक व्यक्ति, जाति, वर्ग, राष्ट्र का अपना एक प्रचलित–अप्रचलित रूप होता है जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी औपचारिक एवं अनौपचारिक प्रक्रियाओं द्वारा हस्तांतरित होता रहता है। संस्कृति और धर्म के संबंध में 'धर्म' एक पद्धति है। इसे किसी जाति, वर्ग, पद आदि के लिए कर्तव्य, व्यवहार के रूप में निश्चित किया जाता है और 'संस्कृति' का निहितार्थ मानव जीवन को अर्थ प्रदान करने वाले मूल्यों में है। इस कारण आज तक मिस्र, असीरिया, यूनान, रोम की संस्कृतियों की तुलना में भारतीय संस्कृति को अपने–अपने मूल स्वरूप में जीवित रहने के कारण भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्य माना जाता है जबकि पश्चिमी सभ्यता को इसके ह्रास का कारण मानकर कोसा जाता है–''आज संस्कृति का अर्थ सांस्कृतिक कार्यक्रम हो गया है और सांस्कृतिक कार्यक्रम का अर्थ सिनेमाई ढंग का नाच–गाना मात्र रह गया है। यही नहीं साहित्य, कला, वेशभूषा, भाषा, शिक्षा, धर्म, राजनीति सब क्षेत्रों में वास्तविक संस्कृति का क्षय हुआ है और संस्कृति स्वयं उपसंस्कृति का पर्याय बन गई है। इसका सारा श्रेय पश्चिम की नकल पर आधारित विकास, अर्थतंत्र और राजनीति ही नहीं, वरन् वह भोगवाद भी है जो हमारे मन–मस्तिष्क पर छा गया है। हम अपनी प्राचीन सांस्कृति परम्परा से कट गए हैं जो हमारे पूर्वजों ने एक बहुमूल्य जीवन–दर्शन से रची थी।''[37] यहाँ यह जानने की आवश्यकता है कि हम जिस संस्कृति का रोना रो रहे हैं उसमें स्त्रियों की क्या भूमिका हैं? वह उसमें कहाँ तक विद्यमान हैं? उसमें स्त्रियों का स्थान

किस स्तर तक है? जब कोई संस्कृति स्त्री को उसका सही स्थान ही नहीं प्रदान कर सकती तब उसका नव–निर्माण ही बेहतर है।

भारतीय समाज क्या, वैश्विक समाज में स्त्री की एक अलग संस्कृति है। विश्व में व्याप्त संस्कृतियाँ स्त्रियों की विविध कहानी कहती है। इससे स्त्रियों संबंधी कुछ नए ही तथ्य सामने आते हैं। वस्तुतः मानव सभ्यता की संस्कृति का इतिहास स्त्री धर्म का इतिहास है। वैश्विक स्तर पर विविध देशों की संस्कृति भिन्न होते हुए भी स्त्रियों की स्थिति समान है। उनका आचार–विचार, व्यवहार अलग है किंतु धर्म कर्तव्य एक है। भारतीय विचारकों की ऐसी मानसिकता को जानने के लिए थोड़ा पीछे जाना होगा। यह सर्वविदित है कि 19वीं शताब्दी में पश्चिमी संस्कृति भारतीय समाज में दस्तक दे चुकी थी। इससे एक नया शिक्षित वर्ग उत्पन्न हुआ जो स्त्रियों के मानसिक आदान–प्रदान से मानसिक शांति चाहता था। स्त्री–पुरुष विभेद का यह प्रयास वर्चस्ववादियों के लिए नया बदलाव था। इसलिए इन्होंने संस्कृति का सहारा लिया। पुरुषवादी सोच के विचारकों के लिए स्त्री को संस्कृति से जोड़ने का इनका मूल उद्देश्य देश–विदेश की सामाजिक–सांस्कृतिक स्थिति का चित्रण प्रस्तुत करके भारतीय स्त्रियों को अपने अधीन रखना था। इस संदर्भ में 'सरस्वती' 1905 में 'जापान की स्त्रियाँ' नामक लेख में महावीरप्रसाद द्विवेदी के विचार दृष्टव्य है–''जापान की स्त्रियाँ शिक्षित हैं, पर वहाँ की स्त्रियाँ स्वतंत्र नहीं है। वे अपने पति के कुटुंबियों का आदर करती हैं। पति को तो वे स्वामी क्या, देवता समझती हैं। हमारे देश के समान जापान में भी स्त्रियों को हर अवस्था में दूसरों को अधीन रहने की शास्त्राज्ञा है। लकड़पन में माता–पिता, विवाह हो जाने पर पति और विधवा हो जाने पर पुत्र की आज्ञा में रहती है। वे हृदय से अपने पति की सेवा करती है।''[38]

भारतीय समाज पश्चिमी स्त्री आंदोलन से भयभीत था, यह महावीरप्रसाद द्विवेदी के वक्तव्य से ज्ञात हो जाता है। शिक्षा और स्वतंत्रता के सह–संबंध को समझना आवश्यक है। शिक्षा 'ज्ञान' है और स्वतंत्रता 'भाव' है। स्वतंत्र भाव से निष्पक्ष 'ज्ञान' मिलता है और स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण होता है। अमेरिकन स्त्रियों पर आरोपित समस्त मर्यादाएँ कोरी कल्पनाएँ थीं। यह उन्हीं के द्वारा संपादित पत्रिका 'सरस्वती'

जुलाई 1911 के अंक में प्रकाशित भोलानाथ पाँडे का अमेरिका की स्त्रियों के संबंध में व्यक्तिगत अनुभव 'अमेरिका की स्त्रियाँ' शीर्षक लेख से सिद्ध हो जाता है–''विश्वविद्यालयों में युवक–युवतियों के अधिकार एक से हैं। वे पढ़ने–लिखने में पुरुषों से कम योग्यता नहीं रखतीं। नैतिक भाव उनके आदर्श होते हैं। बहुत सी नवयुवतियों को विद्योपार्जन के लिए स्वावलंबन करना पड़ता है। आप पूछ सकते हैं कि बरसों तकलीफ़ उठाने की उनको आवश्यकता क्या है विवाह कर लेने से वे आराम से रह सकती हैं। स्त्री को इतना पढ़ कर करना क्या है? ऐसे विचार भारतवासियों के हृदय में ही उत्पन्न हो सकते हैं। इन महिलाओं को, जो विद्या के गुणों को जानती हैं। विवाह की चिंता नहीं रहती। उनका आदर्श हम लोगों के आदर्श से भिन्न है। यथासंभव वे सब बातों से स्वतंत्र रहना चाहती हैं। परावलंबन से उन्हें घृणा है।

उनका ख़याल है कि विवाह कर लेने से स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता कम हो जाती है। इसी से वे विवाह की इच्छुक सहसा नहीं होतीं। अमेरिका के लोग अपनी स्त्रियों को प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं; परंतु इतने से उन रमणियों को संतोष नहीं। विद्या के प्रभाव से, इस समय, यहाँ की स्त्रियों को अपने अधिकारों का ज्ञान होने लगा है। वे पुरुषों के व्यवहार को बुरा बताती हैं। वें चाहती हैं कि किसी भी कार्य के लिए स्त्रियों को पुरुषों का मुँह न ताकना पड़े। वे कहती हैं कि एक दफ़े पराधीन हो जाने से फिर स्वतंत्रता प्राप्त करने की न तो शक्ति ही रहती है और न इच्छा ही होती है। इतिहासों से पता लगता है कि करोड़ों ऐसे भी गुलाम हो गये हैं जो गुलामी को स्वाभाविक समझते हैं।''[39]

किसी भी देश की निम्न, मध्य एवं उच्चवर्ग की स्त्रियों का व्यवहार, रहन–सहन, कार्य प्रणाली परिस्थिति के अनुसार भिन्न होती है। इससे उनके सदाचारी व चरित्रवान होने का निर्णय नहीं किया जा सकता है। भोलानाथ पाँडे के साथ ऐसा नहीं है। उनकी विडंबना रही है कि उन्हें लंबे निरीक्षण के बाद अपने मनोविकारों को दमन करने वाली सुशिक्षित अमेरिकन स्त्रियाँ देवियाँ लगती हैं। सदृश विषय 'अमरीका की स्त्रियाँ' पर सत्यदेव (अमरीका) के विचार दृष्टनीय है। वे 'सरस्वती' मार्च 1908 के अंक में अमेरीका की स्त्रियों के हाल को अनुभव स्वरूप साझा करते हुए लिखते हैं–''अमरीका की स्त्रियों

का फुरसत का समय बहुत करके क्लबों में जाता है। यह ज़रूरी नहीं कि इन सभाओं में जानेवाली स्त्रियाँ विवाहिता ही हों, क्वारी भी होती हैं। प्रत्येक शहर में स्त्रियों के क्लब हैं। क्लबों से मतलब सभाओं अथवा समाजों से है। ये क्लब भिन्न–भिन्न उद्देश्यों की सिद्धि के लिए खाली जाती हैं। जैसे शेक्सपीयर–क्लब में केवल शेक्सपीयर के ग्रंथ पढ़े जाते हैं और उनका मतलब अच्छी तरह समझा जाता है। ब्रौनिड्.क्लब में महाकवि ब्रौनिड्.ग के ग्रंथ का अध्ययन किया जाता है। याद रखिए, यह सब स्त्रियों के क्लबों का ज़िक्र कर रहा हूँ। व्यायामक्लब में स्त्रियाँ आकर व्यायाम करती है। मातृक्लब (Mother Club) में मातायें अपने लाभ के लिए, समय समय पर, अमरीका के प्रसिद्ध डाक्टरों को बुलाकर उनके व्याख्यान सुनती हैं। व्याख्यानों में बिमारियों के इलाज, बच्चों के पालन पोषण का ढंग, खाने पीने की विधि आदि उपयोगी विषयों की चर्चा रहती है।''[40] 20वीं शताब्दी में पढ़ने–पढ़ाने, सभाओं, चर्चाओं आदि का प्रचलन लगभग अमेरिका के सभी शहरी और ग्रमीण क्षेत्रों में था।[41] इनके द्वारा अभिव्यक्त किए गए अमेरिकन स्त्रियों के दोष को भी देख लिखा जाए। सत्यदेव लिखते हैं–''सबसे बड़ा दोष अमरीका में यह है कि स्त्रियाँ हद से ज़्यादा स्वतंत्र हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि बड़े बड़े शहरों में व्यभिचार बढ़ता जाता है। एक बड़ा भारी सामाजिक दोष अमरीका में नाचना (Dancing Ball) है। जहाँ स्त्री और पुरुष मिल कर नाचते हैं कोई न कोई तार ढीली हो ही जाती है इस प्रकार आपस में नाचना प्रकृति के नियमविरुद्ध काम करना है। भारतवर्ष में तो अँग्रेज हम लोगों को अपने नाच में आने ही नहीं देते, इसलिए हम लोग इसके दोष कम समझ सकते हैं। यहाँ शिकागों में मुझे दो चार बार ऐसे नाचों में जाना पड़ा है। वहाँ नाचा तो क्या, जाकर बैठे–बैठे तमाशा देखा किया। एक बार एक लड़की ने मुझे अपने साथ नाचने के लिए बहुत जोर दिया। मैंने कहा–

''नाचना औरतों का काम है। मर्द नहीं नाचा करते।'' लड़की खिलखिला कर–

''तो यह सब लड़के आपकी समझ में औरतें हैं।

मैं मुसकरा कर–

''खैर, यह दूसरी बात है।''

जब दो बार नाच हो चुका तब उस लड़की ने फिर मुझसे कहा कि आप मेरे साथ नाचिए।

मैं–''भला अनजान आदमी कैसे नाच सकता हूँ।''

लड़की–''मैं आपको सिखला दूँगी।''

मैं हँस कर–''मैं बड़ा कुंदज़हन हूँ। यह चीज़ जल्दी नहीं सीख सकता। आपको व्यर्थ कष्ट होगा।''[42]

पुरुषवादी सोच के लिए यह कोई आश्चर्यजनक कथन नहीं है। पुरुष जब तक अपने पुरुषत्व को नहीं जताता अधूरा कहलाता हैं। वह कभी नहीं चाहेगा कि स्त्रियाँ स्वतंत्रता के विशेष अर्थ को समझे। वह इसके गहन अर्थ को समझने का प्रयास भी नहीं करता। सबसे पहले पुरुष को स्त्री की भावनाओं, आशाओं, अभिलाषाओं, आवश्यकताओं, अधिकारों, स्वत्व आदि को प्राथमिकता देनी होगी न कि उसपर लांछन लगाकर उसको अपमानित किया जाए। दुखद है जो समाज 'भारतीय समाज' भारतीय स्त्रियों की संवेदनाओं को समझने में असमर्थ रहा हो। उससे पश्चिम स्त्री की संवेनाओं को समझने की उम्मीद कैसे की जा सकती है। 'स्त्रीदर्पण' अगस्त 1918 के अंक में 'पूर्व और पश्चिम की स्त्रियाँ' शीर्षक से श्रीयुत जगमोहन लाल राजदान–रायगढ़ का लेख ऐसे ही असंवेदनशील समाज को प्रकट करता है–''अंगरेज़ स्त्रियाँ सोचती हैं के लान टेनिस (Lawn Tenis) और बाल (Ball) बिना सुख ही नहीं मिलता। यहाँ समझ कर वे व्यर्थ की करूणा दिखलाती हुई हमारे शास्त्रों और पुराने विचारों की बुराई करती हैं। इन्हीं की बातें सुन हमारी माताओं के हृदय में पाश्चात्य सभ्यता ने स्थान पाया है। बेशक आज कल स्त्रियों का अपमान होता है, पर उसकी आज्ञा हमारा शास्त्र नहीं देता। इस लिए स्त्रियों को, अपने को इस अपमान से बचाने के लिए पाश्चात्य रीति रस्म को भारत में लाने की ज़रूरत नहीं है। वरन् उन स्त्रियों का अपमान करनेवाले के सामने हमारे शास्त्र खोल कर रख दो। उन रमणियों से जो दिन रात प्रमोद के भवन में चक्कर खा रही है, या पुरुषों के साथ प्रतियोगिता में प्रवृत्त हैं, या दो एक पिल्लों को ले चार पाँच अभागों से संबंध कर अकेली कुमारी या विधवापन भोग रही हैं, क्या यहाँ की रमणियाँ इतनी गिरी हुई दशा में होने पर भी सुखी नहीं हैं?''[43]

स्त्रियों का खेलना–कूदना, नाचना–गाना आदि अन्य क्रियाओं के समान स्वतंत्र व्यक्तित्व का हिस्सा है। यह क्रियाएँ तनावपूर्ण जिंदगी में मानसिक तनाव को कम करने में सहायक होती हैं। स्त्रियों के हित में अंग्रेजी सभ्यता–संस्कृति इतनी बुरी नहीं थी जितना इसे 20वीं शताब्दी में दर्शाने का प्रयास किया गया है। ऐसा होता तो ताराबाई शिंदे कभी अंग्रेजी शासन प्रणाली के कायम रहे रहने की बात नहीं कहतीं।[44] यह भारतीय स्त्रियों के पश्चिम संस्कृति के अनुकरण की समस्या थी। पश्चिम की स्त्री अच्छी शिक्षित थी। पुरुषों से प्रत्येक क्षेत्र में बराबरी करके चलती थी। इसके बावजूद भारतीय विचारकों ने 20वीं शताब्दी में अप्रत्यक्ष रूप से समाज में पश्चिम की स्त्रियों की श्रेणी (Status) को दर्शाकर अनुकरण की समस्या का समाधान करना चाहा। 'सरस्वती' सितंबर 1911 के अंक में 'अंग्रेजों की रहन–सहन' शीर्षक से प्रकाशित लेख में एक मध्यम वर्ग की चर्या के रूप में 'घर की सफ़ाई वग़ैरह' का अंश दृष्टव्य है–''सफ़ाई में विलायत बहुत बढ़ी चढ़ी है। अमीर हो या ग़रीब, सब प्रति सप्ताह अपने अपने घर, बाहर भीतर, खूब साफ़ करते हैं। इसके लिए सप्ताह में एक दिन नियत कर लिया जाता है। उस दिन कमरे नीचे ऊपर साफ़ किये जाते हैं। कुरसी, बन्दूक, आलमारी, छत, एक नहीं बचने पाते। निदान बाहर भीतर खूब सफ़ाई होती है। किवाड़ों के शीशे धोये पोंछे जाते हैं। सब सफ़ाई दोपहर तक हो जाती है। घर की स्त्रियाँ और नौकर सब मिड़ते हैं। इस दिन को ''क्लीनिंग डे'' (Cleaning Day) कहते हैं। सफ़ाई के दिन की भाँति कपड़े धोने का भी एक दिन मुक़र्रर रहता है इसको (Washing Day) ''वाशिंग डे'' कहते हैं। दोपहर तक यह काम ख़तम हो जाता है। शर्ट, कालर, चादर, रूमाल वग़ैरह को छोड़ कर बाकी कपड़े सब लोग घर पर ही धो लेते हैं। घर की लड़की या स्त्री इस खुद कर लेती है। जो नौकर रख सकते हें उनके यहाँ नौकर साफ़ करते हैं।''[45] स्त्रियों को निशाना बनाने वाले ऐसे कई उदाहरण है। उदाहरण स्वरूप लड़के–लड़कियाँ अपना उपयुक्त समय में लिखने–पढ़ने और सीने–पिरोने में लगाते हैं एवं घर की स्त्रियाँ इससे भी देर से खाना खाती है जैसे उदाहरणों में जाहिर है सीना–पिरोना लड़के नहीं करेंगे, भारतीय संस्कृति में घर के सभी सदस्यों के बाद स्त्रियों के खाना खाने की परंपरा के समानांतर पश्चिमी स्त्रियों का देर से खाना खाने की स्वतंत्रता या संस्कृति को प्रकट करना; भारतीय परंपरा को कायम रखने की कुचाल से ज्यादा कुछ नहीं है।

भारतीय संस्कृति अधिकार की अपेक्षा धर्म एवं नैतिक कर्तव्यों पर बल देकर परस्पर निर्भरता का संदेश देती है। यह देखना हमारा दायित्व है कि इसका सर्वाधिक झुकाव किस ओर है। पुरुषों को कभी व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं स्वयत्ता की लड़ाई नहीं लड़नी पड़ी। उन्हें यह जन्मतः एवं स्वतः प्राप्त हैं। किंतु पारिवारिक कर्तव्यों, धर्म, दूसरे के अधिकार की पूरकता, परस्पर निर्भरता ने स्त्रियों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता या स्वायत्ता छीन ली गई। 20वीं शताब्दी में स्त्री चेतना के फलस्वरूप भारतीय स्त्रियों द्वारा पारिवारिक कर्तव्यों से मुख मोड़ना सांस्कृतिक विरोधी था। इस संदर्भ में 'स्त्रीदर्पण' मई 1917 के अंक में 'इंग्लैंड की बहू और बेटियाँ' शीर्षक से श्रीयुत धनीराम बिहारी का लेख कुछ इस प्रकार स्त्रियों में नैतिक एवं पारिवारिक दायित्वों पर बल देता है–''जब लड़कियाँ 13, 14 वर्ष की हो जाती है तो उन के माँ बाप उन्हें किसी काम में लगा देते हैं या तो उन्हें किसी दूकान पर सौदा बेचने में लगा देते हैं या किसी दफ़्तर में (टाइपिस्ट) मुहर्रिरी पर मुकर्रर करवा देते हैं और ग़रीबों की लड़कियाँ कारखानों में काम करती हैं जब तक ब्याही नहीं जाती चाहे 30, 40, 50 वर्ष की क्यों न हो जांय ऐसे ही काम करती है।''[46] सकारात्मक पहलू है कि इस लेख को स्त्रियों के आर्थिक स्वावलंबन एवं वैवाहिक बंधन की छूट के रूप में देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भारतीय स्त्रियाँ इसमें अपनी स्वायत्ता खोती हुई ही नजर आएगी। इससे पूर्व यूरोप की एक मध्यम वर्ग की विवाहित स्त्री की कार्य प्रणाली में प्रातःकाल से लेकर रात्रि सोने तक की क्रिया में स्त्री के स्वायत्ता की कोई जगह नहीं है। एक कलपुर्जे के समान उसका उपयोग अवश्य दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार लेखक ने यूरोपियन अविवाहित लड़कियों/स्त्रियों की स्थिति को दर्शाया है। यहाँ लेखक का मुख्य उद्देश्य भारतीय स्त्रियों में पारिवारिक कर्तव्यों के निर्वहन की कार्यक्षमता को अधिक से अधिक विकसित करना है। श्रीयुत धनीराम बिहारी के शब्दों में–''हिन्दुस्तान की बहुत स्त्रियाँ यह ख़्याल करती हैं कि मेंमें (यूरोपियन लेडीज़) कुछ काम यानी घर का धन्धा नहीं करतीं। अच्छे अच्छे कपड़े पहिन लिये, मेज़, कुर्सी लगाकर ख़ाना खा लिया और शाम को पति के साथ हवा खा आईं बस न उनको घर के धन्धों से प्रयोजन न शिशु पालन का भार, ऐसा अनुभव स्त्रियों को ही नहीं वरन बहुधा मनुष्यों को भी होता है। जितना कि हिन्दुस्तान की बहू बेटियाँ काम करती हैं, इंग्लैंड की बहू बेटियाँ भी काम करती हैं।''[47]

20वीं शताब्दी में स्त्रियों की परिवर्तनकारी स्थिति के लिए पश्चिमी सांस्कृतिक परंपराओं को उत्तरदायी ठहराया गया और लगातार यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि पश्चिमी संस्कृति 'असांस्कृतिक परंपराओं' (स्वतंत्रतापूर्वक इधर–उधर घूमना, हँसी मजाक करना, पुरुषों से प्रेमपूर्वक बात करना आदि) का आधार है। भारतीय विचारकों ने इन तथ्यों पर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करके उन्हीं आयामों को बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत किया जो भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं की पुष्टि नहीं करते फिर भी उन्हें भारतीय परंपराओं से लिप्त दिखाया है। अन्यथा यूरोप अन्य देशों के समान स्त्री स्वातंत्र्य के लिए आज तक विख्यात है। कम से कम पश्चिमी स्त्रियों को भारतीय स्त्रियों के समान आदर्श, सिद्धांत, विचार, चिंतन, व्यवहार आदि के आधार पर घुटन भरा जीवनयापन नहीं करना पड़ता है। यह 'प्रभा' 1915 के अंक में 'यूरोप में सभ्य वीरता का विकास' शीर्षक से लक्ष्मण गोविंद आठले के वक्तव्य से भलीभाँति स्पष्ट है–''यूरोप में एक ज़माना था जिस समय वह स्त्रियों की (आजकल भारतवर्ष में, खासकर नीच जातियों में, उन की जो दशा है क़रीब क़रीब वैसी ही और कहीं कहीं उससे भी बढ़कर) बुरी दशा थी। 'परदा सिस्टम' नहीं था। परंतु स्त्रियाँ ''ढोल, गँवार, शूद्र, पशु,'' इन्हीं की श्रेणी में गिनी जाती थी। अपनी खुद की स्त्री का चुम्बन लेना या उससे या अपने खुद के लड़के बच्चों से दो प्रेम भरी बातें करना, बड़ा पाप समझा जाता था। कोई बड़ा प्रेमी भर्त्तार हुआ, तो वह अपनी चार दीवारों के अंदर ही छिपे छिपे अपनी खुद की स्त्री से भले ही प्रेम का बर्ताव कर ले, परंतु प्रगट रूप में प्रेम भरी बातें या देखादेखी करना महान पाप था। ऐसे पाप के गुनाहगार यदि जनसमाज द्वारा पकड़े गये, तो उस पाप के लिये उसे 10, 15) रु0 दण्ड देना पड़ता था। इस असभ्य रीति को यूरोप से निकाल बाहर करने का काम 'सभ्यवीरता' ने किया। आजकल हम यूरोप में जो 'स्त्रियों की स्वाधीनता' 'स्त्रियों का सम्मान' उन का 'बढ़ा चढ़ा आदर' देखते हैं, उस का उदय इसी 'सभ्यवीरता' के युग से ही हुआ है।''[48]

चीन देश की सभ्यता विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं में से है। इसकी गणना देश के प्रसिद्ध एवं विकासशील देशों में होती है। विश्व के अन्य राष्ट्रों के समान चीन अपनी सभ्यता के विकास के दौरान आदिम समाज, दास समाज और सामंती समाज तक की यात्रा करते हुए आगे बढ़ा। वस्तुतः 'सरस्वती' जुलाई 1915 के अंक में चीनी स्त्रियों की जीवन शैली को लगभग भारतीय स्त्रियों के समान बताया है। उनके आश्रय का प्रश्न, पति

तथा सास–ससुर की सेवा, संतान उत्पन्न करने का साधन, बहुविवाह, सती प्रथा, वैवाहिक अस्वतंत्रता आदि चीन की प्रचलित परंपराओं में शामिल थी। इनके अतिरिक्त चीन में स्त्रियों पर अत्याचार की एक विचित्र प्रथा मिलती है। उसे चीनी स्त्रियों को सुंदर बनाने के लिए 'पैर बँधाई' प्रथा कहते हैं। चीन में स्त्रियों के पैरों को सुंदर अर्थात छोटे बनाने के लिए इस प्रथा का प्रचलन बड़े जोरों पर था लेकिन ऐतिहासिक विकास के लंबे दौर से स्वातंत्र्य प्रेमी प्रबुद्ध जनता के संयुक्त प्रयास से नवीन संस्कृति का सृजन हुआ। चीन की ज्योतिर्मय प्रगति को 'सरस्वती' जुलाई 1915 के अंक 'चीन में सामाजिक परिवर्तन' शीर्षक लेख में दर्शाते हुए सत्यशोधक लिखते हैं–''समानता, स्वतंत्रता और भ्रातभाव का सिद्धांत, राजनैतिक विषयों की तरह, सामाजिक विषयों में भी चरितार्थ हो सकता है। स्त्रियों के स्वत्व भी पुरुषों के समान है; स्त्रियों को भी पुरुषों के समान उचित स्वतंत्रता देनी चाहिए। स्त्री–पुरुषों को भ्रातभाव से रहना चाहिए। इन विचारों के उत्पन्न होते ही सती, बहुविवाह और पैर बाँधने की प्रथायें त्याज्य होने लगीं। सामाजिक जीवन से स्त्रियों का पार्थक्य अन्यायपूर्ण ज्ञात होने लगा; वैवाहिक स्वतंत्रता और उच्च स्त्री–शिक्षा आवश्यक जान पड़ने लगी। अतएव को आश्चर्य नहीं जो चीन में नये स्त्रीत्व का आविर्भाव हो गया। हाल की राज्यक्रांति में बहुतेरी स्त्रियों ने स्वयं युद्ध किया, घायलों की सेवा–शुश्रूषा की और अन्याय उपयोगी काम भी किये। स्त्रियाँ वोट के लिए आंदोलन करने वाली अंतर्जातीय महासभा के बुडापेस्ट में होने वाले अधिवेशन में कई चीनी स्त्रियाँ प्रतिनिधि होकर गई थीं। अनेक शिक्षित महिलायें चीन की स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए उद्योग कर रही है। पैर बाँधने की प्रथा की समूल तोड़ने के लिए, बहुओं के प्रति सासुओं का प्रभुत्व और अधिकार कम करने के लिए, शिक्षा प्रचार के लिए एवं दूसरे सुधारों के लिए बहुत सी सभायें स्थापित हो चुकी हैं।''[49]

चीन की भाँति मिश्र में स्त्रियों ने पुरुषवादी सोच के विरुद्ध आंदोलन चलाया। अपने अधिकारों को पहचान उनकी माँग कर रही थी। 'प्रभा' नवंबर 1913 के अंक में 'मिश्रदेश का अनुकूल प्रयत्न' अनुवादक बनारसीदास चतुर्वेदी लिखते हैं–'स्त्रियों के विचारों में भी बहुत परिवर्तन हो गया है, उच्च घराने की स्त्रियाँ अपने आप वर (पति) चुनने का अधिकार माँग रही हैं। वे इस रीति के विरुद्ध हैं, कि माता–पिता उनका विवाह, चाहे जिस के साथ, बिना उनकी अनुमति के, कर दें। अब तक उन्हें बहु विवाह की प्रथा पर बलात्

चलाया जाता था; पर अब वे उसके उठा देने का भरसक प्रयत्न कर रहीं हैं। परदा और मुँह पर बुरका (आवरण) डालने के विरुद्ध भी वे यत्न कर रही हैं। इसके अतिरिक्त वे प्राचीन नियमों को ढीला करने के लिए और पुरुषों के समान अधिकार पाने के लिए भी निवेदन कर रही हैं। मिश्रदेश की सबसे पहली स्त्री जिसने कि अपने देश की स्त्रियों के अधिकारों के लिए आंदोलन किया, फैयोम–प्रांत के निवासी, एक प्रसिद्ध वैदोइन शेख की स्त्री है। कुछ वर्षों तक वह इसी विषय पर समाचार पत्रों में चर्चा करती रही, क्योंकि यहीं विषय उसे सबसे प्यारा था, उस समय उसने अपना नाम प्रगट करना ठीक नहीं समझा। परंतु अंत में वह बड़े साहस के साथ सर्वसाधारण के सामने आई और एक समाचार पत्र के कार्यालय में उसने सभा के बीच स्त्रियों के विषय में एक सारगर्भित वक्तृता दी। उसने एक पत्निकता, परित्याग अर्थात तलाक के नियमों का संशोधन, बालिकाओं की उच्च शिक्षा और न्यायानुसार स्त्री–पुरुषों के अधिकारों की समानता, इत्यादि विषयों पर प्रभावशाली व्याख्यान दिये। इसका फल यह हुआ, कि सामाजिक अन्याय का बंधन ढीला पड़ गया। मिश्र की 200 प्रसिद्ध स्त्रियों ने उसके इस हार्दिक निवेदन को बड़ी उत्सुकता से सुना और उसकी युक्तियों का स्त्रियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा।''[50] बेशक चीन, मिश्र जैसे देशों की प्रगति भारतीय स्त्रियों का मार्ग प्रशस्त करने में सहायक हुई है।

किसी भी देश की संस्कृति विशेष नहीं होती है। देश, जाति, वर्ग के व्यक्तियों के व्यवहार, रिवाज़, संस्कार, विचार उसे विशेष बनाते हैं। जैसे कश्मीर भारत के अन्य क्षेत्रों से भिन्न इसलिए है कि ''सर्व सामाजिक कार्यों में स्त्री का वचन ही प्रधान गिना जाता है। जैसे यहाँ हिंदुस्तान के मैदानों में परदावाले लोगों में स्त्रियाँ परदे के पीछे से भारी शक्ति का प्रयोग करती हैं, वैसी ही कश्मीर में भार्या या माता ही कुटुम्ब में न्यायाधीश का कार्य संपादन करती हैं। विवाह–संबंधी बातों में 'हाँ, नहीं' करने का स्त्री को ही अधिकार रहता है। यदि उसकी इच्छा होवे तो वह लड़की को सात ही वर्ष में और लड़के को सात पाँच ही वर्ष में विवाहित करा सकती है। हर बात में वह पुरुष की बराबरी करती है। अंतर केवल इतना ही रहता है, कि ब्रह्मदेश की स्त्रियों के समान वह पुरुष और बालकों के पोषणार्थ कमाने को बाहर नहीं जातीं।''[51] कश्मीर के निवासियों में पुरुषों के साथ खाना खाने की परंपरा नहीं है। हाँ अलग से खाना खाने की पारी में छज्जे, खिड़कियों की शिलाओं पर जाकर खा सकती हैं। श्रीमान की स्त्रियाँ अर्थ सृजन हेतु पर्वतमय विभागों में

खेती करती है किंतु पंडित वर्ग की स्त्रियाँ इसे आत्मगौरव के विरुद्ध समझती हैं। लेखक के शब्दों में यह गृहस्थ शासन है जिसकी कल्पना प्रत्येक स्त्री करती है। भारतीय समाज में पारंपरिक सांस्कृतिक मान्यताएँ जातिगत (स्त्री जाति) शोषण की बहुत बड़ी कारक है। उनका मान–सम्मान इन मान्यताओं, परंपराओं पर आजीवन के लिए भेंट चढ़ जाता है और कहीं–कहीं यही मान–सम्मान स्त्री के स्वत्वों, अधिकारों का ऐसे हनन करता है उसे आभास तक नहीं होता। 'प्रभा' दिसंबर 1913 के अंक में श्रीयुत रामलाल पहारा द्वारा अनुवादित 'कश्मीर और उसके निवासी' शीर्षक से प्रकाशित लेख में कश्मीरी स्त्रियों पर यह अत्याचार स्पष्ट झलकता है। इसे सकारात्मक रूप में लेते हुए लेखक ने लिखा है–''कश्मीर पहुँचने में प्रवासी एकदम यह निर्धारित नहीं कर सकता, कि भूमत्ता में केवल पुरुष ही रहते हैं। जैसेकि एक युरोपीय सद्गृहस्थ ने लिखा था, कि उत्तरीय हिंदुस्तान में स्त्रियाँ अदृश्य हैं और पहले पहल उसका यह विश्वास जम गया था, कि इस विभाग में कोई स्त्रियाँ नहीं रहतीं; परंतु इसके विपरीत कश्मीर में उसका यह ध्यान जम गया कि स्त्रियाँ बहुत ही स्वतंत्र और बंधन–मुक्त जीवन व्यतीत करती हैं। गृह में प्रबंध करने के और पुरुषों को सहायता देने के (दोनों) महत् कार्यों का भार वे ही सहन करती हैं। यद्यपि स्त्रियाँ नियमतः महिमान से हिंदी में भाषण नहीं कर सकतीं (जैसे साधारण पुरुष करते हैं) तो भी यदि कोई हिंदू–पंडित के घर (देहात में) जावे तो पुरुष उससे बातचीत करेगा और चाय व चावल से उसका सम्मान करने को आवेंगी। अतिथि को भोजन परोसने के पूर्व उसके चरण धोने की पुरानी हिंदू–प्रथा का वे अभी तक अनुकरण करते हैं। यह शिष्टाचार भी स्त्रियाँ ही करती हैं। साधारण पुरुष बार बार चरण प्रक्षालन की प्रथा को देखकर स्तब्ध हुए बिना रह सकता, और उनसे अपने पैरों के धुलवाने में संकोच करता रहेगा, यद्यपि शरद जलवायु में गाँव तक बड़ी दूर चले आने के उपरांत सलोने उष्ण जल से पैर धोना आनंददायक मालूम होता है। यह अतिथि–सत्कार केवल देहातो में ही पाया जाता है, शहर के लोग तो शिष्टाचार और अतिथि–सत्कार रहित असभ्य और एकांत जीवन करने लग गए हैं–जैसाकि अखिल संसार में दिखाऊ नागरिक जीवन में देखा जाता है।''[52] सदियों से पुरुष प्रधान समाज स्त्रियों को पाँव की जूती समझता आया है। सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक आचारों ने स्त्रियों को न जाने क्या–क्या करने के लिए बाध्य किया। स्त्रियों को देवदासी तक बना दिया। पुरुष प्रधान समाज की स्त्रियों को अपने पैरों

के नीचे देखने की मंशा इस लेख में मिलती है। आधुनिक शहरी जीवन एवं आधुनिक शिक्षा को स्त्रियों की अशिष्टता का जिम्मेदार मानते हैं।

'सरस्वती' मार्च 1905 के अंक में महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'मलाबार' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित हुआ। 'मलाबार' का परिवर्तित नाम केरल है। मलाबार पहाडी और जंगली प्रदेश है। यह शंकराचार्य जैसे बड़े–बड़े विद्वानों/आचार्यों की जन्मस्थली कहलाता है। इसका मुख्य नगर कालीकट लंबे समय तक विदेशियों या अंग्रेजों के अधीन रहा था। सदियों की गुलामी के बावजूद यह प्रदेश स्त्री प्रधानता की कहानी कहानी कहता है–''मलाबार में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का अधिक प्रभुत्व है। प्रायः घर की स्वामिनी वही होती है। उनके पति उनके घर आते हैं; वे पति के घर नहीं जातीं। वहाँ पर मातृवंश ही स्थावर जंगम संपत्ति का वारिस माना जाता है। पितृवंश नहीं माना जाता। अथवा यों कहिए कि लड़का अपनी माँ का कहलाता है, बाप का नहीं कहलाता।''[53] भारतीय समाज में विवाह परंपरागत तरीके से होते हैं। कन्या के घर प्रस्ताव भेजने से लेकर विदाई तक; कितनी परंपराओं के बाद स्त्री–पुरुष वैवाहिक सूत्र में बँधते हैं। इनमें एक लड़की के लिए सबसे पीड़ादायी परंपरा उसकी विदाई होती है। समस्त धर्मों की संस्कृति विवाह उपरांत स्त्रियों को प्रवासी बनाकर पुरुषों के घर लाकर छोड़ती है। आज यह प्रत्येक धर्मों की रूढ़ संस्कृति बन गई है। इस सामाजिक संस्कृति के विरुद्ध कोई पुरुष जाना नहीं चाहता। कभी प्रवासी जीवन स्वीकार नहीं करना चाहता। संभवतः स्त्रियों के प्रवास का प्रश्न अथवा उद्‌गम स्रोत बर्बर युग की उन्नत अवस्था का कबिलाई समाज है।[54] यह सभ्यता की उन्नति स्त्रियों की सबसे बड़ी अवनति थी। इस सभ्यता की उन्नति में पुरुष सभ्य और स्त्री असभ्य कहलाती है। वह इस दौड़ में स्वयं को पिछड़ा अनुभव करती है।

देश–विदेश में अनेकों असभ्य जंगली जातियाँ हैं। इन्हें समाज का सड़ा–गला हिस्सा मानकर हाशिए पर रखा जाता रहा है। इनके साथ भेदभाव किया जाता है। स्वाभिमान से जिंदगी जीना किसे कहते हैं इन्हें ज्ञात नहीं। अपने में जीती यह जातियाँ सभ्य समाज से स्वाभीमानी जीवन के लिए संघर्षरत है। इधर–उधर वन–वन भटकने को विवश यह जंगली जातियाँ हैं तब इन जातियों की स्त्रियों को क्या कहा जाएगा–असभ्य से भी असभ्य स्त्रियाँ। इन जंगली जातियों का इतिहास नवंबर 1902 शीर्षक 'ब्रह्मपुत्र घाटी

की जंगली जातियाँ' लेख में दर्ज हैं। लेखक ने मेंराडे अथवा गरो जातियों की स्त्रियों के विषय में लिखा है–''इन लोगों में विवाह का प्रस्ताव कन्या करती है और वर अपना घर छोड़ कर कन्या के घर जाकर रहता है। यदि पति अपनी स्त्री को तिलांजलि देना चाहे तो वह कदापि ऐसा नहीं कर सकता जब तक कि वह अपनी कुल संपत्ति और अपने लड़कों को अपनी स्त्री को न दे दे। परंतु यदि स्त्री चाहे तो अपने पति को अलग करके दूसरे मनुष्य से विवाह कर सकती है ओर इसके साथ ही अपने पहिले पति की संपत्ति और लड़के भी ले जा सकती है। जब कोई सरदार मर जाता है तो उसका उत्तराधिकारी उसके बहिन के लड़के में से जिसे विधवा चुन ले, होता है। यदि इस युवा का विवाह हो गया हो तो उसे अपनी स्त्री को छोड़ देना पड़ता, तथा उसे अपनी सब संपत्ति और लड़के दे देने पड़ते है और इस वृद्धा विवाह से विवाह करना पड़ता है। किसी सरदार की स्त्री भी अपने पति को तिलांजलि दे सकती है, परंतु उसे अपना दूसरा पति उसी उत्तम घराने में से चुनना पड़ता है, क्योंकि दूसरे के लोग सरदार होने के योग्य नहीं समझे जाते।''[55]

गोपालदास के अनुसार लगभग सभी जंगली जातियाँ कुकी, अंगमी, मोंग सेन, आओ, अरलेंग, मेंराडे अथवा गरो, क्योन–सूस–वा लोहटा, मिश्मी, मिनटेंग, सूमा, जेमी आदि स्त्री प्रधान है। किंतु इन जातियों की संस्कृति के गूढार्थ को समझे बिना इन्हें स्त्री प्रधान कहना तर्कसंगत नहीं है क्योंकि कहीं न कहीं यह जातियाँ पुरुषों द्वारा रचे विधि–विधानों, कर्मकांडों, अंधविश्वासों पर है जैसे जातिगत सरदार बनने से पूर्व विवाहित पुरुष का अपनी पत्नी त्यागने का विधान। जाहिर है यह कृत्य स्वजाति हित के लिए किया जाता होगा जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने लोकहित हेतु सीता का त्याग किया था। क्या उनके लोक में निवास करने वाले व्यक्ति के नाते सीता का हित उनके लोकहित से अलग था। क्या मेंराडे अथवा गरो जाति के सरदार का अपनी पत्नी के प्रति कोई दायित्व नहीं। क्या यह भावी सरदार की पत्नी के लिए समझौतेपूर्ण जीवन व्यतीत करना नहीं है। फिर यहाँ स्त्री प्रधानता कैसी?

मिनटेंग, मिंराडे, कुकी जातियों में विवाह का प्रस्ताव कन्या करती है। वर को अपना घर छोड़कर कन्या के घर जाकर रहना पड़ता है। संतान माता के वंश से चलती है। क्या इतने से पुरुष स्त्रियों के दास हो जाते हैं। गोपालदास के व्यंग्यपूर्ण शब्द

है–''कुकी लोगों के विषय में यह लिखा जा चुका है कि वे स्त्री के कितने दास होते हैं। परंतु मेंराडे लोग उनसे भी कई चासनी बढ़कर होते हैं।''[56] अरलेंग, सूमा, जेमी, क्योन–सूस–वा–लोहटा, कुकी जातियों में प्रायः पुरुष अनैतिक कार्यो से स्त्रियों को प्राप्त करता है। कन्या के पिता को द्रव्य देकर खरीद फरोश करना या कन्या के पिता की सेवा करके कन्या को प्राप्त करना आम बात है। कभी पुरुष प्रधान समाज ने स्त्रियों की पराधीनता के विषय में सोचा है। उसके जीवन के इतने बड़े फैसले पर कभी उसकी राय जानने का प्रयास किया है? पुरुष के समान स्त्रियों को पूर्ण सुनिश्चित करने का अधिकार है कि जिस व्यक्ति के साथ संपूर्ण जीवन निर्वाह करने जा रही है वह उसके काबिल है या नहीं। चंद रूपयों के लिए पुत्री को बेच देना या सेवा से प्रसन्न होकर भेंट स्वरूप देना योग्यवर सुनिश्चित करना नहीं है। पुरुष प्रधान समाज ने स्त्रियों की पराधीनता के विषय में नहीं सोचा; प्रायः स्वयं की स्वतंत्रता–पराधीनता की उधेड़ बुन में लगे रहे। पुरुषों की गुलामी पर क्षोभ प्रकट करने वाले गोपालदास के लेख में स्त्रियों की गुलामी स्वतः प्रकट होती है–''यह तेवहार अगस्त मास में तीन दिन तक होता है। इसमें लताओं का एक रस्सा बनाया जाता है, जिसके एक सिरे को गाँव के युवा लोग अपनी ओर खींचते हैं और दूसरे को युवतियाँ अपनी ओर। युवतियाँ रस्से को गाँव के बाहर ले जाने का यत्न करती हैं और युवा लोग यह यत्न करते है कि ऐसा न होने पावे अंधेरा होने पर भिन्न भिन्न दल की लड़कियाँ अपनी अपनी भूमि पर रासमंडल बनाकर नाचती और गाती है। युवा लोग हाथ में बत्ती लेकर दूसरे दल की लड़कियों के पास जाकर तथा उनमें से एक को चुन कर उसे बलात् उठा ले जाते हैं। जो लड़कियाँ इस भाँति ले जाई जाती हैं उन्हें उस युवक को जो उसे ले जाई जाती हैं उन्हें उस युवक को जो उसे ले आया हो, खड़े होकर शराब पिलाना पड़ता है।''[57]

'संस्कृति' भारतीय समाज के परंपरागत विचारों की संरक्षित चल–अचल संपत्ति है। इसका संबंध आचार, विचार, व्यवहार, लोकाचार, लोकरीति, रिवाज से क्यों न हो! इनमें सामंतवादी मानसिकता का संचार होता है। इस संस्कृति के स्वरूप को साकार 'स्त्री' करती है किंतु इसमें उसकी पहचान के समय किसी न किसी प्रकार का कर्मकाण्ड थोप दिया जाता हैं। ब्रह्मपुत्र घाटी की जंगली जातियों में स्त्रियों को उत्तराधिकारी रूप में चुनाव नहीं करना दोयम मानसिकता है। वहाँ पुरुष सत्ता को संरक्षित किए जाने के

यथानियम स्त्री प्रधान समाज को दर्शाते हैं। कुकी जातियों का एक रिवाज दृष्टव्य है–''किसी मनुष्य की मृत्यु के पीछे उसका उत्तराधिकारी उसका भाई होता है और यदि उसके भाई न हो उसकी पत्नी उत्तराधिकारिणी होती है। बड़े भाई के देहांत पर यदि छोटे भाई का विवाह न हुआ तो उसे अपने बड़े भाई की विधवा से अवश्यमेव विवाह करना पड़ता है। ऐसा न करने से बड़े भाई की सारी सम्पत्ति उसे न मिलकर उस विधवा स्त्री को मिल जाती है। परंतु बड़ा भाई छोटे भाई की विधवा से विवाह नहीं कर सकता।''[58] ब्रह्मपुत्र घाटी की जंगली जातियों में समुदाय/परिवार का मुखिया/सरदार पुरुष होता है। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र अथवा भाई को उत्तराधिकार सौंप दिया जाता है जिससे उसकी पत्नी/स्त्री सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वंचित हो जाती है। और न चाहते हुए समुदाय की स्त्रियों को सरदार पुरुष की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है–''इन लोगों में अनेक भार्यता की बड़ी प्रथा है। जिसकी सबसे अधिक स्त्रियाँ होती हैं वह सबसे अधिक धनाढ्य समझा जाता है। स्त्रियाँ खरीदी जाती है। उनका मूल्य एक सूअर से लेकर बीस पशु तक होता है। अधिक स्त्रियाँ और लड़के होने के कारण इन लोगों के घर बहुत बड़े–बड़े होते हैं, यद्यपि प्रत्येक गाँव में उनकी संख्या बड़ी कम होती है। सरदार का घर लम्बन––[†] फीट से कम नहीं होता होगा और उसमें उसकी स्त्रियों और लड़कों को लेकर 100 मनुष्य रहते होंगे। जब कोई सरदार मर जाता है तो उसके उत्तराधिकारी की माता को छोड़कर और उसकी सब स्त्रियाँ उत्तराधिकारी की हो जाती है। उत्तराधिकारी की माता दूसरे सबसे निकट के संबंधी की जाया हो जाती है।''[59]

मनुष्य संस्कृति में रहकर संस्कारों के साथ जीता–मरता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्री–पुरुष दोनों के लिए अलग–अलग संस्कार बनाए गए हैं। पुरुष के संस्कारों में वीरता का ओज होता है और स्त्रियों के हिस्से में घर–गृहस्थी की जिम्मेदारी आती है। यह नियम निरंतर मरणोपरांत कैसे चलता है वह अंगमी जाति के माध्यम से देखा जा सकता है–''किसी योधा के मरने पर उसका सबसे निकट का संबंधी अपने हाथ में भाला लेकर शव के माथे में मारता है, जिसमें परलोक में यह समझा जाय कि वह युद्ध में मरा है और इस कारण से उसका वहाँ सत्कार किया जाय। मृतक के साथ दाहिने ओर उसके दोनों भाले गाड़ा जाता है और उसकी तलवार तथा अग्नि उत्पन्न करने के

[†] प्रति पुरानी होने कारण संख्या अस्पष्ट है।

लिये चीरा हुआ बांस और डोरी भी गाड़ी जाती है। स्त्री के साथ केवल एक काला कपड़ा जाता है और उसके कफन पर एक डलिया चावल फेंक कर तब मट्टी पाटी जाती है। मरने की जेवदार जो पशु मारे जाते हैं उनकी खोपड़ी तथा मृतक की ढाल, बरछा और बेंत के गहने कबर के ऊपर रखे जाते हैं। स्त्री की कबर के ऊपर उसका टोकरा, चावल कूटने का बत्ता, तथा बुनने की लकड़िया रक्खी जाती है।''[60] इस प्रकार ब्रह्मपुत्र घाटी की जंगली जातियों के रीति, रिवाज, लोकपरंपरा, लोकाचार आदि स्त्रियों के सांस्कृतिक शोषण के द्योतक है।

लड़का–लड़की में किया जाने वाला भेदभाव ब्रह्मपुत्र घाटी की जंगली जातियों में भी मौजूद है। जेमी जाति में पुत्र प्राप्ति एवं वंशबेल की वृद्धि से पुरुष को पहचान मिलती है। इस जाति की खास बात यह है कि पुत्र उत्पन्न होने पर स्त्री–पुरुष दोनों को दोषी माना जाता है। समान रूप से दोनों पर फब्तियाँ कसी जाती है केवल स्त्री इस यातना का शिकार नहीं होती है–''इन लोगों का भी प्रत्येक गाँव स्वतंत्र होता है, परंतु इनकी और सब चालों से विदित होता है कि पहिले इन लोगों में भी स्त्री को प्रधान मानते थे। विवाह होने के पहिले वर कन्या के घर कई रात्रि व्यतीत करनी पड़ती है और विवाह में वर कन्या के पिता को बहुता सा द्रव्य देता है। लड़कों का नाम उनके माता पिता नहीं रखते, वरन् गाँव की वृद्ध स्त्री तथा पुरुष रखते हैं। लड़का होने पर पिता अपने नाम से नहीं पुकारा जाता, वरन् 'अमुक का पिता' कहकर पुकारा जाता है। और जब किसी मनुष्य अथवा स्त्री को लड़का नहीं होता तो उसे 'बिना पुत्र का बाप' अथवा 'बिना पुत्र की माता' कहकर पुकारते है।''[61] संतानोत्पत्ति स्त्री–पुरुष दोनों के आपसी संबंधों से होती है हालांकि संतानोत्पत्ति पर कहीं अधिक स्त्री का वश होता है किंतु लड़का–लड़की के लिंग निर्धारण का उत्तरदायीं कारक पुरुष होता है। यह वैज्ञानिक तथ्य है। भारतीय समाज इस छोटे से तथ्य को क्यों नहीं समझ पाता, क्यों स्त्री को दोषी ठहराकर विभिन्न प्रकार की यातनाएँ देता रहता है।

'बह्मदेश की स्त्रियाँ' शीर्षक से 'सरस्वती' 1904 में माधवराव सप्रे का सदियों से स्थापित (Set) मानसिकता के जवाब में लेख प्रकाशित हुआ। प्रायः लोग बिना सोचे समझे गलत धारणाएँ बना लेते है और आजीवन उन पर चलते रहते हैं। बर्मा देश की स्त्रियों

पर विवाह का कोई प्रतिबंध न होना, प्रर्दा प्रथा का चलन नहीं होना, सबके सामने पति से बातचीत करना, किसी भी कार्य पूर्व उनका विचार–विमर्श, व्यापार–वाणिज्य में पूर्ण सहयोग देना आदि समस्त भारतीय परंपरागत तर्कों का खंडन हैं। लेखक के शब्दों में–''उस देश की स्त्रियाँ जब तक चाहे अविवाहित रह सकती हैं। वे पुनर्विवाह भी कर सकती है; क्योंकि वहाँ विवाह एक प्रकार का सामाजिक व्यवहार (क़रार) समझा जाता है; और उसके नियम सब स्त्री पुरुषों के लिए एक से ही होते हैं जो स्त्रियों से पुरुषों को अधिक सुभीते के हों। यही कारण है कि वहाँ स्त्री पुरुषों को अपना विवाह संबंध तोड़ देने का अधिकार समान रीति से ही प्राप्त है। जब विवाह संबंध तोड़ा जाता है तब सब संपत्ति के दो भाग किये जाते हैं। एक स्त्री को दिया जाता है, और दूसरा पति को।''[62] समाज दूसरे पर अन्याय/शोषण करने के लिए नहीं बना है। पुरुष प्रधान सत्ता एवं स्त्री प्रधान सत्ता में सामाजिक दायित्वों, संबंध विच्छेदों के बहाने एक–दूसरे पर अन्याय करते हुए देखी गई है। बह्मदेश की स्त्रियों के साथ ऐसा बिलकुल नहीं है बल्कि बर्मा देश परंपरागत धारणाओं के स्थान पर नए मानदंड लेकर आया है। 20वीं शताब्दी की भारतीय स्त्रियों के लिए यह विशेष अनुकरणीय मार्ग था।

आदिवासी जंगली जातियों को रमणिका गुप्ता स्त्री स्वतंत्रता की दृष्टि से अधिक स्वतंत्र देखती हैं। उच्च वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा आदिवासी स्त्रियाँ में ऐसा संभव है क्योंकि उन पर भारतीय संस्कृति के विपरीत सामाजिक (वर चुनने की स्वतंत्रता, स्त्री–पुरुष को एक–दूसरे के दोष दिखाकर तलाक लेने की स्वतंत्रता), आर्थिक (घर के बाहर काम करने की स्वतंत्रता) एवं सांस्कृतिक (जाति के किसी त्यौहार में युवक–युवतियों के साथ मिलकर बाजार जाने, नृत्य करने की स्वतंत्रता) कोई दबाव नहीं है। वैसे कई जनजातियाँ मातृसत्तात्मक है लेकिन अधिकांशतः जनजातियाँ जूलूलैंड अफ़रीका की असभ्य जूली जाति या उत्तर अमेरिका की सीपोहो–कानुमा–कोहकी जाति या भारतवर्ष की 'हो जाति' पितृसत्ता प्रधान है।

लगभग सभी जनजातियों में लड़की पक्ष को देय दहेज की कुप्रथा है अर्थात पिता द्वारा लड़की को बेचने की प्रथा। आज के समय में इस कुप्रथा को अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग नामों से जाना जाता है। ऐसे स्थिति में स्त्रियाँ परावलंबी होकर कैसे खुश

हो सकती है यह जुलाई 1915 सरस्वती पत्रिका के अंक में प्रकाशित 'उत्तरी अमेरिका में ''सीपोहो–कानुमा–कोहकी'' नामक जाति' शीर्षक से प्रकाशित लेख के लेखक ही बता सकते हैं। बीरसेन सिंह अमेरिका लिखते हैं–''लड़की पिता के वश में होती है। पिता लड़की को बेचता है। सुंदर से सुंदर लड़की की कीमत दो घोड़े, भैंसे की खाल, मृगचर्म इत्यादि है। अब इन लोगों को विवाह में ह्विस्की (शराब) भी मिल जाती है। लड़के की तरफ़ से दो गैलन के क़रीब शराब दी जाती है। लड़के के पिता को भी खिलाने पिलाने में कुछ खर्च करना पड़ता है। व्यभिचार से लोग बहुत दूर रहते हैं। स्त्री को पुरुष के अधीन रहना पड़ता है। बिना पुरुष की आज्ञा के वह कुछ नहीं कर सकती। पर स्त्रियाँ खुश रहती है और अपने काम में लगी रहती है।''[63]

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में उल्लेखित जंगली समाज की स्त्रियाँ अपनी विशेषताओं[64] की अपेक्षा घर–बाहर के कामों में निपुणता[65] एवं गृहस्थ जीवन को आनंदमय बनाने के लिए जानी जाती है। यहीं कारण है कि अधिकतर बुद्धिजीवी रचनाकारों को सभ्य समाज के बरक्स जंगली समाज प्रिय लगता है। सभ्य लगता है। अन्यथा किन्नर जाति की स्त्रियों की पीड़ा 'सरस्वती' जुलाई–दिसंबर 1915 के अंक में प्रकाशित 'किन्नर–जाति' शीर्षक लेख से समझी जा सकती है–''इनके विवाह की रीति बड़ी विचित्र है। घर के छोटे बड़े सब भाई मिलकर एक स्त्री रख लेते हैं। इस विवाह को ये लोग पाण्डव विवाह कहते हैं। बड़े भाई की स्त्री सब भाईयों की स्त्री समझी जाती है। इस रीति का यह परिणाम हुआ कि बहुत सी स्त्रियाँ अविवाहिता हैं। यदि इनसे इस रीति का कारण पूछा जाता है तो ये कहते हैं, हमारा देश ठण्डा है। यहाँ अन्न बहुत कम उपजता है। सब भाईयों के अलग अलग स्त्री करने से संतान संख्या बढ़ जाय और उसके पालन पोषण के लिए इस प्रांत में अन्न वस्त्र मिलना कठिन हो जाय। कुटुम्बियों में से एक भाई नमक खरीदने जाता है, दूसरा भेड़–बकरी चराता है, तीसरा अनाज लाता है, चौथा सरकारी बेगार देता है। तब कहीं जाकर कुटुम्ब का निर्वाह होता है। यदि एक एक मनुष्य अलग अलग विवाह करके गृहस्थी चलावे तो इतने काम कैसे कर सके। अतः उसका जीना असंभव हो जाय। इस सम्मिलित विवाह से दूसरा लाभ यह है कि घर में बहुत सी स्त्रियों के आने से परस्पर ईर्ष्या–द्वेष और फूट की अग्नि प्रज्वलित नहीं होती और कुल नष्ट होने से बच जाता है।

इन लोगों में एक और प्रकार का भी विवाह होता है। उसे किन्नर भाषा में 'डबडब' कहते हैं। इसकी विधि यह है यदि लड़की किसी के साथ विवाह करना स्वीकार कर ले, परंतु उसके माता–पिता राजी न हो तो लड़की को अकेली पाकर वर अपने एक दो मित्रों की सहायता से जबरदस्ती उठा ले जाता है। ले जाते समय यदि लड़की के पास उसकी सहेलियाँ हों और वे उस छुड़ाने के लिए दौड़े तो वर के मित्र उन्हें एक एक दो दो रूपये देकर उनसे पिण्ड छुड़ा लेते हैं। लड़की को घर ले जाकर उसके साथ नियमपूर्वक विवाह किया जाता है। यदि वह लड़के के घर जाकर विवाह करना पसंद न करे तो वह अपने पिता के घर वापस भेज दी जाती है।''[67] समाज अपनी विचारधारा में लीन रहता है। उसे वह सही प्रमाणित करने के लिए तर्कविहीन तर्क भी उचित या तर्कपूर्ण प्रतीत होते हैं।

जनजातीय स्त्री समाज अपनी स्वतंत्रता के लिए विख्यात है। रमणिका गुप्ता, निर्मला पुतुल आदि जैसी प्रसिद्ध रचनाकार जनजातीय स्त्री समाज से संबंधित रोचक तथ्य सामने लेकर आई हैं। इसके विपरीत 20वीं शताब्दी की पत्रिकाओं में उल्लेखित देश–प्रदेश का जनजातीय समाज स्त्री स्वातंत्र्य दृष्टि से समान है क्योंकि कुकी, मेंराडे या गरो, मिनटेंग, असम की नागा जनजाति में वर चुनने, आओ, अरलेंग एवं सीपोहो–कानुमा–कोहकी जनजाति में बराबर काम करने, जूलूलैंड अफरीका की जूली जाति में तलाक लेने, उत्तरी अमेरिका की सीपोहो–कानुमा–कोहकी जाति में निश्चित उम्र (रजोदर्शन) बाद विवाह करने, हो एवं किन्नर जाति में स्त्री–पुरुष को एक साथ नाचने गाने की स्वतंत्रता है। हालांकि कुकी, मेंराडे या गरो, मिनटेंग, जेमी, मालाबार, अरलेंग, क्योन–सूस–वा–लोहटा, मिश्मी, सूमा, जूली, हो, सीपोहो–कानुमा–कोहकी, नागा आदि जातियाँ पितृप्रधान या पुरुष प्रधान हैं इसलिए क्योंकि कुकी, मेंराडे या गरो, मिनटेंग, मालाबार जातियों में संपत्ति पर पुरुषों का अधिकार है। क्योन–सूस–वा–लोहटा जाति में छोटी अवस्था अर्थात रजोदर्शन पूर्व विवाह कर दिया जाता है। 'सीपोहो–कानुमा–कोहकी' नामक जाति में स्त्री–पुरुष एक साथ खाना नहीं खाते। 'कुकी', 'अरलेंग', 'मेंराडे', 'क्योन–सूस–वा–लोहटा', 'मिश्मी', 'सूमा', 'जूली', 'हो', 'सीपोहो–कानुमा–कोहकी', 'नागा', 'माड़िये और मुरिये' आदि जातियों में कन्या शुल्क देकर या लेकर लड़की का विवाह किया जाता है। भारतीय जनजातियों में दहेज प्रथा को नगण्य मानने वालों के लिए हो

जाति दहेज प्रथा प्रचलन के सशक्त उदाहरण है। इस जाति के विषय में 'सरस्वती' नवंबर 1915 के अंक में 'हो–जातीय एक नया सम्प्रदाय' शीर्षक से घनीराम बकसी चाईबासा लिखते है–''इस जाति में ब्याह करना बड़ा कठिन काम है। वर के पिता को दस से बीस तक बैल और बहुत सा चावल, दाल इत्यादि अन्न देना पड़ता है। इसमें असमर्थ होने पर शादी रूक जाती है। शादी न होने के कारण ही वहाँ की बहुत सी स्त्रियाँ कुलटा हो जाती है।''[68] स्त्री की विडंबना यह है कि वह स्त्री है। समाज के प्रत्येक वर्ग में उसकी अवहेलना होती है। उसके व्यक्तित्व को अपशब्दों से सुसज्जित किया जाता है। दकियानुसी विचार उसे आत्मघात करने के लिए प्रेरित करते है। इस संदर्भ में किन्नर जाति विशेष उल्लेखनीय है–''आचार की दृष्टि से भी ये लोग अपने पड़ोसी अन्य पहाड़ी लोगों से बहुत अच्छे हैं। शिमले के समीपवर्ती प्रदेश में फ़ीसदी 80 स्त्रियाँ आचारहीना है। पर किन्नर नारियों में इनकी संख्या बहुत ही कम है। सुनते हैं, पहले पति या प्रेमी के विश्वासघात करने और छोड़कर भाग जाने पर अथवा किसी के व्यर्थ लांछन लगाने पर, किन्नर नारियाँ सतलज में कूदकर प्राण परित्याग कर दिया करती थी। अब भी कहीं कहीं ऐसी घटना हो जाती है।''[69]

देश प्रदेश की जातियों, जनजातियों में मात्र उत्तराधिकार का प्रश्न समान है। केरल स्त्री स्वातंत्र्य का आधार स्तम्भ है। मातृसत्ता प्रधान राज्य है। वंश माँ के कुल से चलता है। 'सरस्वती' मार्च 1905 के अंक में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'मलाबार' शीर्षक लेख में लिखा है–''मलाबारी स्त्री–पुरुष में कोई–कोई बातें बहुत ही विलक्षण है। यहाँ के नंबूरी ब्राह्मणों में सिर्फ सबसे बड़े लड़के का विवाह होता है। उसी की संतति वारिस मानी जाती है। इन ब्राह्मणों में स्त्रियाँ बहुत वर्षों तक बे–ब्याही रहती है। कभी कभी चालीस पचास वर्ष की बूढ़ी–बूढ़ी कुमारियों का ब्याह होता है! कोई–कोई बे–ब्याही ही बूढ़ी होकर मर जाती हैं नायर जाति तो शूद्र–स्त्रियों के साथ कभी–कभी और वर्णवाले भी विवाह कर लेते हैं। पर इन लोगों के पति नाम के लिए पति होते हैं; अपनी स्त्रियों पर उनका बहुत कम अधिकार रहता है। बहन और बहन की संतति ही स्वामित्व सारी संपत्ति पर रहता है।''[70] मलाबार के नयादी समाज को ब्राह्मण क्या, जंगल जातियाँ भी अन्त्यज मानती है। नयादी आलसी होने के कारण रस्सी बेचकर और जीवन निर्वाह करते हैं तो संपत्ति के उत्तराधिकार का प्रश्न व्यर्थ है।[71] जेमी समाज में संपत्ति अधिकार के

नाम पर मृत स्त्री की पुत्री को अपनी माता के गहनों से आश्वस्त होना पड़ता है। स्त्रियों को पुत्र प्राप्ति न होने की स्थिति में निकट के संबंधी पुरुष को संपत्ति का उत्तराधिकारी मानना ही पड़ता है।[72]

जनजातियों में वस्त्रों का परित्याग आम प्रथा है। इन जंगली/असभ्य जातियों का अपने समाज के बीच ऊपरी अंगवस्त्र के बगैर विचरण स्वतंत्रता का प्रतीक हो सकता है लेकिन 19वीं शताब्दी में यह गैर सवर्ण समाज की स्त्रियों के विरुद्ध एक कुप्रथा थी। 26 जुलाई 1859 केरल की अवर्ण स्त्रियों के ऐतिहासिक विद्रोह ने वक्ष स्थल को ढकने का अधिकार दिलाया। अवर्ण समाज की स्त्रियाँ स्वयं को बदलने के प्रयास में अमानवीय व्यवहार का शिकार हुई। 19वीं शताब्दी में गैर सवर्ण ही नहीं बल्कि नंबूदरी ब्राह्मण और क्षत्रिय नायर जातियों की स्त्रियों को अंगवस्त्र विहीन रहना होता था–''नायर औरतों को ब्राह्मण पुरुषों के सामने अपना वक्ष खुला रखना होता था। सबसे बुरी स्थिति दलित औरतो की थी जिन्हें कहीं भी अंगवस्त्र पहनने की मनाही थी। पहनने पर उन्हें सजा भी हो जाती थी। एक घटना बताई जाती है जिसमें एक निम्न जाति की महिला अपना सीना ढक कर महल में आई तो रानी अत्तिंगल ने उसके स्तन कटवा देने का आदेश दे डाला।''[73] समाज का कटु यथार्थ यह है कि भारतीय समाज का कोई भी वर्ग अपने से निम्न जाति को बराबरी का अधिकार नहीं देना चाहता।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में अफरीका की खर्वाकार जंगली जाति, असम की नागा जाति, दक्षिण अफरीका के जूलूलैंड क्षेत्र की जूली जातियों की स्त्रियों का अंगवस्त्र न धारण करना कुप्रथा का हिस्सा है। कुलीन पुरुषों को प्रसन्न रखने के लिए खर्वाकार जाति ने स्त्रियों का खूब प्रयोग किया। इस संदर्भ में महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' फरवरी 1904 का अंक 'आफ़रीका का खर्वाकार जंगली मनुष्य' दृष्टव्य है–''1888 ईसवी के मार्च महीने में, जिस समय स्टैनली साहब इटोपो नामक जगह से कुछ दूरी पर खेमें डाले हुए थे, उनके पास एक खर्वाकार स्त्री लाई गई। जहाँ पर खेमे थे उससे 14 मील पर इन जंगली लोगों के रहने की जगह थी। ये लोग बड़े जबरदस्त चोर होते हैं। स्टैनली साहब के खेमे तक ये धावा मारते थे और खाने पीने की चीजें चुरा ले जाते थे। यह स्त्री इन्देकरु नामक नगर के खर्वाकार राजा की रानी थी। यह प्रायः

नग्न थी। इसके गले में पालिश किये हुए लोहे की पतली पतली हंसुलियाँ थीं जिनके किनारे, दोनों छोरों पर, छड़ी की कमानी के समान, घेरदार थे। उनके कानों से लोहे की तीन–तीन मोटी–मोटी बालियाँ लटकती थीं। बाजूबंद भी उसने लोहे ही के पहन रक्खे थे। उसकार रंग भूरा; मुँह फैला हुआ गोल था; होंठ छोटे परंतु भरे हुए थे। कमर में वह छाल का एक छोटा सा कपड़ा लपेटे हुए थी। यद्यपि वह प्रायः नग्न थी, तथापि उसके चेहरे से शालीनता झलकती थी। वह सब प्रकार से शांत थी। ऊँचाई में वह 4 फुट 4 इंच थी। उमर उसकी कोई 19 वर्ष की होगी। उसे देखकर चित्त बहुत प्रसन्न होता था।''[74] मध्य प्रदेश की माड़िये और मुरिये जंगली जातियों में स्त्रियों के नग्न रहने को निज़ामशाह ने स्त्रियों की दिगंबरता कहा है। 'सरस्वती' अगस्त 1909 के अंक में निज़ामशाह लिखते हैं–''माड़िया जाति के लोग, खास कर औरतें, अब भी अधनंगी ही रहती हैं। अपने गाँव के तेवहार में सब औरतें चाँवल आदि तैयार करती हैं तब वे बिलकुल नंगी हो जाती हैं। यह समझती हैं कि नंगी होकर काम करने से बरकत होती है।''[75] हालांकि आज बाजारीकरण से उत्पन्न नए सामाजिक संबंधों के प्रभाव में विभिन्न जनजातियों की स्त्रियाँ इस कुप्रथा से मुक्त हैं। पूर्णतः जनजातियों में अंगवस्त्र पहनने का रिवाज चल पड़ा है। ऐसे रिवाज को रमणिका गुप्ता जनजाति स्त्रियों की इच्छा के विरुद्ध मानती है। उनकी दृष्टि में जनजाति स्त्री को जनजाति, गाँव, परिवार के बड़े–बूढ़ों द्वारा बिना सोचे समझे दबाना है।

जाने–अनजाने 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाएँ विविध संस्कृतियों के माध्यम से विश्व समाज के समस्त तथ्य खोल देती हैं। इससे समाज की स्त्री विरोधी मानसिकता का पता चलता है। वह किस हद तक स्त्री प्रगति चाहता है यह साफ झलकने लगता है। गुण और अवगुण किसी वस्तु के दो पहलू है। हम विविध गुणों को अपनाकर नवीन संस्कृति जन्य उज्जवल भारत का निर्माण कर सकते हैं। इसमें स्त्री को स्त्री न समझ उसके व्यक्तित्व को प्रमुखता दी जाए तो बेहतर होगा।

संदर्भ सूची

1. धर्मः प्रासंगिकता के सवाल, (सं.) पंकज बिष्ट, पृ. 81

   ''प्रकृति से मनुष्य के दो प्रकार के संबंधों से धर्म का कभी जन्म हुआ होगा। एक तो भय का संबंध। भय के भाव के कारण प्रकृति के प्रति उसके मन में एक तरह का समर्पण का भाव भी दिखाई देता है। भय और समर्पण के भाव दोनों मिलकर आरंभिक दौर में धर्म की भावना कां निर्माण करते हैं।''
2. पंडिता रमाबाई, शंभू जोशी (अनु.), पृ. 36–37
3. स्त्रीदर्पण, फरवरी 1917, पृ. 58
4. वही, पृ. 59
5. सरस्वती, जनवरी 1915, पृ. 28–29
6. धर्मः प्रासंगिकता के सवाल, (सं.) पंकज बिष्ट, पृ. 115
7. 'स्त्रीदर्पण', अगस्त 1917 पृ. 83
8. सरस्वती, जनवरी 1915, पृ. 30
9. स्त्रीदर्पण, सितंबर 1917, पृ. 121
10. सरस्वती, जनवरी 1915, पृ. 29
11. स्त्रीदर्पण मई 1917, पृ. 249
12. वही, पृ. 252

    ''हमारा परम धर्म इसी में है कि हम पुरुषों के अधीन होकर रहें यदि हम सुख पाने के इच्छा रखती है तो पति की रहें कुटुम्ब की भलाई चाहें और यदि घर में कोई ऐसी बातें हों जिन से कलह होती हो तो उसे उभाड़ने की कोशिश छोड़कर उसको मिटाने की कोशिश करें और हमेशा प्रसन्न चित्त गृहोपकारणी और स्वामी में प्रीति करने वाली रहें।''
13. वही, पृ. 251
14. वही
15. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1920, पृ. 355
16. वही, पृ. 247
17. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1918, पृ. 229
18. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 23–24
19. वही, पृ. 22
20. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1920, पृ. 354

    ''संसार में स्त्रियों के द्वारा यदि पाप और अधर्म की मात्रा की वृद्धि हुई, तो किसे यह कहने को मुँह होगा कि उसमें दोष केवल स्त्री का था। उस समय तक पुरुष का नाम नहीं सुनते। केवल स्त्री ही का नाम सुन पड़ता है। स्त्री के पाप और अधर्म में पुरुष जिसकी सबसे अधिक जिम्मेदारी है, उसकी बात कम ही सुनते हैं।

इस धर्म के भंग होने पर समाज उस स्त्री को बड़ा कड़ा दण्ड मिला है, परन्तु उससे बचने के लिए स्त्री के माता पिता स्वयं ही अपनी औलाद को जाकर काशी, प्रयाग आदि तीर्थों में छोड़ आते हैं, और वह सदा के लिए नटर हो जाती है। अपनी औलाद पर माता पिता का यह अत्याचार केवल इसलिए होता है कि स्त्री के दोष के कारण कहीं उनका सारा वंश समाज के द्वारा बहिष्कृत न हो जाय। इसलिए, वह अत्याचार माता–पिता का नहीं बल्कि प्रकारान्तर से समाज ही का है।''

21. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1920, पृ. 356
22. सरस्वती, जनवरी 1915, पृ. 29
23. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1918, पृ. 227
24. सरस्वती, जनवरी 1915, पृ. 30
25. स्त्रीदर्पण, अक्टूबर 1919, पृ. 28
26. वही, नवंबर 1919, पृ. 271
27. अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, पृ. 14
28. स्त्रीदर्पण, मार्च 1919, पृ. 143
29. स्त्रीदर्पण जुलाई, मार्च 1919, पृ. 143

    ''प्यारे भाइयों और प्रिय बहिनों, अब तो समझो और अपने धर्म और कर्तव्य को पहिचानो, मूर्खता और अन्धविश्वास को दूर भगाओ।''
30. स्त्रीदर्पण, जुलाई 1917, पृ. 54
31. वही, पृ. 55
32. स्त्रीदर्पण 1919, पृ. 54
33. वही, पृ. 55
34. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1918, पृ. 226
35. वही, पृ. 271
36. स्त्रीदर्पण, नवंबर 1918, पृ. 226

    ''हमको पुराने आदर्शों का मान करते हुए भी, इस बात की आवश्यकता है कि संसार की धारा को देखते हुए भी, अपने वर्तमान आचार विचारों में समयानुकूल उचित परिवर्तन करे। पकृति का यह एक अटल नियम है कि जो व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र समयानुकूल अपनी दशा नहीं सुधारता, उसका नाश होना निश्चित है। इसीलिए हमारा भी, पुराने आदर्शों को बीसवी शताब्दी में आद्योपान्त लाना केवल हानिकारक ही नहीं किन्तु आत्मघात करना होगा। पश्चिम में जो नैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रश्न उठ चुके हैं, वे भारत में भी उठ रहे हैं इनकों न्यायपूर्वक ठीक हल करना हमारा परम धर्म है। एक मुट्ठी भर मनुष्य भले ही ऋषियों के समय का जीवन व्यतीत करते हुए के आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति में लगे रहे, किन्तु सर्वसाधारण के लिए यही पुराना आदर्श कायम रखना, दासता की जंजीर को सदा बनाये रखना है।
37. गोविंद चातक, संस्कृतिः समस्या और संभावना, पृ. आमुख
38. सरस्वती, जनवरी 1915, पृ. 2
39. वही, जुलाई 1911, पृ. 341

40. वही, मार्च 1908, पृ. 132
41. वही, पृ. 133–134

''अब ज़रा ग्रामीण स्त्रियों का हाल सुनिए। शहरों की स्त्रियाँ तो अपने समय को देश और जाति के उपकार के लिए खर्च करतीं हैं, पर गाँवों की स्त्रियाँ क्या करती है? आपकों यह जानने की अवश्य ही इच्छा होगी। मुझे खुद इस बात के जाने का बड़ा शौक़ था। पिछले साल गरमियों में मुझे शिकागो से बाहर दूसरी रियासतों में घूमने का अवसर हाथ लगा। वहाँ मुझे यह देख कर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि चार पाँच सौ की आबादी तक के गाँवों में स्त्रियों की सभायें हैं। ये सभायें अपने अपने गाँव की ज़रुरतों को दूर करने के इरादे से खोली गई हैं। गाने बजाने का सामान सभी जगह है। यहाँ तक कि गाँव में क़रीब क़रीब सब के घर में पियानो (Piano) बाजा है। पुस्तकालयों का तो कहना ही क्या है! ग़रीब से ग़रीब के यहाँ भी पचास साठ उमदा उमदा ग्रंथ होंगे। शेक्सपीयर, जार्ज इलियट, इमरसन आदि साहित्यचार्य्यों के नाम आप झोपड़ियों तक में सुनेंगे।''

42. वही, पृ. 134–135
43. स्त्रीदर्पण, अगस्त 1918, पृ. 94
44. ताराबाई शिंदे, स्त्री–पुरुष तुलना, (अनु.) जुई पालेकर, पृ. 29

''इसलिए सोचती हूँ कि ईश्वर यह अंग्रेज सरकार की शासन–प्रणाली ही कायम रखे। कम–से–कम इन अंग्रेजों ने तो स्त्रियों को पढ़ा–लिखा कर सुशिक्षित करने पर ज़ोर दिया है और विद्यादान के कारण व्यवहारिक एवं मानसिक अपमानों के क्षणों में भारतीय नारी अपना मानसिक संतुलन धैर्य से बना कर खड़ी हो पाई। उनका अज्ञान दूर हुआ और सत्य, धर्म, स्वधर्म सब की जानकारी उन्हें मिली।''

45. सरस्वती, सितंबर 1911, पृ. 413
46. स्त्रीदर्पण मई 1917, पृ. 232
47. वही, पृ. 231
48. प्रभा, जुलाई 1915, पृ. 231–232
49. सरस्वती, जुलाई 1915, पृ. 165
50. प्रभा, नवंबर 1913, पृ. 470–471
51. वही, दिसंबर 1913, पृ. 561
52. वही, पृ. 550
53. सरस्वती, मार्च 1905, पृ. 95
54. फ़्रेडरिख़ एंगेल्स, परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, (अनु. और संपा.) नरेश 'नदीम', पृ. 56

''आदिम काल में आम तौर पर पायी जानेवाली स्त्रियों की प्रधानता का भौतिक आधार वह कम्युनिस्टमूलक घराना था जिसमें अधिकतर स्त्रियाँ, बल्कि सभी स्त्रियाँ, एक ही गोत्र की होती थीं और पुरुष दूसरे अलग–अलग गोत्रों से आते थे।''

फ़्रेडरिख़ एंगेल्स, परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, (अनु. और संपा.) नरेश 'नदीम', पृ. 62

''निम्न अवस्था की बर्बर अवस्था की बर्बर जातियों के लिए दास व्यर्थ थे। यही कारण था कि अमरीकी इंडियन युद्ध में पराजित अपने शत्रुओं के साथ जो व्यवहार करते थे, वह अधिक उन्नत अवस्था में उनके

साथ किए जानेवाले व्यवहार से बिलकुल भिन्न था। पुरुषों को विजयी क़बीला या तो मार डालता था या उन्हें अपने भाईयों के रूप में स्वीकार कर लेता था। स्त्रियों से या तो विवाह कर लिया जाता था या उन्हें भी, मय उनके बचे हुए बच्चों के, क़बीले का सदस्य बना लिया जाता था।''

55. सरस्वती, नवंबर 1902, पृ. 343
56. वही, पृ. 343
57. वही, पृ. 342
58. वही, पृ. 240
59. वही, पृ. 344
60. वही, पृ. 341
61. वही, पृ. 345
62. वही, फरवरी 1904, पृ. 101
63. वही, नवंबर 1915, पृ. 235
64. वही

    ''यद्यपि यह जाति जंगल और असभ्य कही जाती है, पर इसमें कन्या का विवाह संस्कार बारह वर्ष की उम्र में होता है। परंतु सभ्यता का दम भरने वाले हम अभी तक यही प्रस्ताव 'पास' कर रहे हैं कि रजोदर्शन के पहले ही कन्या का विवाह हो जाना चाहिए। इस विषय में तो हमारी अपेक्षा ये जंगल ही भले हैं।''

65. वही, पृ. 234–235

    ''स्त्री पुरुष एक साथ भोजन नहीं करते। ऐसा करना अनुचित समझा जाता है। खाना पकाना स्त्री का कर्तव्य है। पुरुष पहले भोजन करते हैं। बाद को स्त्रियाँ बच्चे किसी के खेमे में बे–रोकटोक जा सकती है। इच्छा होने से वहाँ भोजन भी खुशी के साथ मिल सकता है।

    स्त्रियाँ पुरुष की दासी समझी जाती हैं। भोजन पकाना, घर का सब काम सँभालना उनका धर्म है। वे लड़ाई–भिड़ाई करना नहीं जानती। खेती का काम स्त्रियाँ करती है।''

66. वही, दिसंबर 1915, पृ. 369

    ''इन लोगों का गृह जीवन बड़ा आनंदमय है। चाय पीते और भोजन करते समय गृहिणी नमक़ीन या चाय की देग़ची सामने रख लेती है। सारा परिवार पंक्ति बाँध कर उसके चारों ओर बैठ जाता है। वह प्यालियों में चाय डालती जाती है और वे पीते जाते हैं। एक घूँ पी लेते हैं, फिर प्याली को भूमि पर रख कर बातें करने लग जाते हैं। प्याली में चाय न रह जाने पर किसी को माँगने की आवश्यकता नहीं होती; गृहदेवी स्वयं सब का ख़याल रखती है। प्याली ख़ाली नहीं होने पाती कि उसमें वह और चाय डाल देती है। इस समय ये लोग, कंगाल होकर भी, चक्रवती से प्रतीत होते हैं।''

67. वही, दिसंबर 1915, पृ. 368
68. वही, नवंबर 1915, पृ. 225
69. वही, दिसंबर 1915, पृ. 367
70. वही, मार्च 1905, पृ. 95
71. वही, जनवरी 1907, पृ. 357

''नयादी बड़े आलसी होते हैं। ये कोई काम नहीं करना चाहते। विशेषतः रस्सी बेचकर अथावा भीख माँगकर ये अपना जीवन–निर्वाह करते हैं। अँगरेज़ी सरकार तथा पादरी लोग इनकी दशा सुधारने की बहुत कोशिश कर रहे हैं। परंतु अभी तक यथेच्छ सफलता नहीं प्राप्त हुई।''

72. वही, नवंबर 1902, पृ. 345

''किसी मनुष्य की मृत्यु पर उसकी सब संपत्ति उसके पुत्र को मिलती है। लड़की को केवल उसकी माता क गहने मिलते हैं। लड़की को केवल उसकी माता के गहने मिलते हैं। यदि किसी मनुष्य के लड़का न हो तो उसकी संपत्ति उसकी लड़की को न मिलकर उसके सबसे निकट के पुरुष संबंधी को मिलती है।''

73. http://www.streekaal.com/2014/10/blog-post_88.html
74. सरस्वती, फरवरी 1904, पृ. 68
75. वही, अगस्त 1909, पृ. 357

हमारे समय के साहित्यिक प्रश्नों में एक प्रमुख प्रश्न है–'स्त्री मुक्ति'। इसे स्त्री स्वाधीनता' या 'स्त्री मुक्ति' किसी भी रूप में लिया जाए; इसके अर्थ ग्रहण में कोई ख़ास फ़र्क नहीं पड़ेगा। स्त्री मुक्ति की अवधारणा संपूर्ण व्यक्ति समाज की मुक्ति के परिप्रेक्ष्य में ही सार्थक हो सकती है। इसी से स्त्री मुक्ति या स्त्री मुक्ति जैसे अन्य संबोधकों का अभिप्राय होना चाहिए। स्त्री मुक्ति सामाजिक परिवर्तन की राह में उपजा आधुनिक दृष्टिकोण होने के बावजूद भारतीय इतिहास में इसके बीज मौजूद है। भारतीय इतिहास के अनादिकाल में स्त्रियों के प्रति पुरुष प्रधान दृष्टिकोण और स्त्रियों की तर्क–वितर्क की प्रवृत्ति से 'स्त्री मुक्ति' अवधारणा का जन्म हुआ। इसके बाद गौतम बुद्ध आश्रम में समाज के विरुद्ध जाकर स्त्रियों का प्रवेश, मीरा एवं आण्डाल स्त्रियों का धर्म की बेड़ियाँ तोड़कर उनका सामाजिक–धार्मिक हस्तक्षेप, 19वीं शताब्दी में समाज सुधारकों/साहित्यिक लेखकों का स्त्री अधिकारों के पक्ष में छेड़ा गया आंदोलन स्त्री मुक्ति मार्ग में स्तर–पर–स्तर पड़ाव हैं।

सामाजिक परिवर्तन का सीधा संबंध साहित्यिक विषयक परिवर्तन से है। समाज में जो घटित होगा उसका संबंध साहित्य से होगा और साहित्य में जो अपेक्षित होता है उसका प्रभाव समाज पर पड़ेगा। पत्र–पत्रिकाएँ साहित्य का अभिन्न अंग होने के कारण अधिक प्रभावपूर्ण होती है। यह व्यक्ति के तत्कालीन क्रियाकलापों की अभिव्यक्ति के साथ–साथ सामाजिक परिवर्तन का तात्कालिक जरिया होती है। किसी दृष्टिकोण को आंदोलन का रूप देना इन्हें बखूबी आता है। यही कारण है 20वीं शताब्दी में समाज सुधार आंदोलन, राष्ट्रीय आंदोलन, स्त्री मुक्ति आंदोलन आदि रूप में विविध आंदोलन दिखाई पड़ते है। 20वीं शताब्दी में ये आंदोलन अलग–अलग होकर भी इसलिए एक थे क्योंकि प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में तत्कालीन भोगे सच को सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों के साथ देखा जाने लगा था। एक प्रकार से 'राष्ट्रीय मुक्ति' में 'सामाजिक मुक्ति', 'सामाजिक मुक्ति' में 'स्त्री मुक्ति' देखी जाने लगी थी। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री अस्मिता एवं मुक्ति पर निरंतर प्रश्न उठाए गए हैं तथा आज तक साहित्य और समाज में इनकी खोज जारी है। इस कारण 20वीं सदी की साहित्यिक पत्रकारिता के परिवेश में स्त्री मुक्ति एवं उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीति और सांस्कृति संदर्भ को जानना अनिवार्य हो जाता है। इससे पूर्व स्त्री मुक्ति के अर्थ को जानना आवश्य है।

7.1 स्त्री स्वाधीनता बनाम मुक्ति का अर्थ

'स्त्री मुक्ति' स्त्रियों के बंधन युक्त जीवन से मुक्ति की आकांक्षा से जुड़े यथार्थ पर टिकी अवधारणा है। साधारण शब्दावली में स्त्री मुक्ति का अर्थ किसी कल्पना से परे स्त्री के उन्मुक्त जीवन से है। इसका कुछ विचारक स्वतः स्त्रियों की उच्छृंखला से अर्थ लगा लेते है। यह परंपरागत मानसिकता का परिसीमित अर्थ है। साधारण शब्दावली में 'मुक्ति' किसी बंधन आदि से छूटने की अवस्था या भाव को कहते हैं। वैयक्तिक 'मुक्ति' के संदर्भ में 'मुक्ति' स्वतंत्रता, स्वाधीनता आदि का पर्याय है। इन पर्यायों में स्त्री मुक्ति को किसी परिभाषा में बाँधना थोड़ा जटिल है क्योंकि स्त्री मुक्ति के विविध संदर्भों में अलग–अलग अर्थ लगाए जाते हैं–सामाजिक मुक्ति, आर्थिक मुक्ति, राजनैतिक मुक्ति, सांस्कृतिक मुक्ति, नैतिक मुक्ति, धार्मिक मुक्ति और अंतिम देह मुक्ति।

सामाजिक–राजनैतिक–नैतिक मुक्ति से स्त्री मुक्ति का स्वप्न पूरा नहीं हो जाता। स्त्रियों को कुछ अधिकार देने एवं नियम परिवर्तित कर देने से स्त्री मुक्ति को साकार समझ लेना विचारकों की भूल है। दरअसल सामाजिक मुक्ति का मामला नैतिकता के सरोकार को सीधे तौर पर स्त्रियों से जोड़कर देखे जाने का भी है। यहाँ नैतिकता का टूटना सांस्कृतिक बिखराव कहलाता है। स्त्रियों के लिए यह नैतिक एवं सांस्कृतिक मुक्ति है और अन्य के लिए समाज में फैली अराजकता। समाज का अस्तित्व व्यक्ति की स्वायत्ता में होना चाहिए क्योंकि 'समाज' का अस्तित्व 'व्यक्ति' से है न कि 'व्यक्ति' का 'समाज' से। समाज के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए नैतिकता महत्त्वपूर्ण है; बशर्ते वह व्यक्ति के सर्वांगीण विकास अथवा वैयक्तिक स्वायत्ता में सहायक हो। ऐसे ही आर्थिक स्वतंत्रता से स्त्रियों को मुक्ति मिलने वाली नहीं है। यह समाज में भ्रम पैदा करने की स्थिति है कि आर्थिक रूप से स्वतंत्र स्त्रियाँ 'स्वतंत्र' है। धार्मिक मुक्ति आध्यमिकता की ओर ले जाती है। आध्यात्मिकता में सांसारिक कष्टों के निवारण हेतु अपने ईष्ट को प्राप्त करने का जरिया है। इसमें स्त्रियों को सबसे बड़ी बाधा माना गया। 17वीं शताब्दी पूर्व कहीं न कहीं आध्यात्मिकता स्त्रियों के साथ किए जाने वाला बड़ा भेदभाव था। आज के दौर में इससे स्त्रियों का कोई भला होने वाला नहीं है। सबसे विचारणीय स्त्रियों की देह मुक्ति है। इसमें स्त्रियों की समग्र मुक्ति खोजी जाती है। यह विचारकों के लिए आज तक आलोचनीय बना हुआ है। इनमें से किन्हीं एक के प्राप्त कर

लेने को 'स्त्री मुक्ति' नहीं कहा जा सकता। 'स्त्री मुक्ति' स्त्री जीवन के सम्रगता का विषय है। प्रत्येक को सम्रगता में प्राप्त करना 'स्त्री मुक्ति' का लक्ष्य है। इसलिए सामाजिक मुक्ति, आर्थिक मुक्ति, राजनैतिक मुक्ति, सांस्कृतिक मुक्ति, नैतिक मुक्ति, धार्मिक मुक्ति और देह मुक्ति बनाम स्त्री मुक्ति एक विशेष प्रकार की व्याख्या की माँग करती है।

स्त्री के सामाजिक, आर्थिक, राजनीति एवं सांस्कृतिक पदानुक्रम का एक बड़ा कारक जैविक संरचना है। एक हद तक यह जैविक संरचना प्राकृतिक प्रक्रिया है। इस प्राकृतिक जैविक संरचना में आधारभूत अंतर स्त्री–पुरुष का गर्भधारण एवं गर्भ बीज क्षमता का है। इस अंतर की सार्थकता एक–दूसरे के पूरक होने में है लेकिन सामाजिक–सांस्कृतिक सैद्धांतिकी में लैंगिक विभेद अप्राकृतिक है; सामाजिक–सांस्कृतिक निर्मिति है। इसे प्रसिद्ध कथाकार एवं विचारक सुधा अरोड़ा के शब्दों से समझा जा सकता है। वह लिखती हैं–''जिस तरह लड़की पैदा नहीं होती, उसे बनाया जाता है, वैसे ही लड़का भी पैदा नहीं होता, उसे बचपन से ही ठोक पीटकर लड़का बनाया जाता है। वह रोये तो उसके आँसू छीन लिए जाते हैं–क्या लड़कियों की तरह रोता है! यानी रोना गले तक आए तो भी आँसू मत बहा, क्योंकि आँसुओं पर लड़कियों की बपौती है। उससे कोमल, नरम, भीगे रंग छीन लिए जाते हैं–तू क्या लड़की है जो पीला, गुलाबी रंग पहनेगा? उसके लिए गाढ़े रंग हैं–काला, भूरा, गहरा नीला रंग ही उस पर फबेगा, आसमानी या गुलाबी में तो वह लड़की दिखेगा। उसे सॉफ्ट टॉयज नहीं दिए जाते–तू क्या लड़की है, जो गुड़िया से खेलेगा! उसके हाथ में पज़ल्स, ब्लॉक्स, बंदूक और मशीनी औजार थमा दिए जाते हैं। कुल जमा बात यह है कि बच्चे को शुरु से ही कठोर, रुश्क–शुष्क, वर्चस्ववादी हिंसक होने का रोल थमा दिया जाता है।''[1] स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं कैसे सामाजिक–सांस्कृतिक सैद्धांतिकी पुरुष सत्तात्मक संरचना का निर्माण करती है। इसमें इनका प्रमुख ध्येय विविध मान्यताओं, संस्कारों के माध्यम से शोषण को सहज, स्वाभाविक बनाकर मान्यताओं के रूप में मन–मस्तिष्क में बैठाना है। स्त्रियों पर अपना वर्चस्व कायम करना है।

'स्त्री मुक्ति' में किसी भी प्रकार की वर्चस्ववादी सत्ता के लिए कोई जगह नहीं है। स्त्रियाँ 'स्त्री मुक्ति' के माध्यम से अपने प्रति परंपरागत धारणाओं को तोड़कर मुख्यधारा का हिस्सा बनना चाहती है। प्रत्येक वस्तु, विचार, सृजन, संस्थागत रूपों आदि में बराबर का

अधिकार एवं सम्मान पाना चाहती है। यह परिवर्तन पुरुष सत्तात्मक संरचना में 'मानसिक बदलाव' से ही संभव है। यह इतना आसान नहीं हैं क्योंकि भारतीय समाज में इस पुरुष मानसिकता के वाहक केवल 'पुरुष' नहीं है बल्कि 'स्त्रियाँ' भी हैं। अधिकांशतः भारतीय स्त्रियाँ पुरुषवादी मानसिकता से ग्रस्त दिखलाई पड़ेंगी। यहाँ जितना पुरुषों की मानसिकता को बदलना आवश्यक है उससे कहीं अधिक आवश्यक स्त्रियों की पुरुषवादी मानसिकता का बदलना है। अन्यथा यह मानसिकता विशेषकर स्त्रियों के लिए अत्यधिक घातक है। मन्नू भंडारी ने स्त्री मुक्ति को इस संदर्भ से जोड़ते हुए स्त्रियों की दो स्थितियों से मुक्ति की बात कही है–''एक तो सबसे पहले पुरुष वर्चस्व की संस्कृति से। दूसरा, स्त्री को लेकर हमारे यहाँ जो स्त्रियों की मानसिकता है, पुरुष तो छोड़ भी देगा एक बार, लेकिन यहाँ स्त्री ही स्त्री को नहीं छोड़ती है। क्योंकि उसकी जड़ों में वही संस्कार गहरे तक बैठे हैं।''[2] यहाँ कहीं पुरुषों का विरोध नहीं है। इस तथ्य के आधार पर पुरुषों से कहीं अधिक स्त्रियाँ 'स्त्रियों' की विरोधी कहलाएगी न कि पुरुष की। स्त्री का संघर्ष पुरुषों से न होकर पुरुषवादी मानसिकता से है। संघर्ष उनके द्वारा बनाई गई निर्मितियों से हैं। मृदुला गर्ग भी प्रायः कहा करती हैं 'स्त्री की मुक्ति या प्रगति तभी सार्थक हो सकती है, जब उसकी लड़ाई पुरुष से न होकर दोषपूर्ण व्यवस्था, रूढ़ धार्मिक मान्यता, दोहरी मूल्य पद्धति आदि से हो।' तात्कालिक 'स्त्री मुक्ति' के लिए मर्दवादी बन जाना स्थायी समाधान नहीं है। एक प्रकार से यह पुरुषों की उपेक्षा है जैसे कि प्राचीनता से पुरुष करते आए हैं। स्त्रियाँ किसी के लिए अपनी स्वाभाविकता/प्राकृतिकता क्यों खोए? जीवन की सच्चाईयों के बीच रहकर परिवर्तन लाना है। सुधीर पचौरी ने मर्दवाद और स्त्री मुक्ति के अतंःसंबंध पर दृष्टि डालते हुए लिखा है–''बायो या जैविक भेद कहे या कहे लिंग भेद यदि औरत से माँग करता है कि वह भी वह सब करे जो मर्द करता रहा है तो वह फिर स्त्री–विमर्श के साथ अन्याय होगा। मर्द की नकल करते हुए मर्दवाद नहीं मिटेगा।''[3]

मुख्यधारा की आधी दुनिया हाशिए पर पड़ा 'स्त्री समाज' है। पुरुषवादी मानसिकता से लैस एवं पूर्ण समस्त 'आधी दुनिया' उपेक्षित है। उपेक्षा वस्तुतः अर्धसमाज की अस्वीकृति को दर्शाती है। मुख्यधारा में इनकी अनुपस्थिति आधा–अधूरा यथार्थ है। संपूर्ण समाज के यथार्थ की परिकल्पना को पूरा करने का प्रयास 'स्त्री मुक्ति' जैसा विचारात्मक आंदोलन कर रहा है। इस यथार्थ को स्त्रियों द्वारा अकेले समाज के सामने लाना कठिन है। पुरुष बनकर

या पुरुषों के बिना संपूर्ण समाज के यथार्थ का विकल्प व्यर्थ है। पुरुषों को साथ लेकर चलने से ही बेहतर यथार्थ को पेश किया जा सकता है। क्योंकि ''मुक्ति की अवधारणा का पुरुषों में परिवर्तित चेतना और महिलाओं में अपने को लेकर समान रूप से परिवर्तित नजरिए से गहरा ताल्लुक है।''[4] आखिर समूची सामाजिक व्यवस्था को बदलने का मामला है। सिर्फ स्त्री और पुरुष के बीच का मामला नहीं है कि 'स्त्रियाँ' पुरुषों के बगैर संघर्ष करके मुक्त हो जाएगी।[5] स्त्री मुक्ति द्वारा पुरुषसत्तात्मक मानसिकता में बदलाव नवीन सामाजिक बदलाव के अंतर्गत तमाम तरह के स्तरीय–भेदभाव, सामाजिक विकृतियों, नवीन जीवन शैली के निर्धारण एवं परिमार्जन का है।

भारतीय समाज में स्त्री संबंधी बोध का पैमाना बायोलॉजिकल है। बायोलॉजिकली स्त्री मुक्ति को पुरुष से मुक्ति, देह मुक्ति से जोड़ दिया जाता है। इस आधार पर अक्सर 'स्त्री विरोधी' स्त्री मुक्ति को बायोलॉजिकल कंस्ट्रक्ट यानी जेंडर मुक्ति को एकपक्षीय दृष्टिकोण से आँककर विरोध करने लगते हैं। ऐसे विचारक स्त्री मुक्ति के द्विअर्थ–त्रिअर्थ को समझने का कतई प्रयास नहीं करते हैं। राजेन्द्र यादव ऐसे पहले विचारक हैं जो स्त्री की पहली मुक्ति उसकी देह से मानते हैं। उन्होंने कहा है–''सबसे पहले मुक्ति शरीर के धरातल पर होती हैं जब वह यह कहने लगती है कि ये शरीर मेरा है, मैं इसका जैसा चाहे इस्तेमाल कर सकती हूँ तभी से स्त्री मुक्ति का दूसरा दौर शुरु होता है।''[6] राजेन्द्र यादव का यह कथन यौन स्वतंत्रता/उच्छृंखलता की अनुमति देता होगा! लेकिन हमें यह देखना है कि इससे अत्यधिक लाभ किसे पहुँच रहा है। कहीं वह एक बार फिर बायोलॉजिकल शोषण का शिकार तो नहीं हो रही है। स्त्री मुक्ति बनाम देह मुक्ति की अपने द्विअर्थ–त्रिअर्थ में यौनिक/शोषित वस्तु बनने से साधिकार इंकार की गुंजाइश यहाँ दिखलाई पड़ती है।

स्त्री मुक्ति को देह मुक्ति से जोड़ने का कारण इतिहास से लेकर वर्तमान तक की स्थितियों के आकलनों में बायोलॉजिकल प्रॉजपैक्टिव का होना है। सुख–दुख, हर्ष–विषाद, लाभ आदि प्रत्येक प्रॉजपैक्टिव से स्त्रियों का भरपूर लाभ उठाया जाता है। यह स्त्रियों पर है कि स्त्रियाँ अपने शरीर और उससे जुडी विशिष्ट अवस्थाओं, आवश्यकताओं एवं विकृतियों के विषय में जाने और उनसे निपटने का प्रयास करे। प्रसिद्ध स्त्री विमर्शकार अनामिका की दृष्टि में स्त्री मुक्ति के लिए देह मुक्ति की प्रासंगिकता इसी में है–''देह मुक्ति का अर्थ दैहिक

अनाचारों से मुक्ति है। स्त्री देह उसके शोषण की आधारभूमि, उसकी प्राइम साइट रही है–भ्रूणहत्या, बलात्कार, भावहीन, सम्भोग, इन्सेस्ट, पर्दा, सती, डायन, दहेज–दहन, पव्यीकरण, ट्रैफिकिंग, पोनोग्राफी, सुरक्षित प्रसव का अभाव, सारे स्त्री संबंधी अपराध झेलती है स्त्री देह, देह से मुक्ति का अर्थ है देह आधारित अन्यायों, शोषण चक्रों, पूर्वाग्रहों का अंत, वैशिष्ट्य ही पहचान और मस्तिष्क व हृदय के अवदानों के समकक्ष उसकी प्रतिष्ठा, उसे एक मात्र एक 'गर्भ' और एक 'नर्ककुंड' में अवमूल्यित करके देखने की मानसिकता का परिष्कार, उसकी शैक्षिक और भौतिक उन्नति, उसके सर्वांगीण विकास के साधन जुटाना है।''[7] इस कारण स्त्री मात्र 'देह' नहीं बने रहना चाहती। वह देह के पारंपरिक अर्थों से ऊपर उठकर मनुष्यता के विकास के लिए देह के अर्थों को ही बदल देना चाहती है–''हमें शरीर से नहीं शरीर के अर्थ से मुक्त होने की जरुरत है। समाज द्वारा निर्मित अर्थों से मुक्त होने की आवश्यकता है।''[8] स्त्रियों ने अपनी योग्यता को 'बौद्धिकता' के बल पर प्रकट किया है। नए सिरे से अपनी भूमिका एवं मुक्ति को तलाशा है। चित्रा मुद्गल कहती हैं–''स्त्री की असली आजादी तभी होगी, जब उसके दिमाग़ की स्वीकार्यता हो, न कि देह की।''[9] स्त्री की बौद्धिकता का स्वागत करना समाज का दायित्व है। समाज के साथ–साथ स्त्रियों का दायित्व बनता है कि समाज स्त्रियों की बौद्धिकता/आत्मनिर्णय को स्वीकारे या न स्वीकारे किंतु स्त्रियों को अपनी योग्यता पर शंका नहीं करनी है। अपने निर्णयों पर अटल रहना है। अपने आत्मनिर्णय में समाज के सकरात्मक–नकरात्मक पहलुओं को स्वीकराने का साहस उनमें होना चाहिए।

स्त्री–पुरुष दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों को अपने गुणों का प्रयोग अपने–अपने संदर्भों में अपने–अपने अनुसार करना है। स्त्री–पुरुष दोनों को एक–दूसरे के विकास के मार्ग अवरुद्ध नहीं करने हैं बल्कि एक–दूसरे के विकास के मार्ग खालेने हैं। महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियाँ' में कहा है–''समाज में पूर्ण स्वतंत्र तो कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि सापेक्षता ही सामाजिक संबंध का मूल है। प्रत्येक व्यक्ति उसी मात्रा में दूसरे पर निर्भर है, जिस मात्रा में दूसरा उसकी अपेक्षा रखता है। पुरुष–स्त्री भी इसी अर्थ में अपने विकास के लिए एक–दूसरे के सहयोग की अपेक्षा रखते हैं, इसमें संदेह नहीं।''[10] अपने प्राकृतिक/अप्राकृतिक गुणों के साथ सब के वजूद को बनाए रखना 'मुक्ति' है–'स्त्री–पुरुष की एक साझा मुक्ति'। हाल–फिलहाल यही स्त्री आंदोलन कर रहा है। अनामिका के शब्दों

में–''पूरा स्त्री आंदोलन और समूचा स्त्री साहित्य 'मुक्त' तो पुरुष को ही कर रहा है–पूर्वाग्रहों से, एकांगिकता से, नृशंसताओं से जो वे जानबूझकर नहीं करते, उनसे हो जाती हैं क्योंकि पितृसत्तात्मक, सामंतशाही (जाने–अनजाने) उन्होंने अन्तर्मुखी तो कर ही रखी है। जैसे वर्ग–पूर्वग्रह सायास धोने होते हैं, लिंग–पूर्वग्रह से भी मुक्ति अनायास संभव नहीं। संभव होती तो बरतन–बासन, कपड़ा–लत्ता, फर्श–दीवार, बिस्तर–किताबों के साथ पुरुषों का मन झाड़ने–धोने, संभालने–पोछने का अतिरिक्त दायित्व स्त्री आंदोलन के कंधे न आता। है तो यह 'कान्ता सम्मत उपदेश' का ही नया रूप पर यहाँ 'साम–दाम–दण्ड' के अतिरिक्त 'भेद' की भी सभी संभावना पनपी है। क्योंकि 'घर' के बाहर भी एक 'स्पेस' संभव हुआ है। फैमिली ऑफ फ्रेण्ड्स' का स्पेस वृहत्तर सामाजिक प्रयोजनों का स्पेस जहाँ इमोशनल इन्टेलिजेंस की अपनी पूरी ताकत के साथ स्त्री मौजूद है।''[11]

समस्त तथ्यों के आधार पर हम देखते हैं कि 'स्त्री मुक्ति' समाज के छोटे से छोटे ताने–बाने में उलझी है। समाज और स्त्री दोनों इसकी टूटन को बर्दाश्त नहीं कर पाएँगे। यह दोनों के हित में भी नहीं है। यथा 'स्त्री मुक्ति' संपूर्ण मनुष्य की मुक्ति में देह, स्वास्थ्य, वैचारिकता, शिक्षा, आर्थिक स्वावलंबन, आत्मनिर्णय, ईमानदारी, बहादुरी, साहस, शौर्य आादि गुणों से पहले व्यक्तित्व के रूप में मानना और सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक स्तर पर समानता के दर्जे तक पहुँचने के लिए सक्षम बनाकर संभव है।'[12] संपूर्ण मनुष्य की मुक्ति के परिप्रेक्ष्य में स्त्री मुक्ति की सार्वभौमिक अवधारणा है जिसमें शोषक–शोषित; राजा–प्रजा; छोटा–बड़ा, हार–जीत, ऊँच–नीच का कोई अंतर न हो केवल वैयक्तिक स्वायत्ता ही पहचान हो!

7.2 सामाजिक स्वाधीनता

सामाजिक क्रियाकलापों पर पुरुष वर्चस्ववादी शास्त्रों का दबदबा है। यह स्त्री स्वाधीनता में अवरोधक की भूमिका निभाता है। इसने स्त्रियों की स्वाभाविक वृत्तियों को नष्ट कर दिया। उसे हीन से हीन बनाने में कोई कमी नहीं छोड़ी जिससे वह पुरुष की बराबरी न कर पाए; वह मात्र पुरुष की अधीनस्थ बनकर रह सके। उसके मानवाधिकारों एवं सामाजिक नागरिक के अधिकारों का हनन स्तर प्रति स्तर करता रहा है। इसके स्त्री विरोधी स्वरूप के कारण स्त्रियाँ पूर्णतः सामाजिक रूप से मुक्त नहीं हो पाई। हालांकि 20वीं शताब्दी में

अधिकांशतः स्वाधीनता प्राप्ति को ध्यान में रखकर लेख लिखे गए, क्योंकि उस दौरान रचनाकारों का प्रमुख उद्देश्य भारतवासियों में राष्ट्रीय भावना एवं राष्ट्रीय एकता का परचम लहराना रहा। प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं की विशेषता जो हो उन्हें सुसज्जित स्त्री संबंधी लेखों में उठाए गए प्रश्नों ने किया।

आधुनिक भारतीय समाज में स्त्री मुक्ति संघर्ष का जो स्वरूप हमारे सामने है वह स्त्री मुक्ति संघर्ष के प्रारंभिक दौर में एक ओर अपने परिवार और समाज से संघर्ष एवं दूसरी ओर मान्यताओं, रूढ़ियों, अंधविश्वासों से संघर्ष का परिणाम है। परिवार और समाज से संघर्ष की एक झलक फरवरी 1917 'स्त्रीदर्पण' के अंक में दृष्टव्य है–''आज भारत के नेता होम रूल अथवा स्वराज्य की प्राप्ति के लिये सभाएँ इत्यादि करके खूब आन्दोलन कर रहे हैं। परंतु यदि इन से पूछा जाय कि अभी तक तुमने सच्चा देशहित क्या किया तो ''कुछ नहीं'' के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं मिल सकता। हमारा यह स्पष्ट कथन है कि यदि आप सब लोग देश की सच्ची उन्नति करना चाहते हैं तो स्त्रियों को 'होमरूल' पहिले दीजिये। 'होम' कहते हैं घर को और 'रूल' कहते हैं शासन को, घर पर स्त्रियों का पूरा पूरा शासन होना चाहिए। अपने पति से लेकर नौकर पर्यन्त, सब पर स्त्रियों का शासन रहना चाहिए। पति को चाहिए कि बिना पत्नी की सम्मति के कोई भी गार्हस्थ्य या सार्वजनिक कार्य न करे, पत्नी को साथ लेकर चले। ''परोपकार का प्रारंभ घर से होता है'', इस कथन को चरितार्थ करने का समय यही है। स्त्रियों को होमरूल देने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य जाति का जन्मसिद्ध अधिकार जो 'स्वतंत्रता' है वह स्वतंत्रता परिमिति के अंदर स्वतंत्रता, उनको भी देना चाहिए।''[13] यदि श्रीमती सत्यदेवी और लक्ष्मीदेवी वाजपेयी जैसी स्त्रियाँ परिसीमा के अंतर्गत स्वतंत्रता की माँग करती है वह केवल सामाजिक पंरपराओं और रूढ़ियों के कारण। शायद वह पुरुषवर्चस्वादी शास्त्रकारों से दुश्मनी मोल नहीं लेना चाहती थी। इसलिए ये स्त्रियाँ सामाजिक पंरपराओं, रूढ़ियों, मान्यताओं, अंधविश्वासों आदि के विरुद्ध संघर्ष नहीं कर पाई। इनके विरुद्ध संघर्ष का आगाज पुरुषों ने किया। उनमें भी यह कमी पाई गई है कि वह पुरुषवादी मानसिकता से मुक्त होकर नहीं लिख पाए। 'प्रभा' जुलाई–अगस्त 1915 के अंक में 'स्त्री की जाति' शीर्षक से 'विनोदी' के शब्द दृष्टव्य है–''इस बात का भय छोड़िये कि वह दुराचारिणी हो जायगी, नहीं इस बात का आनन्द मानिये कि गुणगर्भा योग्य माता होगी। उसे गृहदेवी बनाइये। उसे स्वतंत्र विचार करने वाली विश्व–शिक्षिका बनाइये। उसे अपनी

आवश्यकताओं और सदिच्छाओं की पूर्ति के साधनों को ढूँढ़ने का प्रयत्न करने योग्य विद्योत्तमा बनाइये। ईश्वर की आध सन्तान पर अत्याचार कर पाप के अधिकारी होना उचित नहीं है। हमारी जाति का उत्थान तब होगा जब स्त्रियाँ गम्भीर विषयों में हमारी सहाय्यकारिणी बनेंगी, योग्य और साहसी सन्तान पैदा करेंगी और उन्हें शिक्षा देकर 'जगत–रत्न' पुत्र बना देंगी।''[14]

20वीं शताब्दी में स्त्रियों की स्वतंत्रता 'निरपेक्ष' स्वतंत्रता नहीं थी। उसके अधिकारों, स्वतंत्रता आदि को स्वीकारोक्ति प्रदान करने का कारण उसमें 'संतान जन्य अवयव' होना था। उसका धैर्य, साहस, शिक्षा, वीरता, गौरव, स्थिरता सभी उसकी संतान या मनुष्य समाज की उन्नति के लिए थे। यह मनोविज्ञान (Phychology) 'मर्यादा' जुलाई–अगस्त 1915 के अंक में 'सामाजिक संगठन में स्त्रियों का स्थान' शीर्षक लेख में भलिभाँति दिखाई पड़ता है–''स्त्रियों के सदाचार में इतना हीन बनाकर पुरुष ने समाज को कुछ लाभ नहीं पहुँचाया। हम दिखा चुकी हैं कि माता की शारीरिक दुर्बलता, माता की मानसिक दुर्गति सन्तान पर कैसा प्रभाव डालती है। परंतु नैतिक हीनता विनाशक होने में इन सबसे ज्यादा ज़हरीली और दुखदायी है। अपने ही देश को देखो, यहाँ की स्त्रियाँ नैतिक भाव से सर्वथा शून्य हैं। इनसे काम करने की स्वाधीनता ले ली गई है। दिन में एक घर से दूसरे घर जाने के लिए उनकों एक रक्षक की आवश्यकता होती है। एक शहर से दूसरे शहर तक जाने की बात ही क्या, अपने ही घर में वह अकेली नहीं रह सकती, अपने ही घर के एक हिस्से से दूसरे की ओर अंधकार में जाना उनके लिए असंभव है। संसार की कोई वस्तु नहीं जो उन्हें भयभीत न बनायें। संसार का कोई पदार्थ नहीं जिससे उनकों रक्षित होने की आवश्यकता नहीं, और जिससे वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकें। संसार के किसी विषय में अपनी राय कायम करने में वे अभागी या असमर्थ हैं और यदि राय काम कर भी लें तो किन्हीं दबावों के होते हुए उस पर चलना उनके लिए असंभव है। तात्पर्य यह कि काँपते–कँपकपाते, दबकते–दबकते, अपने घर की चारदीवारियों के अंदर एक दूसरे से बेकार काँव–काँव करते–जलते–झुलसते वह अपना सांसारिक जीवन व्यतीत करती है। नतीजा क्या है? इसका दुःखदायी फल यह है कि हमारे पुरुष अपने घरों ही के शेर रह गये हैं। घरों के बाहर अन्य देशवालों के सम्मुख उनकी वही दशा है जो हमारी उनके सामने। गुलामी की खासियते वे अपनी माताओं से ग्रहण करते हैं।''[15] नैतिकता प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। देश, समाज, परिवार या मनुष्य नैतिकता

के बिना अपर्याप्त है। अफसोस! स्त्री की नैतिकता स्त्री–पुरुष संबंधों से जुड़ी हुई है। अर्थात यह स्त्री के इर्द–गिर्द बनाया गया ताना–बाना स्त्री की उपस्थिति को लेकर नहीं बल्कि उसकी देह के लिए होता है। 'सामाजिक संगठन में स्त्रियों का स्थान' नामक लेख में लिखा है–''स्त्री को दिमाग़ और नैतिक गुणों को काम में लाने का अवसर नहीं मिलता। इसलिए शक्तियाँ निर्मूल हो जाती है। स्त्री और पुरुष के शारीरिक और मानसिक दशाओं में इतना अंतर हो जाता है जो दोनों के सम्बन्ध को सारहीन और नीरस बना देता है, दोनों में शारीरिक सम्बम्ध के अतिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं रहता। सारांश यह कि इस मिथ्या आचार का यह परिणाम होता है जो हम देख रहे हैं। हमारी वर्तमान सामाजिक दुर्दशा शताब्दियों से इन्हीं कुमार्गों पर चलने का नतीजा है।''[16] ऐसी नैतिकता क्या फायदा जो स्वयं से पहले मानवीय संबंधों से जोड़े। आखिर ऐसी नैतिकता की वाहक स्त्रियाँ ही क्यों बने? नैतिकता मनुष्य की संपूर्ण स्वतंत्रता की द्योतक है। इसमें मनुष्य की संपूर्ण स्वतंत्रता के लिए किसी सत्ता, व्यवस्था, अस्तित्व की दखलअंदाजी नागवार है।

हमारा समाज स्त्रियों के लिए कड़े नियम तय करता है, जिनकी सीमा नैतिकता–अनैतिकता के मापदंड होते हैं। पुरुष जो कुछ भी करे, इसके परिणामस्वरूप नैतिकता का पतन केवल 'स्त्री' का होता है। यानी स्त्री को किसी भी दशा में केवल पुरुष/पति का अनुसरण करना है। श्रीमती एनी बेसेंट पतियों और पुत्रों द्वारा अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने एवं संस्कृत तथा मातृभाषा की अवहेलना के करने के कारण भारतीय स्त्रियों की दशा सोचनीय बताती है। वे 'मर्यादा' जनवरी 1918 के अंक में 'वर्तमान जागृति के कारण' नामक लेख में लिखती हैं–''केवल पाँच ही छः पीढ़ियों के पहिले भारत की स्त्रियाँ अपने पति की बगल में खिसक पड़ीं और उन्होंने सार्वजनिक जीवन में अपने पति को निस्सहाय छोड़ दिया। अब वे पति और पुत्र पर बड़ा प्रभाव रखती हैं, पर सहायता देने के लिए पूरे ज्ञान का उनमें अभाव है। उत्तम गुणों ने कभी उनका त्याग नहीं किया, पर पतियों और पुत्रों के संस्कृत तथा मातृभाषा की अवहेलना कर अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने के कारण पति–पत्नी के नैतिक भावों के बीच एक आड़े खड़ी हो गई है और उस शिक्षा ने स्त्रियों को उस सहानुभूति से रहित कर दिया है, जो मनुष्यों के विस्तृत जीवन के साथ उनसे पहले समय में थी। जहाँ पति के हित बढ़े हैं वहाँ पत्नी के संकुचित हुए हैं। पति के भौतिक–भाव ने भी प्राकृतिक द्वारा पत्नी का मत कम विशाल और कम बुद्धि युक्त कर दिया और उसे धार्मिक मामले में

पुरोहित की बात मानने को लाचार कर दिया और पहिले समय की तरह वह पति की अनुवर्तिनी न रही, जिससे उसका बिलकुल ही भक्तिप्रधान हो गया और ज्ञान के दृढ़ प्रोत्साहन का अभाव होने से यह बहुत सहज ही मूढ़ विश्वास में परिणत हो जाता है जिससे ऐसी रीतिरस्मों पर निर्भर रहता है, जो समझ में ही नहीं आती।''[17] श्रीमती एनी बेसेंट ने पाँच–छः पीढ़ियों पूर्व किस समानता का जिक्र किया है वह जो सही–गलत की पहचान करवाए बिना स्त्रियों को अनुवर्तिनी बना रही थी। वास्तव में लेखिका भारतीय स्त्रियों के विश्वास में आत्मिक एवं हिंदू धर्म पर आधारित ज्ञान को भरकर स्त्री–पुरुष समानता लाना चाहती थी। 'स्त्रीदर्पण' जुलाई 1915 के अंक में एनी बेसेंट लिखती है–''हम आशा करती हैं, हम स्वप्न देखती हैं कि स्त्रियों का जीवन सर्वांगपूर्ण हो जिस में गार्गी की सी बुद्धिमत्ता, सावित्री का सा साहस और बुद्धि, सीता का सा अचल प्रेम, दमयन्ती की सी भारी सहनशीलता और शकुन्तला की सी सच्ची भक्ति हो।''[18] तात्पर्य यह है कि इन सब से परे स्त्रियों द्वारा देश में स्वराज्य की जो माँग उठी वह इनकी दृष्टि में स्वार्थलिप्सा थी। हालांकि एनी बेसेंट ने इसे दोषपूर्ण नहीं माना है। 'मर्यादा' जनवरी 1918 के अंक में उनके वाक्य हैं–''राष्ट्र की चिल्लाहट स्वतंत्रता है, क्योंकि स्वराज्य की चिल्लाहट केवल स्वार्थियों की चिल्लाहट नहीं है जो अधिक सुख भोगने के लिए ही अधिकार माँगते हैं। इसमें भी कोई दोष नहीं हैं, क्योंकि इसका अर्थ जीवन का पूर्णत्व है और ऐसे पूर्णत्व का भोग करना पवित्र कार्य है पर स्वराज्य की माँग मानव जाति की सेवा के लिए अपने गुणों का विकास करने को है।

स्वतंत्र रहकर कष्ट झेलना परतंत्र रहकर भोग–विलास करने से उत्तम है, इसलिए यह न तो दबाया जा सकता है और न नष्ट ही किया जा सकता है; यह नित्य और सदा तरुण है।''[19] राष्ट्र और परिवार के मध्य का सच यह है कि वह परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र में रूपांतरित होता है। इससे इन संदर्भों में 'स्वराज्य' की माँग के अर्थ बदल जाते है। जो लेखिका के लिए उच्च से उच्च स्तर पर 'स्वतंत्रता' है और निचले से निचले स्तर पर सुख भोग।

पराधीनता में जकड़ा भारत 'स्वराज्य' की माँग कर रहा था। भारतीय स्त्रियाँ इससे कैसे पीछे हट सकती थी! उन्होंने 'राष्ट्रीय स्वराज्य' के साथ 'घरेलू स्वराज्य' के लिए भी आवाज उठाई। पुरुष के समान वह राष्ट्रीय उन्नति का हिस्सा बनना चाहती थी। उन्होंने

सामाजिक व्यवस्थापकों से चारों ओर से उन्नति एवं स्वतंत्रता की माँग की किंतु सामाजिक व्यवस्थापकों की दृष्टि में स्त्रियों की राष्ट्रीय भागीदारी 'शिशुपालन' और 'बाल–रक्षा' तक सिमट कर रहीं। वह स्त्रियों के हृदय में हिंदू धर्म की आदर्श स्त्रियों की छाप देखना चाहते थे। इन्हीं शर्तों पर उन्होंने स्त्रियों की शारीरिक उन्नति के नाम पर खेलने–कूदने की स्वतंत्रता की हामी भरी। इस संदर्भ में 'प्रभा' सितंबर–अक्टूबर 1915 के अंक में 'हम संसार में अपनी स्थिति बनाये रखने के लिये क्या करे?' शीर्षक से शालिग्राम का लेख विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने इस लेख के माध्यम से खेल के मनोविज्ञान को समझते हुए स्त्रियों की मानसिक प्रक्रिया को जानने का प्रयास किया–''जैसे एक सुस्वास्थी और पौरुषी आदमी समाज का सदाङ्ग बनने और राष्ट्र के कार्य करने में सन्तोषजनक रीति से कृतकार्य हो सकता है। इसी प्रकार केवल शारीरिक अवस्था में परितिष्ट माताएँ ही अपने कुटुम्ब और जाति–धर्म पालन में (जिस का महान आवश्यक भाग शिशुपालन और बाल–रक्षा है) समर्थ हो सकती है। बाल्यकाल और प्रौढ़ावस्था में इसीकारण लड़कियों को शारीरिकोन्नति करने व चलने फिरने में पूरी स्वतंत्रता और सुविधा मिलनी चाहिये। उनमें शारीरिक उन्नति की उत्तेजनापूर्ण आकांक्षा पैदा करने का यही काम सरल सा उपाय है।

यदि किसी लड़की को सदा ही गृह में रखा जाय, उसे रूचि अनुसार जी भर के खेलने कूदने न दिया जाय, तो उसकी शारीरिक अवस्था क्षीण होती जायगी। वह परिश्रम करने योग्य कदापि न रहेगी। सदा रोगी ही बनी रहेगी। उसका स्वास्थ्य मामूली सी शारीरिक अवस्था मानसिक वेदनाओं से बिगड़ जाया करेगा। हमारी पुत्रियों व बालिकाओं की अपकृष्ट दशा का यही कारण है, इसी से जान पड़ता है कि विशेषतः वह लड़कियाँ जो शिक्षा पाने के लिए पाठशाला आदि में जाती है शिर पीड़ा क्यों ऐसी व्यथित रहा करती हैं और क्यों इतनी शीघ्र रोग ग्रस्त हो जाती हे। यदि हम इन बालिकाओं को उनके भ्राताओं के समान खेलने कूदने में स्वतंत्रता प्रदान करें, तो यह सब कमजोरियाँ शीर्घ ही दूर होना संभव हैं। क्योंकि इन्हीं शारीरिक शक्तियों के पूर्ण विकास और अभ्यास से ही बलवान और पौरुषी होना सम्भव है।

कन्या जैसे जैसे सयानी होती जाय उसके हृदय में उन्हीं स्वाभाविक नियमों का अंकुर उपजाने का उद्योग करना चाहिए। उन्हें धार्मिक शिक्षा दी जानी आवश्यक है। परिवार के सब

मनुष्यों के पति उनका कर्तव्य और व्यवहार क्या होगा, इस का भी पूर्णतयः ज्ञान करा देना चाहिये। सत्यपरायणता, सद्विचार, सद्व्यवहार और उच्चदर्श बनाने की उन्हें भलीभांति शिक्षा मिलना और असत्य व नीच व्यवहार से घृणा सिखाना भी जरूरी है।''[20]

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दौर में स्त्री जीवन से जुड़े अहम् मुद्दे बौने प्रतीत हो रहे थे। एक के हाथ से निकल कर दूसरे के हाथ में, दूसरे के हाथ से निकल कर तीसरे के हाथ में। स्त्री की कभी राय नहीं ली गई कि वह क्या चाहती है। पुरुष बनना चाहती है या स्त्री बने रहना चाहती है। सब अपनी–अपनी संकल्पना गढ़ते रहे। 20वीं शताब्दी में उठे इस प्रश्न का आज तक स्त्रियाँ जवाब दे रही हैं। सुधारवादी विचारकों तक स्त्रियों के पुरुष बनने पर एतराज था। लाला लाजपत राय ने हैवलाक एलिस की किताब Essay in War Time का हवाला देकर पुरुष को पुरुष, स्त्री को स्त्री बने रहने पर जोर दिया। उन्होंने 'स्त्रीदर्पण' अगस्त 1919 के अंक में 'भारत का सामाजिक पुनःसंगठन' (भारत में स्त्रियों का पद) शीर्षक लेख में लिखा है–''स्त्री और पुरुष के मानसिक भेदों के विषय में जब हम वैज्ञानिक और व्यवहारिक बातों पर विचार करके देखते हैं तो दो सिद्धांत निकलते हैंः–एक ओर तो स्त्री पुरुषों में मूल रूप समानता है। यह निश्चय रूप से जान पड़ता है कि स्त्री, स्त्री में उतना भेद नहीं होता जितना पुरुष पुरुष में होता है, अर्थात मनुष्यों में एक ओर तो विलक्षण बुद्धि वाले लोग मिलते हैं और दूसरी ओर निरे मूर्ख। मानसिक शक्ति में इतना अंतर नहीं पाया जाता। इससे यह बात निकलती है कि उन्नति करने में नेता अधिकतर पुरुषों ही में पाये जायेंगे। दूसरी ओर स्त्री और पुरुष की मानसिक शक्तियों में जड़ ही से भेद है। कुछ लोग स्त्रियों के उन्नति के लिए आन्दोलन कर रहे हैं। वे चाहते हैं कि स्त्रियों और पुरुषों के साथ एक ही तरह का व्यवहार होना चाहिए–मानो वे स्त्रियों को पुरुष के सांचे में ढालना चाहते हैं। ऐसे लोग जो उद्योग कर रहे हैं उनका उद्देश्य तो वस्तुतः अच्छा है पर उनके परिश्रम का फल हानिकारक और निरर्थक होगा। मानसिक और शारीरिक दोनों बातों में स्त्रियाँ सदा पुरुषों से भिन्न रहेगी।''[21] लाला लाजपत राय यह लेख उन लोगों के लिए प्रत्युत्तर है जिन्होंने स्त्रियों में शारीरिक बल बढ़ाने का प्रयास किया। लाला लाजपत राय ने स्त्रियों के शारीरिक बल बढ़ाने हेतु प्रयासों को उदाहरण सहित निरर्थक बताया है। लिखा है–''जंगली लोगों में शारीरिक परिश्रम अधिकतर स्त्रियाँ ही किया करती है; पर वे बल में मनुष्य से बहुत कम होती है परिश्रम के साथ व्यायाम करने से भी स्त्रियाँ शारीरिक बल में मनुष्यों की

बराबरी नहीं कर सकतीं, एलिस साहब को बहुत बातों की छानबीन करके यह पता चला है कि मनुष्यों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक थक जाती हैं, इसलिए उनका काम मनुष्यों के काम से कम मूल्यों का होता है।''[22]

इनके सूक्ष्मता से अन्वेषण करने पर पाया गया है कि लड़की और लड़का एक विशेष अवस्था तक बराबर कहला सकते है। वह पंद्रह–सोलह वर्ष की अवस्था है। इसके बाद से लड़कियों में मासिक धर्म आरंभ हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप लड़कियाँ लड़कों की बराबरी नहीं कर पाती। उनका विकास/उन्नति में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। लाला लाजपत राय ने भारतीय स्त्री को महानता का चोला पहनाते हुए उस पर अनेक गुणों के आरोपण से बखूबी स्त्री–पुरुष में विभेद किया है। स्त्रियाँ' पुरुषों से किस प्रकार भिन्न है इस पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है–''स्त्री, स्त्री है और पुरुष, पुरुष है। यह कहना कि दोनों पूरी तरह से बराबर है, निरर्थक है। स्त्री पुरुष की अपेक्षा कई बातों में बढ़चढ़ कर है। पूर्ण निःस्वार्थ और उच्च–प्रेम में, स्वार्थ त्याग, अपने को दूसरे की भलाई के लिए मिटा देने में और कष्ट सहने में स्त्रियों की बराबरी कोई पुरुष नहीं कर सकता। स्त्री के ह्रदय में दया और प्रेम की जो धारा बहती है और उसके जीवन में जो उत्पादन शक्ति है, केवल इन्हीं गुणों के विचार से भी उसका पद मनुष्य पद से कहीं बढ़चढ़ कर है। किन्तु विचार की दृढ़ता में, लड़ने भिड़ने और आपत्तियों को झेलने की शक्ति में, शासन करने की शक्ति में प्राकृतिक शक्तियों को तथा अन्य मनुष्यों को अपने वशवर्ती बनाने में मनुष्य स्त्रियों से निश्चय ही बढ़चढ़ कर है।''[23] लाला लाजपत राय एक सुधारक की हैसियत से अपनी महानता कम नहीं होने देना चाहते। वह भारतवासियों पर अपना प्रभाव डालने के लिए साफ–साफ प्रकट करते हैं कि वह न स्त्रियों को वोट देने के विरुद्ध है, न स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने के विरुद्ध है और न ही स्त्रियों को धन उपार्जन की स्वतंत्रता देने के विरुद्ध है। माना लाला लाजपत राय स्त्रियों के कुछ अधिकारों, स्वतंत्रता के विरोध नहीं करते किंतु ऐसे कई अधिकार, स्वतंत्रता है जिनको उन्होंने निरुत्साह मन से स्वीकार किया है। 'मर्यादा' जुलाई 1919 अंक में 'भारत का सामाजिक पुनःसंगठन' (भारत में स्त्रियों का पद) शीर्षक लेख में लाला लाजपत राय के उद्धृत वाक्य हैं–''हमारे विवाह–संबंधी नियमों में किन किन परिवर्तनों की आवश्यकता है इस पर विचार करने में तो और भी कम संकोच होना चाहिए। हम बाल–विवाह की कुप्रथा पर आक्रमण कर रहे हैं, विधवा–विवाह का पक्ष ले रहे हैं समाज–सुधारक लोग बहुभार्यत्व की

दृढ़ता के साथ निंदा कर रहे हैं, इस बात को भी हमने निरुत्साह होकर स्वीकार कर लिया है कि स्त्री–पुरुष अपने लिए वर–कन्या अपनी इच्छा के अनुसार चुन लें।

इस विषय में हमारे विचारों पर अब तक कुछ अंश में धार्मिक और कुछ सामाजिक कारणों का प्रभाव पड़ा है। चाहे हम इस बात को स्वीकार करने में संकोच करे पर इसे हमें मानना पड़ेगा कि समाज–सुधार के विषय में हमारे विचारों के ऊपर ईसाइयों के विवाह–संबंधी विचारों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है।''[24] पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से विवाह संस्था कमजोर पड़ रही थी। भारतीय पुरुषों के शासन का शिकंजा ढीला हो रहा था। सामाजिक स्थिति भारतीय विचारकों के सामने थी। उन्हें राजनैतिक क्षेत्र में ऐसी स्थिति का सामना न करना पड़े इसलिए वह तमाम तरह के पश्चिमी संस्कृति, ईसाई मतों का उलाहना देकर स्थिति पर शिकंजा कस रहे थे। मध्यप्रदेश की राजधानी नागपुर शहर में 'नवीन हिन्दू बालिकाओं की शाला' नाम की मराठी पाठशाला खोली गई। इस पाठशाला को खोलने का क्या मंतव्य उल्लेखित शब्दों से ज्ञात हो जाता है। 'प्रभा' जुलाई–अगस्त 1915 के अंक में लिखा है–''नागपुर शहर में म्युनिसिपलिटी की कन्या पाठशालाएँ है। पर वे बराबर नहीं; ऐसा अनुभव होता है। इसीलिए महल के आस पास दो–तीन ईसाइयों की कन्या पाठाशालाएँ खुल गई हैं। हमारे बच्चे ईसाइयों की पाठशाला में पढ़ते हैं, उसका अभी हमारे पास इलाज नहीं है। परन्तु हमारी कोमल–हृदया बालिकाओं को हम–धर्म्मियों के हाथों में शिक्षा के लिए सौंपते हैं, यह अत्यंत लजाने वाली और आत्मघात करने वाली बात है।

जिन बालिकाओं को श्रीराम कौन थे, सीता कौन थीं, अहिल्याबाई ने क्या किया, तथा द्रौपदी, अभिमन्यु, शिवाजी एवं रामदास के नाम तक ज्ञात नहीं तथा एक श्लोक एक चौपाई तथा एक भी भक्ति का पद याद नहीं, अथवा सती, सावित्री और सुकन्या आदि देवियों के चरित्र तक नहीं मालूम वही बालिकाएँ घर में आकर, ईसामसी मेरो प्राण बचैया' गाती दीखती है और योहन्ना में साया ल्यूकस और ईसा की महानुभावता की कहानियाँ कहती हैं। यह सब देखते हुए भी जिस हिन्दू का अन्तःकरण नहीं दुखता, उसे अधिक क्या कहें–धन्य कहना चाहिए।''[25] लेखक के यह विचार पश्चिमी संस्कृति के प्रति रोष और प्राचीन आदर्श के प्रति प्रेमानुभूति को जाहिर करते हैं। वह अंततः अपने प्राचीन आदर्शवादी छवियों को भारतीय महिलाओं के मानस पटल में बैठाकर जीवित रखने का प्रयास कर रहे थे।

निसंदेह पश्चिमी संस्कृति 'प्रभावी' थी। भारतीय स्त्रियों पर इसका ज्यादा प्रभाव पड़ रहा था। भारतीय विचारक भयभीत होकर अत्यधिक क्रियाशील थे। उन्होंने स्त्रियों की स्वतंत्रता एवं अधिकार के परिप्रेक्ष्य में अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं आदर्श को बचाने के लिए पश्चिमी संस्कृति की स्वतंत्रता को अलग रूप में व्याख्यायित किया। पश्चिम में स्त्रियों की वास्तविक स्वाधीनता क्या है? 'स्त्रीदर्पण' सितंबर 1919 के अंक में 'स्त्रियों की स्वाधीनता' शीर्षक से श्रीयुत पंडित विश्वम्भरनाथ जिज्जा ने लिखा है–''पराधीनता और स्वाधीनता किसे कहते हैं? इन दोनों में क्या अन्तर है? क्या कटघरे में बन्द कर देना अथवा हाथ पांव ज़ंजीरों से जकड़ देना, इसे पराधीनता कहते हैं? हम भारतवासी स्वाधीनता और पराधीनता के जो अर्थ समझे बैठे हुए हैं, यूरोप की जातियां उससे बिल्कुल भिन्न अर्थ रखती हैं। यदि अपने देश के शासन में अधिकार नहीं है तो यूरोपियन जातियां उसे पराधीनता समझती है। जिस देश में जो जाति रहती है यदि उसी के कारबार में उसका हाथ नहीं है–सब प्रकार की स्वाधीनता होने पर भी यदि निज मातृभूमि के बनने और बिगड़ने की वह ज़िम्मेदार नहीं है–तो यूरोपियन जातियां वैसी स्वाधीनता का तिरस्कार करती हैं। इंग्लैण्ड के अन्तरंग शासन में सब अधिकार पुरुषों के हाथ में हैं। वहां की स्त्रियां अपनी भारतीय बहिनों की नाईं बिल्कुल पराधीन नहीं है, तो भी उन्हें पुरुषों का इतना दबाव भी सह्य न था–अपने देश के शासन में अपना ही अधिकार न होना वह देख नहीं सकती थीं। स्वाधीनता प्राप्त करने अर्थात शासन में हाथ देने के लिए वे बराबर उद्योग करती रहीं।''[26] 20वीं शताब्दी में भारतीय पुरुषों का भारतीय स्त्रियों को लेकर देश में सहयोग देने एवं शासन से दूर रखने का अंतर्द्वंद्व लगातार चलता रहा। यह स्त्रियों को उनके मार्ग से भटकाने का प्रयास भी हो सकता है क्योंकि जिस भाषा में लेखक ने पश्चिम की स्त्रियों की स्वतंत्रता को वर्णित किया उससे पश्चिम व भारतीय समाज एवं संस्थाओं में कार्यरत स्त्रियों पर व्यंग्य है। 'स्त्रीदर्पण' सितंबर 1919 के अंक में 'स्त्रियों की स्वाधीनता' शीर्षक लेख में श्रीयुत पंडित विश्वम्भरनाथ जिज्जा व्यंग्यात्मक शब्दावली में लिखते हैं–''यदि किसी साधारण भारतवासी से कहा जाय कि इंग्लैंड की स्त्रियों को स्वाधीनता मिल गई तो वह चकित होकर पूछेगा कि ''इंग्लैंड की स्त्रियाँ पराधीन कब थी?''

उस सरल भारतवासी का यह प्रश्न करना कुछ अनुचित नहीं है। वह इंग्लैंड की स्त्रियों की तुलना भारत की स्त्रियों से करता है और उसे उस देश की स्त्रियाँ महा स्वाधीन

मालूम होती हैं। इसी कारण उसका प्रश्न करना कि इंग्लैंड की स्त्रियाँ पराधीन कब थीं, कुछ भी अनुचित नहीं, केवल उसकी अनभिज्ञता का दोष है, और यह अनभिज्ञता सब तरह क्षमा करने योग्य है। उसे यह नहीं मालूम की केवल स्वाधीनतापूर्वक सभा सोसायटियों में घूम लेने अथवा साहिबों के साथ हाथ में हाथ मिलाकर नाच तमाशों में शरीक हो लेने को स्वाधीनता नहीं कहते। असली स्वाधीनता जिसका नाम है, वह कोई और चीज है। इंग्लैंड की स्त्रियाँ उसी को प्राप्त करने के लिए आज कितनी ही मुद्दत से उद्योग कर रही है।''[27]

'स्त्रीदर्पण' सितंबर 1919 अंक में भारत का सामाजिक संगठन शीर्षक लाला लाजपत राय का लेख प्रकाशित हुआ। इसमें पहली बार एक पुरुष द्वारा स्त्रियों के संतान उत्पन्न करने को गैरजरूरी माना है। यह विचारोत्तेजक विचार है। किंतु यहाँ भी स्त्रियों के लिए निरपेक्ष व्यक्तित्व उन्नति के कोई जगह नहीं है। उसकी मुक्ति कहीं न कहीं, किसी न किसी कारण, किसी न किसी पर अवलंबित है–''पहली बात जिसका समझना भारतवासियों के लिए आवश्यकीय है, यह है कि मनुष्य समाज के विकास और उसके मुक्ति मार्ग में सफलता प्राप्त करने के लिए स्त्री का व्यक्तित्व उतना ही, यदि अधिक नहीं तो, महत्त्वपूर्ण है, जितना कि पुरुष का। दूसरे इस बात के जानने की आवश्यकता है कि स्त्री के जीवन का एकमात्र लक्ष्य अथवा प्रधान उद्देश्य संतान उत्पन्न करना नहीं है। यह विचार कि स्त्री पुरुष के आपस में संबंध किये जाने का एकमात्र उद्देश्य उत्पन्न करना है, एक मिथ्या विश्वास है; और उसका त्यागना जरूरी है। 'स्त्री पुरुष के संबंध का उद्देश्य कामप्रवृत्ति के चरितार्थ करने, अथवा संतानोत्पादन की अपेक्षा कहीं महान् है' यह एक ऐसा सत्य सिद्धांत है जिस पर सर्वदा ध्यान रखना उचित है। पूर्वकालीन हिंदुओं के नियमानुसार विवाहित स्त्री पुरुषों को भी विषय, सम्भोग में बड़ा भारी संयम रखना पड़ता था। ये नियम स्त्री–पुरुषों की स्वास्थ्य–रक्षा के ऊपर अवलंबित थे। उन नियमों के प्रभाव से दम्पत्ति और उनकी संतानों की देह और मस्तिष्क पूर्णतः स्वस्थ रहते थे। विज्ञानानुकूल स्वास्थ्य रक्षा करने के अतिरिक्त उन नियमों का और कुछ अभिप्राय नहीं है। जीवन रक्षा और विवाह के अभिप्राय को छुपाकर उन नियमों को धार्मिक रूप देना निरर्थक है। पुरुष और स्त्री के सम्मिलित होने का वास्तविक उद्देश्य उनके व्यक्तित्व की उन्नति करना है, और यही जीवन का प्रधान उद्देश्य है।''[28]

भारतीय प्रणाली में संतानोत्पत्ति बहुत बड़ी बात है। संतानोत्पत्ति न होने पर न स्त्रियों पर आरोप लगाए जाते हैं। उन्हें बाँझ, डायन कहा जाता है। अंधविश्वास की हद देखिए जब उस पर काला साया बताया जाता है। तब उन्हें संतान प्राप्ति के लिए बाबाओं, ओझाओं तक की शरण में जाना पड़ता है। व्यवस्थावादी समाज की छोड़ो स्वयं 'स्त्री समाज' स्त्रियों को लांछित करता है। कम से कम लाला लाजपत राज के विचारोत्तेजक विचार स्त्रियों को संतानोत्पादन वस्तु नहीं समझते। इस विचारधारा को व्यवस्थावादी समाज में स्थापित करना सहज नहीं है। लाला लाजपत राय के समकालीन 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका की संपादिका श्रीमती रामेश्वरी नेहरू के अनुसार संतानोत्पादन में स्त्री की गरिमा है। वह फ्रांस और अमेरिका में प्रतिदिन घटती संतानोत्पत्ति पर अफसोस प्रकट करते हुए लिखती हैं–फ्रांस और अमेरिका में प्रतिदिन संतानोत्पत्ति घट रही है। पहिले तो स्वतंत्र स्वभाव वाले स्त्री पुरुषों के एक बड़े समूह को ब्याह करना ही रूचिकर नहीं और फिर जो स्त्री पुरुष ब्याह करते भी हैं उनमें से बहुतेरे बालकों को होना रोक देते हैं। बहुतेरी स्त्रियाँ बालकों को एक अनावश्यक झगड़ा समझ कर उनसे दूर ही रहना पसंद करती हैं। दशा बदल गई है, विचार दूसरे हो गये हैं, सभ्यता नई है। परिणाम यह है कि जिन कारणों से स्त्री के हृदय में माता बनने की प्रबल इच्छा विद्यमान थी वे कारण अब धीरे–धीरे लोप हो रहे हैं। स्त्रियों की दशा में बड़ा भारी परिवर्तन हो चला है। उनका कार्यक्षेत्र अब शनैः शनैः बढ़ रहा है। उनके हाथों में अब केवल बालक और गृहस्थी ही दो ऐसी वस्तुएँ नहीं रही हैं जिन पर वे अपनी शक्तियों का प्रयोग और मानसिक गुणों का विकास कर सकें।''[29]

स्त्री स्वाधीनता से वेश्याओं की मुक्ति का घनिष्ठ संबंध है। 20वीं शताब्दी की पत्रिकाएँ स्त्रियों की इस समस्या से अपरिचित नहीं थी। हालांकि ज्यादा पत्रिकाओं की अपेक्षा कुछेक पत्रिकाओं में इस समस्या से संबंधित लेख प्राप्त हुए हैं लेकिन इनसे इसकी गंभीरता प्रकट होती है। 'प्रभा' मार्च 1915 के अंक में 'सामाजिक पवित्रता' शीर्षक लेख सत्येन्द्र का लेख प्रकाशित हुआ। इसमें वेश्यावृत्ति को व्यक्तिगत दोष माना है। इसे सामाजिक स्वीकृति मिले जाने के कारण बुरा नहीं माना जाता। सत्येन्द्र इसे वर्णव्यवस्था से जोड़कर लिखते हैं–''वर्तमान हिंदू समाज संगठन का मुख्य आधार वर्णव्यवस्था है। इसके अनुसार इस देश के लोग अलग–अलग अपनी जाति बना लेते हैं। अपनी ही जाति का पेशा करना सबका कर्तव्य माना गया है। वर्णव्यवस्था से जो अनेक हानियाँ हुईं हैं, उनमें से एक यह भी है कि बहुत से

स्थानों में वेश्याओं की जातियाँ बन गई हैं, और वे मान ली गई हैं।''[30] वेश्यावृत्ति में नृत्य की विशेष भूमिका मानी है जिससे सामाजिक जीवन की नैतिकता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इस कारण लेखक सामाजिक जीवन को नैतिक पतन से बचाने के लिए समाज से वेश्याओं और वेश्यानृत्य का बहिष्कार करते हैं। वह लिखते हैं–''हमारे समाज से वेश्याओं का बहिष्कार हो जाना चाहिए। स्वयं नृत्य कोई बुरी चीज नहीं हैं, पर वह जैसे लोगों के हाथों में पड़ गया, और इस समय उसका जैसा प्रभाव पड़ रहा है, उसे देखते हुए नृत्य का नाश संतोषजनक ही है।''[31]

ब्रिटिशकाल में साम्राज्यवादी शक्तियों के मध्य भारतीय देश पराधीनता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था। सभी भारतवासी साम्राज्यवादी शक्तियों से मुक्ति के लिए प्रयासरत थे। अफ्रीका, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया में सस्ते मजदूरों की तलाश (जिनसे उच्च अधिकारियों की सेवा, खेतों को जोतने, सड़के साफ करने, पांस ढोने, नालियाँ धोने आदि निम्न से निम्न काम लिया जाता) में भारतीयों की कुली रूप में भरती आरंभ करने की योजना से साम्राज्यवादी शक्तियों का भारतीयों पर अत्याचार और बढ़ गया। इस भरती में स्त्री–पुरुष दोनों शामिल थे। स्त्रियाँ के राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय पुरुषों के शोषण से सब वाकिफ है किंतु भारत में कुली भरती प्रथा लागू होने से उनका दोहरा शोषण होने लगा। 20वीं शताब्दी में इस क्षेत्र की स्त्रियों की मुक्ति का प्रश्न था। भारतीय विचारक इसमें कितने सफल हुए कितने असफल? यह बाद का विषय है। इससे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्त्रियों के विषय में सोचना है। 'स्त्रीदर्पण' अप्रैल 1917 के अंक में श्रीमति उमादेवी नेहरू द्वारा लिखित 'स्त्रियाँ और भरती' शीर्षक लेख में स्पष्ट झलकता है–''इन स्थानों में कानून किसी कुल के मज़हब या धर्म का कोई मान अथवा ख़्याल नहीं करता। यहाँ पहुँचते ही न हिंदू हिंदू रहता है, न मुसलमान मुसलमान। अगर कोई पति पत्नी यहाँ से भरती होकर जाते हैं तो वहाँ पहुँचते ही न पति पत्नी का रहता है, न पत्नी–पति की। वहाँ के ओवरसियर फ़ौरन इन औरतों व मर्दों को अपने कब्ज़े में ले लेते हैं और अक्सर इन की संख्या के अनुसार इन स्त्री–पुरुषों को अलग अलग स्थानों में बाँट देते हैं। औरतों की संख्या बहुत कम होती है। क्योंकि वह महापुरुष यह नहीं चाहते कि बहुत सी औरतें भरती की जावें। मर्द औरत से ज्यादा काम करता है इसलिए जितने मर्द हो उतना ही अच्छा! दूसरे स्त्रियाँ भरतीवालों के हाथ ज़रा कम लगती है। इस सब का नतीजा आप सब जानती हैं, क्या होता है। नतीजा यह होता है कि एक स्त्री

तीन–तीन, चार–चार पुरुषों के हिस्से पड़ती है और इस घोर अत्याचार की मिसाल आपको संसार के इतिहास में मिलना असंभव है।''[32] लेखिका भारतीय स्त्रियों की स्थिति का जायजा लेकर उनकी मुक्ति के प्रयास खोजती हैं। भारतीय स्त्रियों को उनकी वास्तविक कमजोरी से परिचित कराती हैं। वह स्त्रियों को स्वजाति के प्रति जाग्रत इन शब्दों में करती हैं–''बहिनों! हम आखिर इतने नीच क्यों हैं? इसीलिये न कि हमने अपने आप को नीच बना रखा है। इसीलिए न कि हम स्वार्थ में डूबे हुये हैं और अपनी जाति की कुछ सेवा करने को तैयार नहीं। हम डरते हैं, हम अपनी जान को अपनी इज्जत से ज़्यादा अजीज़ रखते हैं, यही हमारे वर्तमान दशा का मुख्य कारण है।''[33]

इस प्रकार 20वीं शताब्दी में स्त्री जीवन से जुड़े विविध पक्षों को अलग–अलग दृष्टिकोणों से देखने का प्रयास किया है। अधिकतर विचारों में मतभेद मिलेगा लेकिन यह स्पष्ट है कि स्त्री की सामाजिक मुक्ति किसी व्यक्तिगत प्रयास से नहीं बल्कि एक–दूसरे के सामूहिक प्रयास से ही संभव है।

7.3 स्त्री की आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता

मनुष्य के चार पुरुषार्थों में एक पुरुषार्थ अर्थ है। इसके बिना मनुष्य जीवन व्यर्थ है क्योंकि मनुष्य और समाज की उन्नति अर्थतंत्र पर निर्भर करती है। चूँकि स्त्रियों को समाज में उचित स्थान नहीं मिला इस कारण वह इस पुरुषार्थ से सदियों दूर रही; इससे उसकी उन्नति के साथ–साथ सामाजिक उन्नति भी बाधित हुई। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशक में सर्वप्रथम स्त्री की आर्थिक मुक्ति के प्रश्न को उठाया गया। यह पश्चिमी प्रभाव हो या सामाजिक विसंगितयों के प्रति प्रतिक्रिया लेकिन स्त्री की आर्थिक संबंधी समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। हिन्दी पत्रिकाओं में मात्र स्त्री की आर्थिक मुक्ति का समर्थन समझना कल्पनीय है। स्वाधीनता आंदोलन के अग्रणी नेता महात्मा गाँधी के विचारार्थ स्त्रियों का नौकरी एवं व्यापार करना, घूमना–फिरना या झंझट से कम नहीं है। पक्ष–विपक्ष की तर्कशीलता से ही किसी वस्तु की महत्ता ज्ञात होती है। 20वीं शताब्दी में स्त्री जीवन से संबंधित आर्थिक मुक्ति के प्रश्नों पर पक्ष–विपक्ष की दलीलों ने स्त्रियों की आर्थिक मुक्ति को विचारों के केंद्र में लाकर इसकी महत्ता को सामने रखा।

'मर्यादा' अगस्त 1915 के अंक में 'मितव्यय' शीर्षक से श्रीमती कुमारी कृष्णाबाई ठाकुर एम. ए. का लेख प्रकाशित हुआ। इसमें एक स्त्री द्वारा भारतीय पुरुषों को मितव्यय करने का सुझाव दिया है क्योंकि पुरुषों में पुरुषार्थ की भावना होने के कारण वह अधिक व्यय करने वाले होते हैं। सीमित दायरे (आमदनी अनुसार) में किए खर्च को मितव्यय कहा जाता है। इस दायरे से बाहर खर्चों के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कृष्णाबाई ठाकुर लिखती हैं–''मतलब केवल इतना है कि जितना खर्च हो, अपनी आमदनी के अन्दर हो। उसमें ऊपराचढ़ी की कोई बात न हो। अमुक ने एक घोड़े की गाड़ी बनाई तो हम दो घोड़ों की बनावेंगे। उसने सौ ब्राह्मणों को भोजन कराया तो हम एक हज़ार को करावेंगे। उसके घर की स्त्रियों ने सौ सौ रुपये के दुशाले ओढ़े तो हम दो दो सौ रुपये के उढ़ावेंगे, इस तरह की ऊपराचढ़ी करने से कोई अमीर तो होता नहीं और न उसकी इज्जत ही बढ़ती है; उलटे उसके सिर पर कर्ज़ सवार होता है और वह बेवकूफ बनता है। इन बातों पर हर एक मनुष्य को ध्यान देना चाहिये और रुपया उड़ाने से बाज़ आकर अपनी आमदनी के अन्दर ही सदा खर्च रखना चाहिये। ब्याह–शादी जैसे मौकों पर ही मितव्यय की परीक्षा होती है।''[34] भारतीय समाज में प्राचीनता से स्त्री जाति में धन के दुरुपयोग की धारणा है। इस लेख की विशेषता है कि इसमें कहीं स्त्रियों का नाम नहीं है। यह सब पुरुषों की महिमा है जबकि 'स्त्रीदर्पण' दिसंबर 1918 के अंक में एक लेख है। इसमें 'स्त्रीजाति में धन का दुरुपयोग' के मुख्यतः तीन कारण है–एक आभूषणों में रूचि, दो अंधविश्वास और तीन तीर्थाटनों में विश्वास। श्रीमती सूर्यकुमारी देवी भारतीय स्त्रियों से फ़िजूलख़र्ची पर प्रश्न करते हुए धन को सुव्यवस्थित मार्ग में लगाने का आग्रह करती हैं। वह लिखती हैं–''उपर्युक्त प्रकार से धन खर्च करनेवाली देवियों! वर्त्तमान समय तुम्हारी ही परीक्षा का समय है। क्या तुम फ़िजूलख़र्ची को छोड़ कर अपने दीन भाई और बहिनों की रक्षा नहीं करोगी? क्या तुम्हारा वह रुपया जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, ऐसे कामों से बचा कर हज़ारों जीवों के रक्षार्थ ख़र्च होगा तो उससे अधिक फ़ायदा न होगा? हा! रोते कल्पते बालक, देश की भावी सम्पत्ति, राष्ट्र का जीवन हमारे हाथों से सर्वदा के लिए निकल जाय और हमारा धन व्यर्थ कामों में फुँकता रहे! धिक्कार है हमारी बुद्धि को! आओ बहिनें, हम अपने मूल धर्म को समझें; संसार में अपने देश, समाज का नाम कलंकित न होने दें, नही ंतो काल हिन्दू नाम को ऐसा मिटा देगा कि फिर लोगों को स्मरण भी न रहेगा। अपना धन व्यर्थ कामों में न लगा कर अपने दर्भिक्ष–पीड़ित दीन भाई बहिनों

की सेवा करो जिससे देश की राष्ट्रीय सम्पत्ति का ह्रास न हो और हम अपने फ़र्ज़ को अदा करे।''[35]

धन की आवश्यकता अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पड़ती है। इसके लिए मनुष्य अपने विवेक से धन खर्च करता है। यह भी है कि कब यह व्यक्ति का दुर्गुण बन जाए, यह कह नहीं सकते। स्त्री–पुरुष दोनों में यह दुगुर्ण हो सकते हैं लेकिन परंपरागत मान्यताओं पर आधारित समाज स्त्रियों को व्यर्थ खर्चीली समझ उन पर लगाम कसता आया है। इस समाज में पुरुष खर्चीला नहीं हो सकता क्योंकि वह इस पुरुषार्थ की कीमत समझता है। स्त्रियाँ धनार्जन नहीं करती हैं। धन को सुव्यवस्थित ढ़ंग से उपभोग करना स्त्रियों का डिपार्टमेंट है। इस कारण स्त्रियों को अधिक व्यय या फिजूल खर्च करने वाली माना जाता है और उन्हें धन सिंचित या सुव्यवस्थित ढ़ंग से उपयोग करने का सुझाव दिया जाता है। स्त्रियों के प्रति परिवार या समाज द्वारा किए जाने वाले अमानवीय व्यवहार के पीछे कारकों में आर्थिक पराधीनता है। तमाम साधन उपलब्ध होने बावजूद उसका पुरुषार्थी व्यक्तित्व आर्थिक पराधीनता से दब जाता है क्योंकि उसे वह ठोस आधार नहीं मिल पाता। इस सच्चाई को 'स्त्रीदर्पण' फरवरी 1919 के अंक में 'क्या स्त्रियाँ युगांतर कर सकती हैं?' शीर्षक से प्रकाशित लेख में श्रीमती ज्ञानदेवी ने दर्शाया है। उनके शब्दों में–''हमारी माताओं में बड़ी शक्ति है, बड़ी बुद्धि है। वे कपड़ों को काटकर उसके कुरते बना देती हैं, वह गेहूँ को पीस कर कैसी अच्छी रोटी बना लेती है, क्या वह कपड़े और गेहूँ की काया पलट नहीं कर देती हैं? वह फटे हुए कपड़ों को सी कर पहिनने योग्य बना देती हैं। वे बड़े–बड़े काम कर सकती हैं। जबकि उनको अच्छा सहारा मिल जावे वह गंदे कमरे को जिसमें कि किसी के जाने का मन भी न करता हो, साफ कर अच्छा सजा सकती हैं जबकि उनके पास कमरा सजाने के लिए सामान लानेवाला हो; क्योंकि वे पराधीन होती है यदि वे स्वतंत्र होती तो वे खुद ला सकतीं, किन्तु रुपयों का सहारा उनके लिए बहुत जरुरी है।''[36]

आर्थिक स्वाधीनता का प्रश्न विवाहित, अविवाहित, विधवा, पुनर्विवाहित आदि सभी स्त्रियों के लिए महत्त्वपूर्ण था। आखिर उनके अधिकारों का प्रश्न था जिसका रास्ता स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता और स्त्री शिक्षा से होकर गुजरता था। स्त्रीदर्पण' सितंबर 1919 के अंक में 'भारत का सामाजिक पुनःसंगठन' शीर्षक से लाला लाजपत राय के शब्द हैं–''शिक्षित

भारतवासियों ने एक स्वर से बाल्य विवाह की प्रथा का विरोध किया है। वे इसके भी पक्ष में हैं कि, युवक अपनी पत्नियाँ स्वयं चुन सकें। पर लड़कियों के लिए यही अधिकार देने की अब तक उन्होंने कोई चेष्टा नहीं की है। जहाँ तक मालूम होता है कि इसका कारण स्त्री शिक्षा की कमी और स्त्रियों की आर्थिक पराधीनता है।''[37] आर्थिक स्वाधीनता क्या है? देश के राजनेता लाला लाजपत राय भलीभाँति जानते थे। इन सबसे पूर्व सर्वप्रथम वह एक पुरुष थे। पुरुषसत्तात्मक व्यवस्था का हिस्सा थे। यही कारण है उन्होंने अन्य पुरुषों की भाँति शिल्पकला, वाणिज्य में स्त्रियों द्वारा जीविका निर्वहन को प्रतिस्पर्धा एवं सती–साध्वी, सुचरित्रा, सद्‌गुणों को नष्ट करने वाला समझा। 'स्त्रीदर्पण' अक्टूबर 1919 के अंक में 30 अगस्त के 'अभ्युदय' पत्र भारतीय स्त्रियों की दशा पर लिए गए उनके विचार संपादकीय टिप्पणी में प्रकट हैं–''मैं स्त्रियों को शिल्प–कला, वाणिज्यादि में परिश्रम कर पुरुषों के साथ आर्थिक प्रतियोगिता कर स्वावलम्बन करने देने का पक्षपाती नहीं। परन्तु यह सत्य है कि आर्थिक स्वाधीनता से नया और उच्च प्रकार का गौरव प्राप्त होता है। यदि कोई स्त्री स्वतंत्र होकर अपनी जीविका निर्वाह करना चाहे तो उसको अपने पति, पुत्र, पिता जबरदस्ती अधीन नहीं रखना चाहिये। साथ ही जो सामाजिक प्रथा स्त्रियों को और नवयुवतियों को वाणिज्य शिल्पकला के कारखानों में काम कर अपनी जीविका निर्वाह करने पर बाधित करती है वह भी मेरी राय में बड़ी बुरी है। परन्तु इसकी दवा नहीं है। या तो स्त्रियों को काम–काज कर अपनी जीविका निर्वाह करनी पड़ेगी या उनको अपने पति, पुत्र, पिता आदि के अधीन रहना पड़ेगा। आर्थिक अधीनता से स्त्रियों को बचाने का कोई उपाय भारत में इस समय दिखाई नहीं पड़ता।''[38]

क्या कारण है जो भारतीय पुरुष एवं राजनेता स्त्रियों को कल–कारखानों, व्यापार, वाणिज्य, शिल्पकला आदि में काम करते देखना नहीं चाहते। दरअसल भारतीय पुरुष महिलाओं के सामने झुकने में अपनी बेइज्जती समझते थे। भारतीय पुरुष व्यापारिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम रखना चाहते थे। पश्चिमी स्त्रियों की भाँति भारतीय स्त्रियाँ इस प्रभुत्व को आसानी से तोड़ सकती थी। यह पश्चिम स्त्रियों के बहाने से 'स्त्रीदर्पण' अगस्त 1919 के अंक में 'स्त्रियाँ और व्यापार' शीर्षक से संपादकीय टिप्पणी में पूर्णतः स्पष्ट है। टिप्पणी में लिखा है–''कुछ लोग अभी तक ऐसे हैं जो यह कहे जाते हैं कि स्त्री को यदि बड़े कारख़ाने का अफ़सर कर दिया जावे तो वे अपने मातहतों को क़ाबू में नहीं रख सकेंगी, क्योंकि पुरुष

उनके कहे में नहीं चलेंगे। इस बात को वहाँ की स्त्रियों ने झूठा साबित कर दिया है। वे यह कहती हैं कि यह कहना स्त्रियों को मौक़ा न देने का बहाना ढूढ़ना है। एक स्त्री ने यह दिखाया है कि जहाँ कहीं स्त्री को ऐसा मौक़ा युद्ध के बीच में मिला, वहाँ उसने अपनी योग्यता साबित कर दी है। इनकी सम्मति में दो प्रकार के पुरुष कारख़ानों में होते हैं; और दूसरे वे जो काम इस वास्ते को बिगाड़ना चाहते हैं कि स्त्री अफ़सर है। इन्होंने दिखाया है कि योग्य स्त्री अफ़सर जहाँ हो गई है, उसने इन दोनों दलों से खूब ही काम लिया है। एक कारख़ाने के पुरुष मालिक से एक मज़दूर ने कहा कि वह यह चाहता है कि जो स्त्री अफ़सर लड़ाई में नियत हुईं थी वही क़ायम रहे। पूछा क्यों उसकी ऐसी इच्छा है तो वह बोला कि वह उससे आदमी समझ कर काम करवाती है, न कि मशीन की तरह।''[39] मनुष्य स्वयं को सुरक्षित रखते हुए चीजों को देखता–समझता है। यही उसने नवजागरणकालीन दौर में किया। उसने तथ्यों को अपने आदर्शवादी नजरिए के साथ समझा। अर्थोपार्जन आर्थिक, मानसिक, शारीरिक रूप से व्यक्ति को मजबूत बनाता है। उसमें सुरक्षा की भावना भरता है। इसी वजह से पुरुष आज तक शारीरिक, मानसिक, आर्थिक रूप से मजबूत हैं। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्रियाँ व्यापार क्यों नहीं कर सकती; यह दलील काफी हुई। स्त्रियाँ व्यापार का हिस्सा कैसे बन सकती है, उसके लिए उसे कौन–कौन सी शक्तियाँ अर्जित करनी होगी? आदि प्रश्न 'मर्यादा' जुलाई–दिसंबर 1915 के अंक में 'धनार्जन और नारी' शीर्षक से श्रीयुत कपिलदेव मालवीय के लेख को महत्त्वपूर्ण बना देते हैं। लिखा है–''सम्पत्ति–शास्त्र के अनुकूल वर्तमान व्यापार में भाग लेने वाले पाँच भिन्न भिन्न समूह हैं। रुपया लगाने वाला (Capitalist), भूमि या प्राकृतिक शक्तियों का स्वामी (Landlord), कार्य करने वाले मजदूर (Lebourer), ठेकेदार या प्रबंधकर्ता (Entrepreneur) और रक्षा करने वाली सरकार (Government)। इसके देखने से ज्ञात होता है कि वे वर्तमान व्यापार की संचालिनी तभी हो सकती है जब वे पाँचों शक्तियों की स्वामिनी होवें।''[40]

सांसारिक वृद्धि के लिए विवाह एक सामाजिक स्वीकृत संस्था है। किसी प्रतिबंधन का नाम 'विवाह' नहीं है। यह एक–दूसरे को समझने एवं विकास के अवसर देती है। प्राचीनता से इसका स्वरूप भिन्न रहा है। इसने संबंधों में प्रेम, अनुराग, शारीरिक स्वास्थ्य, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक स्वातंत्र्य के बिना स्त्रियों को परावलंबी बनाया। वैवाहिक जीवन सफल–सुखमय हो या न हो, सफल–सुखमय कहा अवश्य जाता है और इसे

सफल–सुखमय बनाने की समस्त जिम्मेदारी स्त्रियों की होती है। 20वीं शताब्दी में स्त्रियों को परावलंबन से बचाने के लिए वैवाहिक शैली में परिवर्तन की आवश्यकता थी। इस पर ध्यान देते हुए 'स्त्रीदर्पण' सितंबर 1919 के अंक में 'भारत का सामाजिक संगठन' शीर्षक से लाला लाजपत राय लिखते हैं–

''साधारणतः सुख और सफलतायुक्त विवाह के लिए ये बातें जरूरी हैं।

1. स्त्री–पुरुष दोनों शारीरिक दृष्टि से सम्बन्ध करने और संतान उत्पन्न करने योग्य हों।
2. उन दोनों में प्रेम और अनुराग हो। पर इस बात का पता विवाह के पूर्व कुछ समय तक दूसरे के संसर्ग में रहने से ही चल सकता है।
3. वे पैतृक या स्वयं उपार्जित बीमारी के दोष से बचे हुये हों; अर्थात उत्तम संतान उत्पन्न कर सकने की योग्यता रखते हों।
4. वे आर्थिक दृष्टि से गृहस्थी चलाने का सामर्थ रखते हों।''[41]

'विवाह' संस्था स्त्रियों की आर्थिक पराधीनता का मूल स्रोत है। यह स्त्रियों को प्रवासी बना देती है। अपने घर (जन्मभूमि) को छोड़कर दूसरे घर (विवाहेत्तर भूमि) में रहने को विवश करती है। उसकी दत्तक विधान में कोई हिस्सेदारी नहीं रह जाती।[42] उसे कहीं भी सम्मान नहीं मिलता। परिवार के प्रति अनगिनत कर्तव्य–दायित्व उसे धनोपार्जन करने से रोकते हैं। समाज के इस यथार्थ को 'स्त्रीदर्पण' दिसंबर 1919 के अंक से श्रीयुत डालचन्द महेश्वरी के विचारों से समझा जा सकता है–''स्त्रियों को पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में समाज की काया–पलट हो जायगी, अनेक संस्था व नियम बदलने पडेंगे। और न यह हितकर ही है कि स्त्रियाँ धनोपार्जन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों की प्रतिद्वंदी बनें, ऐसी पश्चिमियों की भी धारणा है। बाल–विधवाओं के लिए यह नियम अधिक बाधक नहीं है क्योंकि उनका ससुराल व पति से विशेष सम्बन्ध नहीं हुआ।''[43] भारतीय स्त्रियाँ तन, मन और धन से अशक्त थी। तन–मन की सशक्ता दृढ़ निर्णय से आती है और यह आर्थिक स्वालंबन से संभव है। इसलिए 20वीं शताब्दी में स्त्रियों को कोई भी दलील देने से बेहतर उनमें धनार्जन भावना भरना है। स्त्रियों का मनोबल बढ़ाते हुए 'मर्यादा' जुलाई 1915 के अंक में 'धनार्जन और नारीजन' शीर्षक से श्रीयुत कपिलदेव मालवीय लिखते हैं–''पुरुष के दबाने पर स्त्री को पराजित होना पड़ता है क्योंकि स्त्री धनहीन है अतः पुरुष की इच्छा के विरुद्ध नहीं चल सकती। और यह दशा

इंग्लैंड जैसे देशों में हैं जहाँ बहुत सी स्त्रियाँ भी अपनी रोज़ी कमाती हैं। भारतवर्ष की स्त्रियों ने भी अब घर से समाज में पैर रक्खा है इन्हें भी अब अपने स्वत्वों की ओर ध्यान देना होगा अतः इन्हें भी धनार्जन करना होगा।''[44] 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं से स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता को लेकर जो विचार प्रस्तुत किए गए हैं, उनमें कतई एकरूपता नहीं दिखलाई पड़ती है। वैसे, स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता से संबंधित लेख पत्रिकाओं में कम मिलते हैं लेकिन स्त्री की आर्थिक स्वाधीनता का प्रश्न 'स्त्री स्वाधीनता' के व्यापक प्रश्न के एक हिस्से के रूप में यहाँ भलीभाँति दिखलाई पड़ता है।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री मुक्ति का प्रश्न राजनैतिक व्यवस्था से जुड़ कर स्त्रियों की राजनैतिक मुक्ति तलाशता है। यह 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में दो रूपों (स्वराज्य एवं स्त्रियों का मताधिकार) में खोजी जाती है। सर्वव्यापक तौर पर देश में ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध 'स्वराज्य' की लहर उठी। यह भी है कि राष्ट्रीय उन्नति अथवा मुक्ति के यह विचार पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग का परिणाम थे। 'स्वराज्य' राष्ट्र मुक्ति का एकमात्र मार्ग था। इसके प्रतिरोध में साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा भारतवासियों की उपेक्षा मुख्य लक्ष्य रहा। यह कुछ समय उपरांत विशाल जन–आंदोलन के रूप में उभरकर सामने आया। राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में 'स्वराज्य' की व्याख्या 'स्त्रीदर्पण' अगस्त 1917 के अंक में 'स्त्रियाँ और स्वराज्य' शीर्षक से एक समतावादी ने निम्न शब्दों में की है–''स्वराज्य' का अर्थ अपने राज्य से है अर्थात जो राज्य अपनी हुकूमत अपने हाथों और अपनी इच्छा से हो उसे स्वराज्य कहते हैं। किसी देश के स्वराज्य की झलक शासन, देश निवासियों की इच्छा से ही होता है। किसी व्यक्ति विशेष, समुदाय विशेष अथवा जाति विशेष की इच्छा से नहीं। प्रत्येक मनुष्य की राय लेकर जो शासन होता है वही वास्तविक स्वराज्य है। जो शासित होते हैं उन की ही इच्छानुसार शासन होना स्वराज्य का नाम है। किसी देश के किसी प्रकार के शासितों से स्त्रियाँ भिन्न नहीं, वे शासन के नियमों से मुक्त नहीं, स्वतंत्र नहीं। उन को भी शासन–व्यवस्था के नीचे सिर झुकाना पड़ता है, इसलिये स्वराज शासन में उन की राय लेनी आवश्यक ही नहीं वरन् उचित तथा अनिवार्य है, अन्यथा वह शासन स्वराज्य–शसन नहीं।''[45] भारतीय पुरुष स्वराज्य प्राप्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे किंतु देश की आधी जनता से देश की मुक्ति का स्वप्न पूरा नहीं हो सकता था। देश की उन्नति को केवल आधी आबादी के भरोसे छोडना संभव नहीं था।

मुख्यधारा से कटे होने का एहसास ने भारतीय स्त्रियों को स्वराज्य आंदोलन में समानता की माँग पर विवश किया। एक स्त्री की भारतीय पुरुषों से गुहार अपने लेख 'स्त्रियाँ और स्वराज्य' में दिखलाई पड़ती है। एक समतावादी के नाम से लिखती हैं–''हमें इस समय भी आप स्वराज्य में समता दे सकते हैं, हमें आप पहिले स्वराज्य आंदोलन में ही समता दीजिये, हम से काम लीजिये। यद्यपि हम में किसी राज्य क्रान्ति करने का रत्ती भर विचार का ध्यान नहीं। कोई कल्पना भी नहीं, परन्तु तब भी हमसे शान्तियुक्त स्वराज्य आन्दोलन में सभी वीर रमणियों की भी सहायता लीजिये, हमें भी स्वराज्य के न्याययुक्त भाग का सन्देश फैलाने में साथी बनाइये, कुछ बन चुकी हैं, बाकी रही स्त्रियों में भी इस का प्रचार कराइये। घर–घर इस पवित्र ध्वनि का प्रवेश हो, द्वार–द्वार पर स्वराज्य की भेरी (एक बाजा) फूँकी जाय यहाँ तक छोटे–छोटे बच्चे भी स्वराज्य का दुग्ध पान करने लगे, नर नारियों की स्वांस में भी स्वराज्य का संचार हो, फिर देखिए हम दोनों के सम्मिलित प्रयत्नों से कितनी जल्दी स्वराज्य मिलता है।''[46]

एक समतावादी लेखिका ने 'स्त्रीदर्पण' के अंक में लेख में 'स्वराज्य आंदोलन और स्त्रियाँ' शीर्षक से अपने स्वत्वों को पाने के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध को आवश्यक बताया। इनकी दृष्टि में 'ब्रिटिश साम्राज्य' समाज में अपना उचित पद पाने की पृष्ठभूमि और 'स्वराज्य' अस्त्र था। साथ ही अपनी जातीय मुक्ति के लिए स्वराज्य आंदोलन में स्त्रियों द्वारा लिए जाने वाले भाग के चार भेदों पर बल देते हुए लिखा है–

1. घर का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना
2. स्वराज्य का ज्ञान प्राप्त करना,
3. आंदोलन करना और
4. उसके लिए कुछ सामने आ पड़े उसे सहर्ष सह लेना।[47]

लेखिका के यह विचार गाँधीवादी विचारधारा से प्रभावित लगते हैं। वैसे भी राष्ट्रीय स्वराज्य आंदोलन में गाँधी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। तत्कालीन परिवेश में उनके विचारों का प्रभाव पड़ना लाजमी है। लेकिन श्रीमति एनी बेसेंट 'राष्ट्रीय आंदोलन' की एकमात्र स्त्री नेत्री होने के कारण कम प्रभावी नहीं थी। यह 1915 के कांग्रेस अधिवेसन में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी द्वार स्वराज्य का प्रस्ताव रखने पर स्पष्ट झलकता है–''स्वराज्य का चित्र आँखों के सामने खिंच

गया, उसे हस्तगत करने की लालसा हृदय में जाग उठी। अन्तःकर्ण ने कूक मारी कि जिस दिन हमारी बहिनों में ऐनी बिसेन्ट दिखाई देंगी उस दिन स्वराज्य के लिए प्रार्थना करने की जरूरत न रहेगी।''[48] पूरे देशभर में 'स्वराज्य आंदोनल' कैसे जोर पकड़ा यह बताने की आवश्यकता नहीं है। यह स्त्री–पुरुष के संदर्भ में कैसे अलग है इस पर विचार आवश्यक है। एक स्वराज्य के लिए स्त्री–पुरुष दोनों एकजुट होकर संघर्षरत थे। दूसरा स्वराज्य स्त्रियों का, स्त्रियों द्वारा, स्त्रियों के लिए था। दोनों का शाब्दिक अर्थ एक है लेकिन अपने गूढ़ अर्थ में एक स्वराज्य का संबंध राष्ट्रीय स्वराज्य आंदोलन और दूसरे का पारिवारिक स्वराज्य आंदोलन से है। यह दोनों आपस में ऐसे गुँथे हुए हैं कि राष्ट्रीय स्वराज्य आंदोलन 'घर–परिवार स्वराज्य आंदोलन' का और 'घर–परिवार स्वराज्य आंदोलन' राष्ट्रीय स्वराज्य आंदोलन का आभास कराता है–''जैसे घर का इन्तज़ाम बिना स्त्री को अधिकार दिये कभी अच्छी तरह नहीं चल सकता वैसे ही देश का इन्तज़ाम उसी देशवासियों के किये बिना इस प्रकार नहीं चल सकता कि जिस से देश में संतोष रहे। इसी इन्तज़ाम का हाथ में आना स्वराज्य है और स्त्री और पुरुष सब को एक स्वर में माँगना अतिआवश्यक है। स्त्रियों का इस समय शरीक होना इस कारण ज़रूरी है कि उन को भी अपने अधिकार जो छीन लिये गये हैं वापस लेने हैं।''[49]

स्त्री मुक्ति को समर्थन प्राप्त करने में स्वराज्य का राष्ट्रीय आंदोलन भी शामिल था। 'स्वराज्य' राष्ट्रीय मुक्ति का मार्ग था; देश की उन्नति का नहीं। संपूर्ण देश की उन्नति स्त्रियों के 'होमरूल' प्राप्त करने में छिपी थी। 'स्त्रीदर्पण' जनवरी 1917 के अंक में श्रीमती सत्यदेवी और लक्ष्मीदेवी वाजपेयी द्वारा आयोजित ब्रह्मसमाज की एक सभा में मिस आर. पी. पाल के व्याख्यान का सार 'स्त्रियों को ''होमरूल'' पहले दीजिए' शीर्षक से प्रस्तुत किया है। इस व्याख्यान में मिस पाल कहती हैं–''आज भारत के नेता होम रूल अथवा स्वराज्य की प्राप्ति के लिये सभाएँ इत्यादि करके खूब आन्दोलन कर रहे हैं। परंतु यदि इन से पूछा जाय कि अभी तक तुमने सच्चा देशहित क्या किया तो ''कुछ नहीं'' के अतिरिक्त और कोई उत्तर नहीं मिल सकता। हमारा यह स्पष्ट कथन है कि यदि आप सब लोग देश की सच्ची उन्नति करना चाहते हैं तो स्त्रियों को 'होमरूल' पहिले दीजिये। 'होम' कहते हैं घर को और 'रूल' कहते हैं शासन को, घर पर स्त्रियों का पूरा पूरा शासन होना चाहिए। अपने पति से लेकर नौकर पर्यन्त, सब पर स्त्रियों का शासन रहना चाहिए। पति को चाहिए कि बिना पत्नी की

सम्मति के कोई भी गार्हस्थ्य या सार्वजनिक कार्य न करे, पत्नी को साथ लेकर चले। ''परोपकार का प्रारंभ घर से होता है'', इस कथन को चरितार्थ करने का समय यही है। स्त्रियों को होमरूल देने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य जाति का जन्मसिद्ध अधिकार जो 'स्वतंत्रता' है वह स्वतंत्रता परिमिति के अंदर स्वतंत्रता, उनको भी देना चाहिए। जिस प्रकार पुरुष स्वतंत्रता पूर्वक देश हित में भाग ले सकता है उसी प्रकार स्त्री भी ले सके, इतनी स्वतंत्रता उसे देनी चाहिये कम से कम स्त्री जाति में स्वदेश प्रेम और स्वदेशाभिमान जागृत करने वाली देवियाँ हम में तैयार होनी चाहियें। परंतु वर्तमान ''स्त्रियों की पराधीनता'' बड़ी भयंकर है, जिसके कारण यह कहना पड़ता है कि भारतीय मनुष्य समाज का आधा अंग निकम्मा हो रहा है।''[50] 20वीं शताब्दी में अन्य मसलों की भाँति राजनैतिक मसलों पर विचार–विमर्श की बहुत आवश्यकता थी। 'राजनैतिक स्वाधीनता' वह धुरी थी जिसकी सहायता से भारतीय स्त्रियाँ अपने स्वत्वों को प्राप्त कर सकती थी।

स्त्रियों की राजनैतिक स्वाधीनता 'स्वराज्य' के अतिरिक्त 'मताधिकार' प्राप्त करने से भी परिपूर्ण होती है। सर्वप्रथम अमेरिका में स्त्रियों को वोट देने के अधिकार को लेकर स्त्रियों का आंदोलन का आविर्भाव हुआ। राष्ट्रीय उन्नति के लिए इसका प्रभाव भारतीय राजनीति पर पड़ना लाजमी था। भारत में 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक से स्त्रियों ने राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने की माँग की फिर चाहे वह 'स्वराज्य' को लेकर क्यों न हो। इस बहाने भारतीय स्त्रियाँ भारतीय राजनीति का हिस्सा बनीं। 20वीं शताब्दी के दूसरे दशक के अंतिम वर्षों में स्त्रियों ने स्वराज्य के साथ–साथ वोट का अधिकार माँगना आरंभ कर दिया। इसके फलस्वरूप यह मुद्दा विचारणीय बन गया कि भारतीय स्त्रियों को राजनैतिक अधिकार के रूप में वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए अथवा नहीं। इस माँग से पूर्व स्त्रियों के सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों का विरोध पुरातनवादियों ने धार्मिक और नैतिक नियमों के आधार पर किया जाता था। बाद में स्त्रियों के अधिकारों का विरोध धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी कारणों पर किया जाने लगा।

'मर्यादा' जनवरी 1919 के अंक में 'स्त्रियों के अधिकार' शीर्षक से श्रीमती उमा नेहरू ने लिखा। इसमें उन्होंने उन आपत्तियों पर विस्तार से चर्चा की है जो भारतीय स्त्रियों को कौंसिलों के मेम्बरों को चुनने और कौंसिलों के मेम्बर बनने में किए जाते रहे। श्रीमती उमा

नेहरू ने स्त्रियों की राजनैतिक स्वाधीनता की आवश्यकता पर बल देते हुए तत्कालीन चार आपत्तियों का जिक्र किया है। वह लिखती हैं–''सबसे पहली वजह यह बताई जाती है कि हमारा समाज इस परिवर्तन के लिए तैयार नहीं है।...दूसरा एतराज़ जो इन अधिकारों के संबंध में किया जाता है वह यह है कि भारतीय महिलाएँ अशिक्षित हैं, उनमें पर्दा है और उन्हें राजनैतिक अधिकारों के बरतने का ज्ञान नहीं है।...तीसरा एतराज़, जो उपर्युक्त दोनों एतराज़ों से भी विचित्र है, यह है कि यदि भारतीय स्त्रियों को वोट देने और सभासद बनने का अधिकार दे दिया गया तो वे पश्चिमीय स्त्रियों के समान–मर्दानी हो जावेगी।...चौथा एतराज़ इस संबंध में यह किया जाता है कि जब भारतीय स्त्रियाँ स्वयं कुछ नहीं कहती और अधिकार देकर उनका हृदय पीड़ित करने से क्या प्रयोजन है।''[51] इन आपत्तियों का जवाब श्रीमती उमा नेहरू ने बड़ी उत्तेजनापूर्ण ढंग से दिया है। इन्होंने देश की उन्नति एवं उत्कृष्टता को ध्यान में रखते हुए समस्त दलीलों को अविवेकपूर्ण और अनुचित ठहराया है। लेखिका मि. लायड जार्ज के वक्तव्य से अपना मत प्रकट करती हैं–''कभी तो यह संसार उन्नति के मार्ग में ऐसे धीरे–धीरे चलता है कि घंटो की राह सैकड़ों वर्षों में तय कर पाता है और कभी सैकड़ों वर्षों की राह घंटों में तय करके रख देता है। इन दिनों यह संसार–चक्र इस तेज़ी से घूम रहा है कि मानव–इतिहास ने अपने आरम्भ से कभी इसे इस तेज़ी से घूमते नहीं देखा। ऐसे ही समय उन्नति और उत्कृष्टता के होते हैं और इन्हीं में समाजों और राष्ट्रों को अपने भविष्य–भाग्य के निर्माण का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। अपने संकुचित विचारों के अंधकार में फँसकर इस अवसर को हाथ से खो बैठना शताब्दियों के लिए निराश हो जाना है।''[52]

भारतीय परिस्थितियों में स्त्रियों के अधिकारों को भलीभाँति समझने के लिए भारत मंत्री मि. मानटेगू ने मानटेगू–चेम्सफोर्ड शासन सुधार व्यवस्था के संदर्भ में एक कमेटी नियुक्त की। वह सुधार संबंधी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए स्त्रियों को वोट का अधिकार न दिए जाने के नतीजे पर पहुँचती है। इस कमेटी ने यह नतीजे एक सर्वे के दौरान लिए।[53] इस कमेटी की रिपोर्ट का देशभर की स्त्रियों ने विरोध किया। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका की संपादिका ने भी किया। 'स्त्रीदर्पण' मई–जून 1919 में 'स्त्रियाँ और वोट' पर संपादिका की संपादकीय टिप्पणी से ज्ञात होता है कि स्त्री अधिकारों की प्राप्ति में मुख्य बाधा भारतीय पारंपरिक परंपराएँ जैसे पर्दा प्रथा पहुँचा रही थी। रिपोर्ट तैयार करने में इसकी अहम् भूमिका रही।

संपादिका श्रीमती रामेश्वरी नेहरू संपादकीय टिप्पणी दो उद्देश्यों से लिखी। एक भारतीय स्त्रियों को वोट का अधिकार मनवाने दूसरी कमेटी की रिपोर्ट की त्रुटियों से अवगत कराने के उद्देश्य से संपादकीय टिप्पणी लिखी। वह कमेटी की कटु आलोचना करते हुए लिखती हैं–''शायद इस कमेटी को परदे के डर ने ऐसी रिपोर्ट करने पर बेवश किया। पहले तो हम यह कहना चाहते हैं कि परदा भारत में नहीं होता। जहाँ होता है वहाँ यदि परदे का आदर ही स्वीकार था, वोट परदे में लेने का प्रबन्ध हो सकता है। हमारी देशी बहनों में बहुतेरी ऐसी हैं जो वोट लेने के काम को भलीभाँति कर सकती हैं। यदि कमेटी यह चाहती थी कि वोट खुले में हो तो वह ऐसा ही कह सकती थी। जिन स्त्रियों को वोट देना स्वीकार होता वे परदे से निकल आतीं और एक पंथ दो काजवाली कहावत सी हो जाती। कम से कम वोट देने भर को तो वे बाहर आ ही जातीं जैसा कि प्रयाग–प्रदर्शनी देखने को उन्होंने किया था। यदि कोई स्त्री न आती तो उसका वोट न होता। उसको कोई शिकायत भी न होती, क्योंकि दोष उसी का होता। यदि माना भी जावे कि बहुत कम स्त्रियाँ वाट देतीं तो भी जो देतीं उनका अधिकार क्यों रोका जाता है? यह कहाँ का न्याय है कि किसी का अधिकार इस कारण ले लिया जावे कि और लोग उस जाति के अपने अधिकार को काम में नहीं लाते? पर असल में यह प्रश्न उठते ही नहीं, क्योंकि इस बात का ही सबूत नहीं है कि स्त्रियाँ अपने अधिकार को काम में नहीं लावेंगी। आजकल उनकों म्यूनिसिपैलिटी में वोट देने का अधिकार है। कितनी ही स्त्रियाँ ऐसी हैं जो वोट देने जाती हैं और अपने हस्ताक्षर करके वोट देती हैं। यह सच है कि बहुत सी नहीं जातीं, परन्तु बहुत से पुरुष तक वोट नहीं देते। खासकर अंग्रेज़ वोटरों में कभी भी आधे आदमी वोट नहीं देते। कभी किसी ने आजतक यह कहा कि उनके वोट का अधिकार ले लेना चाहिए? कभी नहीं। फिर हमारा अधिकार क्यों नहीं दिया जाता?''[54]

'स्त्रीदर्पण' अगस्त 1919 के अंक में 'स्त्रियाँ और वोट' पर प्रकाशित संपादकीय टिप्पणी में संपादिका विविध प्रांतों में स्त्रियों के वोट के अधिकार को लेकर हुए सम्मेलनों का विस्तृत ब्यौरा देती हैं। वह बताती है कि सर्वप्रथम श्रीमती एनी बेसेंट ने दिसंबर 1917 कांग्रेस की अध्यक्षता में स्त्री मताधिकार के प्रश्न को प्रस्तुत किया। यह प्रश्न बार–बार प्रांतिक सम्मेलनों में उठाया और स्वीकार किया गया। मद्रास, मध्यप्रदेश, पंजाब, बम्बई इनमें से बम्बई को छोड़कर सभी प्रांतों में स्त्रियों के मताधिकार को बेझिझक मंजूरी दे दी गई। संपादिका ने आगे के ब्यौरे में लिखा है–''18 दिसम्बर सं. 1918 को कुछ स्त्रियाँ, उनमें हिन्दू, ईसाई,

मुसलमान सब ही मौजूद थीं, जमा होकर बड़े लाट साहब के दर्बार में उपस्थित हुईं (डेप्यूटेशन)। यह पहिला अवसर अंग्रेज़ी शासन में था कि हिन्दोस्तानी स्त्रियाँ इक्ट्ठी होकर दर्बार में अपने अधिकार माँगने गई हों। उन्होंने यह प्रार्थनापत्र पेश किया कि जब वोट के क़ायदे बनाई जा रहे हों तो केवल स्त्री होने से वोट का अधिकार न ले लिया जावे। दिसंबर सं. 1918 के देहली कांग्रेस में, कि जिसमें बहुत सी हिन्दू स्त्रियों ने हिन्दुस्तानी भाषा में स्त्रियों के वोट के प्रस्ताव पर भाषण दिया, वही प्रस्ताव जो कि बम्बई के कांग्रेस में मंजूर किया गया था फिर पेश किया। यद्यपि बम्बई में इसका विरोध करनेवाले निकल आये थे, इन स्त्रियों के भाषण सुन कर एक आदमी भी विरोध न कर सका और यह प्रस्ताव कुल आदमियों की सम्मति से मंजूर किया गया। इस कांग्रेस में पाँच हज़ार प्रतिनिधि उपस्थित थे। उनमें स्त्रियाँ केवल सौ देड़ सौ ही थीं।''[55] संपादिका का इस प्रकार का ब्यौरा देने का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों के मताधिकार के लिए लड़ रही स्त्री डेप्यूटेशन की सभासदों, स्त्री ग्रेजूएट एसोसियन, बम्बई होमरूल लीग की स्त्री मेम्बरों ऐसे अन्य संगठनों के साथ भारतीय स्त्रियों को एकत्रित खड़ा करके स्त्रियों के मताधिकार मंजूरी संबंधी राय को साउथबरा कमेटी तक पहुँचाना था। स्त्री मताधिकार आंदोलन को दिनों–दिन बढ़ाना था।

भारतीय स्त्रियों का आत्मसंघर्ष ब्रिटिश राजनीति के विरुद्ध था। अन्य देशों की स्त्रियाँ मताधिकार लेकर कहाँ से कहाँ पहुँच गई थी। अलग–अलग देशों के अलग–अलग क्षेत्रों में अलग–अलग पदों पर आसीन थी और अभी भारतीय स्त्रियाँ मताधिकार के लिए संघर्ष ही कर रही थी। यह भारतीय स्त्रियों में राजनैतिक जागृति उत्पन्न करने का सबब बना। 'स्त्रीदर्पण' सितंबर 1919 के अंक में 'स्त्रियों में राजनैतिक जागृति' (प्रताप से उद्धृत) शीर्षक से लिखा हैं–''प्रायः सारे संसार ने वे व्यवसाय करना आरम्भ कर दिये हैं जो अब तक पुरुषों की बपौती समझे जाते थे। केनाडा, न्यूज़ीलैंड तथा आस्ट्रेलिया में स्त्रियाँ वकालत करती हैं। आस्ट्रेलिया में तो कुछ स्त्रियाँ मेजिस्ट्रेटी तक करती है। संयुक्तप्रान्त अमेरिका में हज़ारों स्त्रियाँ वक़ील हैं और बहुत सी जज। वहाँ बहुत सी अदालतें ऐसी हैं जिनमें स्त्रियों का विचार केवल स्त्री–हाकिम द्वारा होता है। फ्रांस में बहुत सी स्त्रियाँ विख्यात बैरिस्टर हैं। उनमें सबसे अधिक विख्यात मैट्रीभोरिया बेरोन है जिसने स्त्रियों का मुआमिला सन्धि–कान्फ्रेंस के सामने रक्खा था। नारवे, डेनमार्क, हालेण्ड, रूस, फिनलेण्ड, स्वीजरलैण्ड, स्वीडन इत्यादि सब स्थानों में बहुत सी स्त्रियाँ वकालत करती है। स्वीडन में केवल अविवाहित स्त्रियों को

वकालत करने का अधिकार हो जाता है। इसी नियमानुसार इटली में भी अविवाहित स्त्रियाँ वकालत कर सकती हैं। विवाह होने के पश्चात् वे केवल डिग्री प्राप्त कर सकतीं हैं और विश्वविद्यालय में क़ानून की शिक्षा दे सकती हैं। इंग्लैंड में प्रथम श्रेणी की सिविल सर्विस को छोड़कर और सब दर्जों की सिविल सर्विस के लिए स्त्रियों की सिफ़ारिश की जा रही है।''[56] रचनाकार का पश्चिम स्त्री संबंधी परिवर्तित विचारों–आत्मसंघर्षों का मूल्यांकन भारतीय स्त्रियों को समय के साथ गतिमान बनाने के लिए था। संसार की स्त्रियों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की प्रेरणा देने के लिए था।

स्त्रियों की राजनैतिक मुक्ति का प्रश्न ब्रिटिश पार्लियामेंट तक गया। मिसेज बेसेंट, मिसेज नायडू, लेडी अब्बास अली बेग, मिसेज भोलानाथ की भाँति मिसेज और मिस टाटा ने साउथबरा कमेटी के विरोध में स्त्रियों के मताधिकार के प्रश्न को ब्रिटिश पार्लियामेंट के सामने पेश करने का फैसला किया। भारतीय स्त्रियों के लिए साउथबरा कमेटी का स्त्री मताधिकार पर विरोध बिलकुल आलोचनात्मक था। इस पर 'स्त्रीदर्पण' सितंबर 1919 में 'स्त्रियाँ और वोट' शीर्षक से संपादकीय व्याख्या में तर्कपूर्ण उत्तर देते हुए संपादिका लिखती हैं–''यदि थोड़ी के भी अधिकार दबाए बैठे रहें जब तक कि सब न चाहें तो किस मुँह से आप सरकार से अपने देश के अधिकार माँगते हैं? अधिकतर हमारे देशवासी तो घोर अंधकार ही में पड़े हैं। आप तो अपने अधिकार इसी वास्ते माँगते हैं कि उनको घोर मूर्खता से निकालें। हम भी उसी वास्ते अपने और अपनी मूर्ख बहिनों के वास्ते वोट का अधिकार माँगती हैं।''[57] सरोजनी नायडू जब स्त्रियों के मताधिकार संबंधित प्रश्न पर ब्रिटिश पार्लियामेंट गई तब उन्होंने ब्रिटिश पार्लियामेंट की जॉएन्ट कमेटी के सामने भारतीय स्त्रियों की अगुवाई करते हुए कहा–''मैं अपने देश की बहनों की ओर से वकालत करने आयी हूँ। हम यह अधिकार दया या भिक्षा के रूप से नहीं माँगती। ऐतिहासिक घटनाओं से जान पड़ेगा कि इसपर हमारा हक है। भारत की स्त्री ओहदे या बड़े पद नहीं माँगती। उनको इस तरह की आकांक्षा नहीं है। स्त्रियाँ इस से प्रायः (घर के बाहर) कुछ हेरफेर नहीं माँगती। उस गवर्नमेंट को कार्यकारी बनाने के लिए और अपने विचारों और भाग्यों को गढ़ने और कब्जे में रखने के लिए, स्त्रियाँ यह समझती हैं कि स्त्रियों के विचारों को कानून का जोर मिल जाना चाहिए।''[58] यह स्त्री आंदोलनकारी नेत्रियों द्वारा स्त्री अधिकारों को पाने की योजना (Trick)

है। नहीं तो कैसे संभव है कि भारतीय स्त्रियाँ अपने अधिकार चाहती है पर किसी पद पर आसीन नहीं होना चाहती।

'स्त्रीदर्पण' सितंबर 1919 के अंक में 'स्त्रियों की स्वाधीनता' शीर्षक से श्री विश्वम्भरनाथ जिज्जा ने साउथबरा कमेटी की रिपोर्ट पर अपनी प्रतिक्रिया दी। वह साउथबरा रिपोर्ट का समर्थन करते हुए लिखते हैं–''कोई भारतवासी यह कैसे दावे के साथ कह सकता है कि ''हाँ हमारी स्त्रियाँ इस योग्य हो गई है; उन्हें 'वोट' का अधिकार अवश्य मिलना चाहिये।'' कांग्रेस और कांफ्रेंस में पास किये हुए प्रस्ताव एक ठोस वास्तविक बात की स्थिति नहीं बदल सकते। यह मानना ही होगा कि हमारे देश की स्त्रियाँ बिलकुल अशिक्षित हैं। सारे देश में सरोजिनी देवी व्याप्त नहीं हो सकती। जिस तरह इस समय एक–एक प्रान्त में कम से कम 100–50 योग्य शिक्षित पुरुष हैं, उसी तरह जब स्त्रियों की संख्या होगी तब कहीं जाकर पल्ला बराबर होगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस देश की स्त्रियाँ कितनी अशिक्षित और अयोग्य रक्खी गई हैं। इस पर माँग है कि 'वोट' का अधिकार मिले। अधिकार मिले, बड़ी अच्छी बात है; परन्तु जब तक वास्तविक नियमित रूप से लड़कियों की शिक्षा उसी तरह नहीं होगी जिस तरह लड़कों की होती है, तब तक किसी तरह का भी अधिकार माँगना व्यर्थ है। बद्धिमान, विचारवान और साथ ही जो धनिक देश–हितैषी हैं, उनका यह परम पुनीत कर्तव्य है कि स्त्रियों को शिक्षित करने का वे पूरा प्रबंध करें। अब बिना स्त्रियों को साथ लेकर पुरुष–समाज आगे बढ़ने की आशा न करें।''[59] साउथबर कमेटी द्वारा स्त्री मताधिकार का विरोध तर्कविहीन था किंतु विश्वम्भरनाथ जिज्जा का तर्क भी सही नहीं है। विश्वम्भरनाथ जिज्जा स्त्रियों को अधिकार दिए जाने से पहले स्त्री–पुरुष की समान शिक्षा पर बल देते हैं और बाद में स्त्री–पुरुष संबंधों की दुहाई देकर वह अधिकार छीन लेना चाहते हैं। 'स्त्रीदर्पण' नवंबर 1919 के अंक में 'स्त्रियों की स्वाधीनता' शीर्षक से पंडित विश्वम्भरनाभ जिज्जा लिखते हैं–''परन्तु देखिए, यह राजनीति नहीं है, यह स्त्री–पुरुष का सम्बन्ध है। वैसा कड़ा कानून पास होने पर भी स्त्री का पुरुष बिना और पुरुष का स्त्री बिना काम न चल सकेगा। तब भी स्त्री–पुरुष एक साथ रहेंगे; तब भी स्वामी–भक्ति और स्त्री–भक्ति में अभाव न होगा। हाँ, इतना ज़रुर होगा कि पुरुषों के वर्तमान गहरे दबाव की पराकाष्ठा न रहेगी, परन्तु यह भी न होगा कि स्त्रियाँ अपने हृदय की जड़ में से पुरुषों का 'सम्पत्ति' वाला दावा

निकाल सकेंगी। उस दावे को कोई सरकारी क़ानून नहीं निकाल सकता। वह दावा पारस्परिक समझौते ही से निकल सकता है।''[60]

विश्वम्भरनाथ जिज्जा जैसे लाजपत राय ने स्त्रियों को वोट का अधिकार देने का विरोध नहीं किया लेकिन कभी स्त्री–पुरुष को समान भी नहीं माना। कहीं न कहीं भारतीय पुरुष अंग्रेजी शासन व्यवस्था के नक्शे कदम पर चल रहे थे। अर्थात जैसे अंग्रेजों ने भारतवासियों को अपना शासन संभालने के योग्य नहीं समझा वैसी ही भारतीय पुरुषों ने स्त्री अधिकारों को देने के प्रश्न पर स्त्रियों को अयोग्य समझा। 'स्त्रीदर्पण' अक्टूबर 1919 के अंक में संपादिका लाला लाजपत राय के 'भारत में स्त्रियों का पद' नामक लेख में व्याख्यायित पूर्वाग्रहों को तोड़ती हैं। वह लिखती है–''शारीरिक बल में स्त्रियाँ पुरुषों से कम हैं सो ठीक, विशेषकर वे संतानोत्पत्ति के कारण तो और भी बलहीन हो जाती हैं; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इस कारण वे उनसे मानसिक बल में कम हैं।...मस्तिष्क तो एक ऐसी वस्तु है कि जितना उसको काम में लाया जाएगा उतना ही उसका बल बढ़ेगा। संसार में जितने ऐसे काम है जिनमें मानसिक बल का प्रयोग है वे सब पुरुषों के हाथों में हैं। रात दिन उनको अपने मस्तिष्क से काम लेना पड़ता है। स्त्री छोटी अवस्था में कुछ पढ़ती भी है तो बड़ी होकर चूल्हे चक्की के काम में लग जाती है। जहाँ चूल्हा चक्की नहीं वहाँ ड्रांइग रूम और पिआनो है। फिर बढ़कर यदि पुरुष स्त्री से आगे न निकले तो दूसरा कौन निकले।''[61] कहने की आवश्यकता नहीं है कि द्वंद्व और अंतर्विरोध तत्कालीन समय के भारतीय पुरुषों में ही नहीं समस्त व्यवस्था में मिलेगा जिसका विरोध संपादिका यहाँ कर रही हैं। संपादिका ने अलग से सितंबर 1919 अंक की संपादकीय टिप्पणी में सत्यनारायण चँदावरकर[62], मिस्टर प्रान्जपे[63], आग़ा खां साहब[64], मिस्टर रंगास्वामी अइयांगर[65], सर एस पी शिवस्वामी[66], करनल वेजबुड[67], डाक्टर लैज़ेरस[68], सर जौन रीज़[69], मिस्टर वेंकटरमा आयङ्गर[70], मि. डोरईस्वामी आयङ्गर[71] और मि. वी चक्कल[72] के माध्यम से विचारकों के वैचारिक मतभेदों एवं अंतर्विरोधों को दर्शाया है।

अमेरिका में कुछ राज्यों में स्त्रियों को मताधिकार कुछ प्रतिबंधों के साथ मिला; कुछ राज्यों में पूर्णतः मिल गया। इसे लेकर 'प्रभा' अप्रैल 1920 के अंक में 'राजनीति और स्त्रियाँ' शीर्षक से टिप्पणी प्रकाशित हुई। अमेरिकी स्त्रियाँ इस अधिकार का कैसे प्रयोग करेंगी? इस

पर विचार करते हुए लेखक ने लिखा है–''महिलाओं के पिछले कार्यों से अनुमान होता है कि वे उन कार्यों पर अधिक ध्यान देंगी, जो स्त्री जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। यथा घर–घर का प्रबंध, घर का स्वास्थ्य, बाल बच्चे, और शिक्षा प्रणाली से घर का सम्बम्ध।''[73] भारतीय स्त्री मताधिकार के विरोध में 'प्रभा' मई 1920 के अंक में 'भारतीय महिलाएँ और वोट देने का अधिकार' शीर्षक से श्रीमती विद्यावती सेठ का लेख भी महत्त्वपूर्ण है। वह पश्चिमी और भारतीय स्थितियों को बिलकुल भिन्न दर्शाकर स्त्रियों को वोट का अधिकार देने का विरोध करती हैं। श्रीमती विद्यावती सेठ लिखती हैं–''यहाँ न तो स्त्रियों की संख्या ही अधिक है, न बड़ी–बड़ी मशीनें ही हैं, न अविवाहिता स्त्रियाँ ही हैं, न वह पाश्चात्य राक्षसी सभ्यता ही है और न स्त्री–पुरुषों की स्पर्धा ही। अतः भारतीय महिलाओं के सामने अधिकार का युद्ध आता ही नहीं। यहाँ स्त्रियों के लिए धनोपार्जन की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि यहाँ तो स्त्रियों के लिए बच्चों के लिए पालन–पोषण कर उनकों श्रेष्ठ बनाना ही बड़ा भारी कार्य है।''[74] स्पष्टतः भारतीय विचारकों के विचारों के साथ–साथ भारतीय–पश्चिमी समझ में भी अंतर्विरोध है। लेखिका के लिए यह काफी नहीं था। उन्होंने पश्चिमी देशों में स्त्रियों के राजनीति में प्रवेश से होने वाली हानियों को गिनाते हुए लिखा है–''अतः इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए और पाश्चात्य देशों में स्त्रियों के अधिकारों के आंदोलन से गृहस्थ जीवन और शिशु रक्षा इत्यादि में जो देशहित घातक बाधाएँ हो रही हैं, उससे शिक्षा लेते हुए भारतीय नीतिज्ञों को चाहिए कि भारतीय रमणियों के गृहस्थ जीवन को उन्नत कर उन्हें राजनैतिक क्षेत्र के कड़वे फलों को चखने से रोकें। यहाँ की स्त्रियाँ स्वभाव से गृहस्थ सुख के लिए श्रेष्ठ हैं, फिर चाहे शिक्षित हों या अशिक्षित। यहाँ पर स्त्रियाँ धन उपार्जन के लिए भी बाध्य नहीं है। जब पुरुषों को ही पूर्ण रूप से वोट देने का अधिकार प्राप्त नहीं है तब स्त्रियों के अधिकार की क्या चर्चा? ऐसी अवस्था में राजनैतिक आंदोलन करते समय इस क्षेत्र में भी पाश्चात्य देशों की नकल करना अनुचित ही नहीं हानिकारक भी होगा।''[75] ऐसे विचारकों के लिए स्त्री अधिकारों से पहले मूल्य रहित आदर्श एवं नैतिकता ही सब कुछ होती है। मनुष्यता या उसके अधिकारों का कोई मूल्य नहीं होता है।

'स्त्रीदर्पण' अक्टूबर दिसंबर 1920 के अंकों में 'भारतीय महिला और आगामी चुनाव' शीर्षक से श्रीयुत मुकुन्दीलाल बी. ए. (औक्सन, बार ऐट–ला) का लेख स्त्रियों की राजनैतिक मुक्ति के लिए प्रेरणादायी है। स्त्री के मताधिकार पर लिखते है–''यह बड़े खेद का विषय है

कि सरकार ने भारतीय महिलाओं को अपना प्रतिनिधि चुनने या अपनी 'वोट' देने का अधिकार नहीं दिया। अतएव हमें उनको वोट दिलाने के लिए बड़ा परिश्रम और आन्दोलन करना होगा। क्योंकि पार्लियामेन्ट ने यह बात भारतीय प्रजा के लिए तय करने को छोड़ दी है कि वे प्रत्येक प्रान्त की कौंसिलों के द्वारा महिलाओं को 'वोट' देने की शक्ति अर्थात अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिला सकते हैं।''[76] मुकुन्दीलाल कौंसिलों को वोट दिलवाने और चयनित उम्मीदवारों से स्त्री मताधिकार के पक्ष में काम करने का दायित्व स्त्रियों को सौंपते हैं।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में भारतीय स्त्रियों को परंपरागत रूढ़ियों, मान्यताओं से मुक्त कराने का प्रयास स्त्री–पुरुष दोनों ने किया। पुरुषों ने स्त्रियों का मसीहा बनकर किया। स्त्रियाँ भी पुरुषों से कम नहीं थी। वह सामंतीय सामाजिक दृष्टि से जकड़ी हुई थी। परिवार समाज राजनीति का सह संबंध प्राचीन है। वह परिवार एवं समाज को प्रभावित करती ही है। स्त्रियों को परंपरागत भूमिका में देखने वालों ने उसे तत्कालीन समाज में होने वाले परिवर्तनों से जोड़कर देखने का प्रयास नहीं किया। यह उनकी व्यक्तिगत समस्या थी। भारतीय समाज में 'राजनीति' स्त्रियों की परंपरागत भूमिका के साथ नवीन भूमिका का सूत्रपात कर चुकी थी।

7.4 स्त्री मुक्तिः आंदोलन एवं संगठन

भारतीय नवजागरण का आरंभ 1857 की क्रांति से हुआ। भारतीय स्त्रियाँ 1857 की क्रांति में भाग लेकर अपनी योग्यता दिखा चुकी थी। हालांकि इस क्रांति के बाद उन्हें किसी अन्य से आगे बढ़ने की प्रेरणा लेने की आवश्यकता नहीं थी। वह अपनी मसीहा स्वयं बन सकती थीं। हाँ, इसमें थोड़ा समय अवश्यक लगता। यह भारतीय पुरुषों का भय या राजनीति है कि स्त्रियों की दशा सुधारने की पहल इनके द्वारा हुई। यह पुरुषवादी आंदोलन 19वीं शताब्दी के आरंभ से लेकर 19वीं शताब्दी के अंत तक जारी रहा। इस आंदोलन ने स्त्री जीवन को प्रभावित करने वाली कुरीतियों बाल–विवाह, स्त्री अशिक्षा, पर्दा प्रथा, विधवा अविवाह का विरोध किया। उस समय स्त्रियों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना लगभग लुप्त थी। इस कारण पुरुषों द्वारा उनके स्त्री जीवन संबंधी निर्णय कभी गलत नहीं लगे। 19वीं शताब्दी में स्त्री सुधार के लिए भारतीय पुरुषों के अचानक व्यवहार परिवर्तन की थीम

थी–''यही तो विडंबना है! स्त्रियों को क्या चाहिए, यह भी पुरुष ही तय करते हैं! 19वीं शताब्दी के पुरुषों को शिक्षित स्त्रियाँ इसलिए चाहिए थीं कि उस समय एक नया वर्ग बन रहा था, जिसके लिए एक नये ढंग की स्त्री की जरूरत थी। यह अंग्रेजी शिक्षा पाया हुआ अभिजन वर्ग था। इस वर्ग के पुरुष ऐसी स्त्री चाहते थे, जा घर में बच्चों को नये ढंग से पाले और बाहर 'सोसायटी' में या 'सोशल लाइफ' में पति के साथ निकल सके। वे अंग्रेजी उपन्यास पढ़ते थे और उनकी 'हीरोइनों' को अपने आसपास देखना चाहते थे। वे बुद्धिजीवी थे और उन्हें ऐसी स्त्री की बड़ी जबर्दस्त चाह थी, जो उनकी बौद्धिक सहगामिनी हो। इसके लिए उन्हें स्त्रियों को शिक्षित करना जरूरी लग रहा था और इसी के लिए वे गार्गी, मैत्रेयी आदि के उदाहरण सामने रखकर स्त्री–शिक्षा पर जोर दे रहे थे। लेकिन गार्गी की कहानी बताते हुए वे यह नहीं बता रहे थे कि उस जमाने में भी स्त्री पढ़–लिखकर कोई प्रश्न उठाती थी, तो उसे चुप कर दिया जाता था।''[77] लिहाजा 19वीं शताब्दी के पुरुष सुधारकों का स्त्री सुधार आंदोलन कहीं–कहीं स्त्रियोंद्धार आंदोलन कहा गया क्योंकि 'उद्धार हमेशा कोई बाहर से करता है जबकि स्त्रियों की दृष्टि में सवाल उनके अधिकारों का था न कि उद्धार का'।[78]

स्त्री आंदोलन का नेतृत्व करने वाले कुछ प्रगतिशील पुरुष थे। जब तक स्त्रियाँ स्वयं नेतृत्व सँभालने के पूर्णतः शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार नहीं हुई तब तक इन पुरुषों ने अपनी संवेदनानुरूप नेतृत्व सँभाला। स्त्री जीवन सुधार के लिए विभिन्न संगठनों एवं संस्थाओं का निर्माण किया। उन संगठनों में राजा राममोहन राय का ब्रह्म समाज (1828), महादेव रानाडे का 'प्रार्थना समाज' (1867), स्वामी दयानंद सरस्वती का 'आर्य समाज' (1875) और एनी बेसेंट की 'थियोसोफिकल सोसायटी' का नाम सर्वोपरि में लिया जाता है। इनके अतिरिक्त 19वीं शताब्दी में कुछ पुरुष प्रेरक स्त्री संगठन 'महिला समाज' (1882), भारत महिला परिषद् (1887), स्त्री जरथोस्टी मंडल (1896) विशेष उल्लेखनीय है। इन संस्थाओं द्वारा चलाए गए आंदोलनों ने भारतीय समाज को प्रभावित किया। प्रायः सभी संगठन गृहस्थ जीवन की प्रारंभिक तैयारी पर केंद्रित थे। ज्यादा से ज्यादा स्त्रियों को शिक्षण–प्रशिक्षण द्वारा आवास परस्त बनाते थे। पुरुष समाज के दोहरे मानदंडों ने स्त्रियों की अधीनता और अपमान को इतना तीव्र कर दिया कि 'स्त्रियाँ' स्त्री आंदोलन का हिस्सा बने बगैर नहीं रह सकी। आशारानी व्होरा ने नवजागरणकाल के पूर्वाद्ध की प्रमुख नेत्रियों शारदा देवी, रमाबाई रानाडे, भगिनी निवेदिता को इन संस्थाओं की देन कहा है। पुरुष समाज की सामाजिक, राजनैतिक,

आर्थिक, सांस्कृति, धार्मिक रणनीतियों, मूल्यों, आदर्शों, मर्यादाओं, मानदंडों से परे अपनी समस्याओं, आवश्यकताओं एवं समाधानों को समाज के सामने रखा। अपने प्रयत्नों से स्वायत्त स्त्री संगठनों का गठन किया। कहना न होगा कि स्त्रियों की वास्तविक आवश्यकताएँ एवं समस्याएँ उनकी अपनी स्वायत्त संस्थाओं के बनाने के उपरांत ही सामने आ पाई।

इस प्रकार भारत में स्त्री आंदोलन का आरंभ 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में पंडिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, आनंदीबाई जोशी, रुक्माबाई जैसी स्त्रियों द्वारा सामाजिक प्रतिबंधनों को तोड़ते हुए हुई। पहली बार समाज को स्वायत्त स्त्री संगठन एवं संस्थाएँ प्रदान की। स्त्री संबंधी समस्याओं एवं उनके समाधान हेतु अखिल भारतीय स्त्री संगठन के गठन को विचारा जाने लगा। इससे स्त्री आंदोलन को गति मिली। राधा कुमार भारतीय स्त्री संगठनों पर दृष्टि डालते हुए लिखते हैं–''सन् 1910–1920 का दशक ऐसा दशक था जिसमें सर्वप्रथम अखिल भारतीय महिला संगठनों के गठन के प्रयास किए गए। जैसा कि हम देख चुके हैं, महिलाओं के प्रारंभिक संगठन शहरी तथा संप्रदायवादी थे और आलोचना की दृष्टि से अनुकूल थे क्योंकि वे आर्यसमाजी या बाह्मणवादी थे। उन्नीसवीं सदी के आखिरी तथा बीसवीं सदी के शुरुआती सालों में बंगाल में बंग महिला समाज एवं अघोरीकामिनी नारी समिति, महाराष्ट्र में सतारा अबलोन्नति सभा, बंगलूर में महिला सेवा समाज, बनारस में भारत महिला परिषद तथा इलाहाबाद में प्रयाग समिति जैसे स्थानीय एवं क्षेत्रीय संगठनों ने अखिल भारतीय संगठनों का समर्थन किया। इनमें से कुछ कार्यशील समाज सुधार संगठन थे जबकि अन्य दूसरे संगठन स्त्रियों की चर्चा के मंच मात्र थे।''[79] इसी क्रम में 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों को लेकर 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक की क्रमानुसार संस्थाओं में सखी समिति (स्वर्णकुमारी, बम्बई, 1886), भारत स्त्री मंडल (सरलादेवी चौधरानी, 1910), शारदा सदन (पंडिता रमाबाई, पूना, 1892), हिंदू लेडीज सोशल एण्ड लिट्रेरी क्लब एवं सेवा सदन (रमाबाई रानाडे, पूना, 1902), महिला समिति (सुमिति देवी, कलकत्ता, 1905), गुजराती स्त्री मण्डल (अहमदाबाद, 1909), महिला सेवा समाज (मैसूर, 1913), भगिनी (पूना, 1916), वूमेंस इंडियन एसोसिएशन (एनी बेसेंट, मार्ग्रेट कजिन्स और डोराथी जिनारदासा, 1917), नेशनल काउंसिल ऑफ वूमेन इन इण्डिया (1925), ऑल इंडिया वूमेन कॉन्फ्रेंस (1927) आदि हैं। साम्राज्य विरोधी संघर्ष के विकास की प्रक्रिया में अन्य संस्थाओं में 'वीमेंस होम रूल लीग', इंडियन वूमेंस यूनिवर्सिटी है। ये सभी संगठन एवं संस्थाएँ अराजनैतिक थी। इन स्त्री संगठनों

में से वूमेंस इंडियन एसोसिएशन ने अखिल भारतीय स्तर पर स्त्रियों एवं विविध स्त्री संगठनों को एक साथ एक मंच पर लेकर आई और 'इंडिया वूमेंस कॉन्फ्रेंस' के नाम से अखिल भारतीय स्त्री संगठन बनाया।

भारत में स्त्री आंदोलन का आगमन 19वीं शताब्दी में हुआ जबकि हिन्दी साहित्यिक प्रदेश 19वीं शताब्दी तक मौन धारण किए रहा। लगभग 20वीं शताब्दी के बाद हिन्दी प्रदेश ने अपने मौन को तोड़ा। हिन्दी प्रदेश में स्त्री आंदोलन की स्थिति पर वीर भारत तलवार अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य' में लिखते हैं–''हिंदी प्रदेश में 19वीं सदी तक स्त्री–आंदोलन का कोई पता नहीं मिलता। कहते हैं कि 1874 ई. में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्त्री–शिक्षा के लिए एक पत्रिका बाला–बोधिनी निकाली थी। लेकिन इस पत्रिका के बारे में और कोई जानकारी नहीं मिलती। गौरीदत्त के उपन्यास देवरानी–जेठानी की कहानी (1870) और श्रद्धाराम फुल्लौरी के भाग्यवती (1877) से स्त्रियों को शिक्षित करने के लिए पुरुष समाज–सुधारकों के उत्साह का पता चलता है। लेकिन इन सबसे स्त्री–आंदोलन का कोई सिलसिला नहीं चला।''[80] यह सही है हिन्दी साहित्यिक प्रदेश में स्त्री जाग्रति कुछ देर से आई किंतु इस जाग्रति से हिन्दी प्रदेश में जो स्त्री आंदोलन शुरु हुआ वह भारत के नवजागरणकालीन प्रारंभिक स्त्री आंदोलन की भाँति पुरुष प्रेरक नहीं था; यह पहले से 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में उठे स्त्री आंदोलन के कारण स्त्री प्रेरक रहा।

हिन्दी प्रदेश में 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सर्वप्रथम व्यक्तित्व रामेश्वरी नेहरू का आता है। 1909 में प्रयाग महिला समिति, स्त्री साहित्य और 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका इन्हीं की देन है। स्त्री समस्याओं को उठाना एक अलग बात है और समस्याओं को उठाकर उसका समाधान ढूँढ़ना एक अलग बात। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका ने ये दोनों कार्य किए। इसने स्त्री आंदोलन को जीवित रखा। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका के विषय में वीर भारत तलवार लिखते हैं–''स्त्री–दर्पण हिंदी प्रदेश में स्त्री–आंदोलन की सबसे महत्त्वपूर्ण पत्रिका बनी। स्त्रियों की समस्याओं को एक आंदोलनकारी ढंग से, इतनी गम्भीरता और गहराई से, उठाने वाली पत्रिका उस समय कोई दूसरी न थी। पहले विश्वयुद्ध के दौर में और उसके बाद हिंदी में किसान–साहित्य की ही तरह स्त्री–साहित्य की भी काफी रचना हुई। स्त्रियों के सवालों को उठाया गया, खुद स्त्रियों ने आगे बढ़कर अपनी समस्याओं पर बहस चलाई और साहित्य

लिखा।''[81] 20वीं शताब्दी में हिन्दी प्रदेश का अपना साहित्य, रचानकार थे परंतु हिन्दी प्रदेश में स्त्री संगठन के नाम पर कुछ कहने के लिए नहीं था। स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर पर कुछ स्त्री–संगठन थे। स्त्री संगठनों को हिन्दी प्रदेश का पूर्ण सहयोग मिला और 'पत्रिकाओं' को हिन्दी प्रदेश में दोहरी भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त हुआ।

20वी शताब्दी की पत्रिकाएँ हिन्दी समाज में 'स्त्री संगठन' की संवाहिका बनी। पत्रिकाएँ लगातार क्षेत्रीय या स्थानीय स्त्री संगठनों द्वारा दिए व्याख्यानों को प्रकाशित करती रही। अपने विचारों को राष्ट्रीय स्तर पर फैलाया। इसने 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका को गंभीर से गंभीर विषयों पर समर्थकों एवं विरोधियों को सृजनात्मक बातचीत का मंच दिया। अधिकतर सभी मुद्दे स्त्रियों के जीवन से जुड़े हुए थे। ऐसा एक मुद्दा विधवा पुनर्विवाह है–स्त्री की स्वतंत्रता का एक रूप। स्त्री जीवन से जुड़े इस प्रश्न ने पुरुषों से अधिक स्त्रियों में रोष भर दिया। जनवरी 'स्त्रीदर्पण' 1911 के अंक में प्रकाशित 'प्रयाग महिला समिति' में दिए सावित्री देवी के व्याख्यान से स्त्रियों के सामाजिक स्वास्थ्य एवं मौलिक अधिकार से लेकर उनकी स्वाभाविक यौन इच्छाओं तक वाद–विवाद हुआ। इस व्याख्यान की सार्थकता मंगलानंद की टिप्पणी में विधुरों की युवा लड़कियों से विवाह के सामाजिक अनुमोदन के प्रश्न और विधवा पुनर्विवाह के समर्थन में है। इस विषय में कमलेश मोहन लिखते हैं–''उन्होंने पतिव्रता धर्म को भी पुनः परिभाषित किया। उनके विचार में, पतिव्रता धर्म में मृत पति के प्रति समर्पण अंतनिर्हित नहीं है बल्कि उस पुरुष के प्रति सत्यनिष्ठा की परंपरा का अनुसरण है जिससे विधवा विवाह करती है। उन्होंने तर्क दिया कि विधवा पुनर्विवाह निश्चित ही महिलाओं को नैतिक पतन की ओर नहीं ले जाएगा।''[82] इससे अच्छा तर्क पतिव्रता धर्म का और क्या हो सकता है? जो स्त्री जीवन को लकीर का फकीर बनने पर विवश न करे। जीवन में प्राचीन मूल्यों/आदर्शों का बदलना जरूरी होता है अन्यथा वह रूढ़ हो जाते हैं।

18 फरवरी 1917 को 'प्रयाग महिला समिति' द्वारा नन्दरानी नेहरू के नेतृत्व में एक सभा का आयोजन किया गया। यह सभा कुली रूप में स्त्री भरती की रोक पर ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना के लिए आयोजित की गई। इस सभा में प्रतिष्ठित स्त्री–पुरुषों श्रीमती रामेश्वरी नेहरू, श्रीमती बेगम साहब सर बुलन्द जंग, श्रीमती उमा नेहरू, श्रीमती धर्मपत्नी बाबू प्रयाग दास राय बहादुर, श्रीमती लाड़लीशुरी जुतशी, श्रीमती सावित्री देवी आदि ने

व्याख्यान दिए। मार्च 1917 में 'प्रयाग महिला समिति' द्वारा आयोजित सभा में 'स्त्रियाँ और भरती' शीर्षक से श्रीमती नन्दरानी नेहरू के व्याख्यान को 'स्त्रीदर्पण' ने प्रकाशित किया। यह अमेरिका, अफ्रीका और फीजी टापू में स्त्री–पुरुषों की स्थिति पर केंद्रित था। भारत के बाहर सस्ते मजदूरों की कमी को ब्रिटिश सरकार ने भारतीय स्त्री–पुरुषों को अमेरिका, अफ्रीका और फीजी टापू में भेजकर पूरा किया। प्रति व्यक्ति के श्रम से दोगुनी मजदूरी भारतीय पुरुषों से कराई जाती थी। चूँकि इन्होंने स्त्रियों को श्रम के लायक नहीं समझा तो भारतीय स्त्री की अस्मिता अमेरिकी, अफ्रीकी, फीजी अधिकारियों को जबरन लूटने के लिए मुहैया कराई गई। इनके लिए स्त्रियाँ व्यापार बन गई। इस पर लांछित स्त्रियों को किया जाता था। 'प्रयाग महिला समिति' में दिए नन्दरानी नेहरू के व्याख्यान में लिखा है–''वहाँ के मज़दूर यहाँ से हर साल भेजे जाते हैं और फ़ी 3 पुरुष के लिये एक स्त्री होती है। वहाँ के मज़दूर रखने वाले औरत मंगाना पसन्द नहीं करते, कारण यह है कि औरत से काम उतना नहीं ले सकते जितना पुरुष से और रेल और जहाज़ का ख़र्चा उतना ही देना होता है जितना पुरुष का। उन लोगों को केवल उन स्त्रियों की ज़रूरत है कि जो यातो वेश्यायें हों या ऐसी हों जो वेश्यायें बना दी जावें।...भारत की स्त्रियाँ जो स्वयं इस बात तक को बुरा समझती थीं कि किसी पुरुष का जो उन का पति न हो मुंह तक देखें वहाँ एक के बाद एक पति बदल डालती हैं। एक पुरुष ने बहुत ही रंज से एन्डरूज़ साहब से कहा कि हमारी औरतें बड़ी बेशर्म हैं वह कपड़ों की तरह पति बदलती हैं। मेरा प्रश्न यह है कि इसमें उन बिचारी मूर्ख स्त्रियों का क्या दोष है। धोखा देकर लेकर ले जाई गईं भेड़ बकरियों की तरह स्त्री पुरुष साथ भर दिये गये बुरे अच्छे भलेमानस बदमाश किसी में फर्क़ नहीं। खाना पीना सोना जगना उठना बैठना सब एक ही जगह मुद्दत तक यही नहीं बल्कि उन लोगों के संग जिन को स्त्रियों की इज्ज़त लेना बायें हाथ का खेल है। ऐसी हालत में और क्या हो सकता है। पहिले तो उन को बेइज्ज़त करो और फिर कहो कि वह लोग बहुत नहीच हैं। यह कौन–सा न्याय है?''[83]

नन्दरानी नेहरू ने व्याख्यान में ब्रिटिश सरकार से कुली प्रथा रोकने के लिए प्रार्थना के साथ–साथ स्त्री के अधिकारों के पक्ष में भारतीय धर्म ग्रंथों से प्रमाण जुटाते हुए 'विवाह' की व्याख्या की। नन्दरानी नेहरू ने कहा–''लाट साहब से सविनय प्रार्थना करती हैं कि ऐसा न करें क्योंकि उन्हीं कुटनों को जिन को मैं पहिले कह चुकी हूँ और धोखे देने का मौक़ा

मिलेगा। हमारी प्रार्थना है कि हमारी इज्ज़त बचावें न कि और लेने के मौक़े दें। हर राजा का धर्म है कि प्रजा को दुष्टों से बचावें और उस की रक्षा करे और इसी धर्म का पालन करना हमारे लाट साहब का कर्तव्य है। उनको शायद यह मालूम नहीं कि हमारे शास्त्र एक से पति से अधिक करने की आज्ञा नहीं देते और हमारा देश भर विधवा विवाह तक बुरा समझता है। वह यह बात कब तक गवारा कर सकता है कि ऐसा क़ानून बना दिया जावे कि स्त्री कपड़ों की तरह पति बदल सके। हम लाट साहब का ध्यान इस ओर दिलाती हैं। हम अपने उन भाईयों का ध्यान भी इस ओर दिलाती हैं कि जो विधवा विवाह होने पर आसमान ज़मीन सर पर उठा लेते हैं। उनसे यह प्रार्थना है कि इस क़ानून को मंसूब कराने का पूरा आन्दोलन करें। विधवा विवाह से बुरा सधवा विवाह है।''[84] नन्दरानी नेहरू भारतीय स्त्री को मुक्त कराने के विचार उत्तम थे लेकिन तर्क असंगत थे। वह अपने तर्कों से स्त्री के पुनर्विवाह की विरोधी प्रतीत होती है।

'स्त्रीदर्पण' अगस्त 1917 के अंक में 'रंगून महिला समिति' में दिए व्याख्यान को श्रीमती रामेश्वरी नेहरू ने अपनी संपादित पत्रिका में प्रकाशित किया। रामेश्वरी नेहरू का यह व्याख्यान भारतीय समाज की क्रूर कुरीति पर्दा प्रथा पर था। इनके लिए एक स्त्री का स्वतंत्र विहीन होना पर्दे में रहने के बराबर है। स्त्री की अधीनता कितनी परतों में होती होंगी स्पष्ट है! पर्दा प्रथा ने स्त्री–पुरुष के शारीरिक–मानसिक एवं प्रेम संबंध जैसा कुछ शेष नहीं रखा था। रामेश्वरी नेहरू ने इन्हें नई परिस्थितियों, नए कालखण्ड़, नए परिवेश एवं नए संदर्भों में परिभाषित किया। वह लिखती हैं–''पर्दे के कारण हम स्कूल की शिक्षा अर्थात पुस्तकों से शिक्षा भी नहीं ग्रहण कर सकतीं देख सुन–कर जो शिक्षा अर्थात पुस्तकों से शिक्षा मिलती है उसके द्वार तो पहिले ही से बन्द हैं परिणाम यह है कि हमारे पति, पिता, भाई, पुत्रों में कोई ऐसी बात नहीं होती जिस पर हम दो चार घड़ी मिल बैठकर बात कर सकें। अपने पति, पुत्रों के दिमाग़ी कामों में भाग या हिस्सा न ले सकना हमारे गृहस्थ सुख के लिये प्राण पातक है। केवल शारीरिक प्रेम, केवल शारीरिक संबंध सुख का दाता कभी नहीं हो सकता। सच्चे सुख को प्राप्त करने लिये, सच्चे प्रेम का आनन्द लेने के लिये यह बात आवश्यक है कि हममें व हमारे पुरुषों में दिमाग़ी सम्बन्ध हो और यह कदापि आज कल की दशा में पर्दे में रहकर नहीं हो सकता।''[85] अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए आंदोलन 'स्त्री आंदोलन' की आधारभूत विशेषता थी। यह व्याख्यान स्त्रियों को उनके अधिकार, जाति, पुरुष, देश के

उद्धार के लिए पुरुष मानसिकता के विरुद्ध आंदोलन करना सिखाता है। स्त्रियों को सशक्त बनाता है। पत्रिकाओं में व्याख्यान केवल इसलिए दिए गए ताकि स्त्रियाँ आंदोलित हो सके! समिति का अटूट हिस्सा बन सके। बरमा देश की 'रंगून महिला समिति' में संपादिका का 'स्त्री का कर्तव्य' शीर्षक से 'स्त्रीदर्पण' जुलाई 1917 के अंक में संपादकीय टिप्पणी में अपने व्याख्यान को प्रकाशित करते हुए संपादिका ने स्त्री का प्रमुख कर्तव्य समितियों का अटूट हिस्सा बनना माना है। व्याख्यान के शब्द हैं–''यदि बहिनों, आप अपनी जाति को संसार में जीवित रखना चाहती हैं, उसका अन्य जातियों के पैरों के तले कुचला जाना नहीं चाहतीं तो उद्योग कीजिये, आलस्य छोड़िये और काम करना आरंभ कीजिये। सब से प्रथम काम हमारे लिये यह है कि हम अपनी इस निर्जीव समिति में जान डाले और इसमें आकर इसकी सभासदों की सहायता से अपनी व अपनी जाति की उन्नति में तन, मन, धन से रत हो जांय।''[86] समितियों, संगठनों को क्या चाहिए था केवल इतना कि स्त्रियाँ अपने पैरों पर खड़ी हो जाए। वह आत्मनिर्भर बन सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकें। 'बम्बई सेवासदन सभा' 20वीं शताब्दी की ऐसी–वेसी सभा नहीं थी। इसका सरोकार किसी जाति–धर्म से न होकर स्त्री जीवन उद्धार से था। 'स्त्रीदर्पण' मार्च 1917 के अंक में संपादिका 'बम्बई सेवासदन सभा' पर दृष्टि डालते हुए लिखती हैं–''इस सभा के स्थापित करने की ग़रज़ यह थी कि बेघर वाली स्त्रियों को रहने का घर, भूखों को खाना, बीमारों को दवा, बेकार को काम दे। यद्यपि कोई भी सभा या समिति सारी दुनिया के दर्द बीमारी को दूर नहीं कर सकती और न यह ही कर सकती है तो भी इस सभा का काम प्रशंसनीय है कि आठ वर्ष के भीतर इसने ऐसी जगह बना ली है कि जहां 30 बेघर की स्त्रियों को रहने का स्थान दिया जाता है और उन की शिक्षा का भी बन्दोबस्त किया जाता है। स्त्रियों और लड़कियों को काम भी सिखाने का बन्दोबस्त है। सिलाई का काम जो स्त्रियों के वास्ते परम आवश्यक माना गया है ख़ास तौर पर सिखाया जाता है। कपड़े काटना, भोजना पकाना, मोज़े बुनना सिखाया जाता है। और मराठी और उर्दू पढ़ाने के वास्ते अलग–अलग दरजे खोले गए हैं।''[87] 20वीं शताब्दी में स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाने का प्रशिक्षण उनके स्त्रीत्व गुणों से समझौता किए बगैर दिया गया। अन्यथा स्त्री को ऐसे प्रशिक्षण की क्या आवश्यकता थी जो उन्हें स्त्री होने का आभास कराए।

स्त्री को स्त्रीत्व का आभास कराना स्त्री मुक्ति संगठनों, समितियों का सबसे कमजोर पक्ष रहा है किंतु इससे स्त्री मुक्ति आंदोलन पर कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा। आज स्त्रियाँ प्राचीन आदर्शों की मर्यादा लाँघ चुकी हैं। स्त्री मुक्ति की चाह में अनेक धाराओं को समाहित करके संगठनों, समितियों की मदद से कभी न रुकने का प्रण लिए जो बह निकली थी वह आज तक गंतव्य पर पहुँचने को लालायित हैं।

संदर्भ सूची

1. http://www.streekaal.com/2014/07/blog-post_8.html
2. आजकल, (सं.) सीमा ओझा, मार्च 2008, पृ. 15
3. स्त्री मुक्ति का सपना, (सं.) प्रो. कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा, पृ. 454–455
4. बृंदा करात, भारतीय नारीः संघर्ष और मुक्ति, पृ. 58
5. आज का स्त्री आंदोलन, (सं.) रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय, पृ. 22
6. स्त्रीकाल, (सं.) संजीव चंदन, अप्रैल 2010, पृ. 118
7. 'सामयिक मीमांसा'ः जनवरी–जून 2011, पृ. 16
8. हंस, (सं.) राजेन्द्र यादव, सितंबर 2005, पृ. 49
9. बयां, 2006, पृ. 30
10. महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ. 111
11. अनामिका, स्त्री मुक्ति का साझा चूल्हा
12. रमणिका गुप्ता, स्त्री मुक्तिः संघर्ष और इतिहास, पृ. 31
13. स्त्रीदर्पण, फरवरी 1917, पृ. 75
14. प्रभा, जुलाई–अगस्त 1915, पृ 366
15. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर, 1915, पृ. 101
16. वही, पृ. 102–103
17. मर्यादा, जनवरी 1918, पृ. 13
18. स्त्रीदर्पण, जुलाई 1916, पृ. 211
19. मर्यादा, जनवरी 1918, पृ. 17
20. प्रभा, सितंबर–अक्टूबर 1915, पृ. 489–490
21. मर्यादा, अगस्त 1919, पृ. 58–59
22. वही, पृ. 58
23. वही
24. वही, जुलाई 1919, पृ. 5
25. प्रभा, जुलाई–अगस्त 1915, पृ 418
26. स्त्रीदर्पण, सितंबर 1919, पृ. 114
27. वही
28. वही, पृ. 105–106
29. मर्यादा, जुलाई–दिसंबर 1915, पृ. 57
30. प्रभा, मार्च 1915, पृ. 6
31. वही, पृ. 8
32. स्त्रीदर्पण, अप्रैल 1917, पृ. 203
33. वही, पृ. 205

34. मर्यादा, अगस्त 1915, पृ. 110
35. स्त्रीदर्पण, दिसंबर 1918, पृ. 325
36. वही, फरवरी, 1919, पृ. 107
37. वही, सितंबर 1919, पृ. 104
38. वही, अक्टूबर 1919, पृ. 223
39. वही, अगस्त 1919, पृ. 104
40. मर्यादा, जुलाई 1915, पृ. 50
41. स्त्रीदर्पण, सितंबर 1919, पृ. 106
42. वही, दिसंबर 1919, पृ. 292

    ''विवाह कोई ऐसी स्वतंत्र मर्यादा नहीं कि जिस पर समाज की अन्य प्रथाओं व बन्धनों का कुछ भी प्रभाव न पड़े। विरासत का क़ानून (दत्तक विधान) भी पुनर्विवाह का एक बाधक कारण है। स्त्री का जाती धन अर्थात 'स्त्रीधन' कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखता। पुत्र और पुत्रियों को पिता के धन का बराबर भाग नहीं मिलता, स्त्री पति के धन की स्वामिनी होती हे। जैसे पति स्त्री को विवाह के उपरान्त अपने घर बुला लेता है, वैसे स्त्री नहीं बुला सकती। युवती या बच्चेवाली वा प्रौढ़ा स्त्री को पुर्विवाह के पश्चात् एक पति–कुल से दूसरे पति–कुल या एक पुरुष से दूसरे पुरुष के यहाँ जाना होगा। विवाह के हक्क बराबर होने पर भी पुरुषों का गौरव विशेष रहेगा। स्त्रियों के लिए यह कोई गौरव की बात नहीं कि वे अधिकृत पदार्थ–गौ, भैंस इत्यादि की भाँति एक कुल से दूसरे कुल में जाती फिरें। क्या इसमें उनको लज्जा नहीं आवेगी?'''
43. वही, दिसंबर 1919, पृ. 293
44. मर्यादा, जुलाई 1915, पृ. 53
45. स्त्रीदर्पण, अगस्त 1917, पृ. 65
46. वही, पृ. 67–68
47. वही, अक्टूबर, 1917, पृ. 213
48. वही, जनवरी 1916, पृ. 8
49. वही, सितंबर 1917, पृ. 218
50. वही, फरवरी 1917, पृ. 75
51. मर्यादा, जनवरी 1919, पृ. 48–49
52. वही, जनवरी 1919, पृ. 50
53. स्त्रीदर्पण, मई–जून 1919, पृ. 226

    ''जब कमेटी स्त्रियों के भाग्य का फैसला करने बैठी, उसने बहुत से स्त्री–पुरुषों को गवाही ली और हमने सुना है कि केवल एक ही सज्जन ने विरोध किय। कहा जाता है कि स्त्रियों से पूछा गया कि परदेवाली स्त्रियों को क्योंकर वोट लिया जावेगा? उत्तर मिला कि परदे का इन्तज़ाम हो।''
54. वही, मई–जून 1919, पृ. 227
55. वही, अगस्त 1919, पृ. 105–106
56. वही, सितंबर 1919, पृ. 155

57. वही, पृ. 165

58. वही, पृ. 276–277

59. वही, पृ. 115–116

60. वही, नवंबर 1919, पृ. 228

61. वही, अक्टूबर 1919, पृ. 208–209

62. वही, सितंबर 1919, पृ. 161

''वोटवाली कमेटी की यह सम्मति कि समाज की दशा ऐसी है कि स्त्रियों वो का अधिकार नहीं होना चाहिये ठीक नहीं। क्योंकि यदि स्त्रियों के बारे में यह ठीक है तो नीच जातियों के वास्ते और भी अधिक इसका ज़ोर होना चाहिये। परन्तु साउथबरा कमेटी ने समाज की इस दशा से न डर कर यह कहा कि सरकार को इन जातियों में से नामज़द करना चाहिये।''

63. वही, पृ. 162

''मैं साउथबरा कमेटी का स्त्रियों को वोट का अधिकार न दिलाने की सिफ़ारिश से विरोध करता हूँ।''

64. वही

''यदि स्त्रियों की माली हालत अच्छी हो तो मैं उनको वोट का अधिकार देने के पक्ष में हूँ। यद्यपि भारतीय स्त्रियाँ पर्दे में रहती हैं, वह देश की हालत से अच्छी तरह वाकिफ़ होती है कि जिसको वह खूब समझती हैं। वह देशवासियों की ज़रूरतों को समझती हें और उनके तरफ़ से बोलने का अधिकार रखती हैं, शायद पुरुषों से भी अधिक, क्योंकि वह बहुधा शहर और गाँवों से गैरहाज़िर रहा करते हैं। यद्यपि स्त्रियाँ देश की हालत को समझती हैं वह अपनी पुरानी मर्यादा पर कट्टर होती हैं, और इससे कोई कानून जो एकाएकी तब्दीली करनेवाला पेश हो उसके वह विरुद्ध होंगी। इसके अलावा यह बात याद रखने योग्य है कि हिन्दोस्तान में स्त्रियों की संख्या जिनकों वोट का अधिकार मिलेगा बहुत कम होगी और कोई इस बात का डर नहीं होगा जैसाकि विलायत में है कि पुरुषों से भी अधिक वोट हो जावें।''

65. वही, पृ. 162

''बड़े खेद की बात है कि साउथबरा कमेटी ने स्त्रियों को वोट का अधिकार देना उचित नहीं समझा और भारतीय सरकार ने भी यही सम्मति स्वीकार कर ली। पश्चिमी देशों में स्त्री–पुरुष के भेद उठते जाते हैं और भारत को उनके साथ लाने के वास्ते यह ज़रूरी है कि भारतीय स्त्रियों को भी वोट का अधिकार हो और यह अब आरंभ होने का समय है यद्यपि कुछ कठिनाइयाँ मिलें भी। सर संकरन की सम्मति कि स्त्रियों को वोट का अधिकार होना चाहिये ठीक है।''

66. वही, पृ. 163

''कमेटी ने अभी स्त्रियों को वोट का अधिकार देना समय के पहिले समझा है और यही ठीक है।''

67. वही

''वोट का अधिकार स्त्रियों को भी देना चाहिये।''

68. वही

''स्त्रियों को वोट का अधिकार देना जैसा कि नैशनल कांग्रेस चाहती है ठीक नहीं है और यदि कमेटी ने दूसरा नतीजा निकाला होता तो सब को आश्चर्य होता।''

69. वही, पृ. 163

''बड़े अफसोस की बात है कि कमेटी ने भारत नारियों को वोट का अधिकार न देने की ठहराई है। इससे घड़ी की सूई 50 वर्ष पीछे हट गई। उन्होंने स्त्री के वोट का तय करते समय भविष्य का न सोचा। पढ़ी लिखी स्त्रियों को वोट देने से कुछ हज़ार वोट पुरुषों के लाखों वोटों में बढ़ जावेंगे परन्तु इससे बड़ी तरक्की होगी। स्त्री शिक्षा की बड़ी उन्नति होगी। जब यह मालूम होगा कि जो स्त्री अपना नाम लिख सकती हैं वोट देने का अधिकार रखती है तो शिक्षा की बड़ी प्यास बढ़ेगी और आग की तरह साने देश में फैल जावेगी। स्त्रियों को पुरुषों से अधिक जोश होता है। मदरास में नया स्त्रियों का कौलेज शीघ्र ही भर गया और अब 250 स्त्रियाँ डिगरी लेने की लालच से भरती हैं। इसी तरह से वोट का अधिकार भारत की आधी जनसंख्या के साथ केवल इन्साफ ही न करेगा वरन शिक्षा का शौक़ बेहद बढ़ावेगा।''

70. वही, पृ. 164

''मैं उन लोगों में से नहीं हूँ कि जो कहते हैं कि स्त्री–पुरुष में किसी तरह का भेद नहीं होना चाहिये और तब भी मैं यह समझता हूँ कि कमेटी की यह राय कि हिन्दोस्तानी स्त्री अपने वोट को ठीक काम में नहीं ला सकती ठीक काम में नहीं ला सकती ठीक नहीं है। वोट का अधिकार शिक्षित या धनी स्त्रियों को दिया जावे। जो स्त्री अंडर ग्रेजुएट हो या 25/ रुपये वार्षिक सरकार को टैक्स देती हो वोट का अधिकार पावे। जो लोग स्त्रियों के वोट के विरुद्ध हैं इससे घबरावें नहीं क्योंकि वोट देनेवालियों की संख्या बहुत थोड़ी होगी। जो लोग वोट के पक्षपाती हैं उनको इसी पर राज़ी हो जाना चाहिये क्योंकि विलायत में सैकड़ों वर्षों के आन्दोलन बाद थोड़ी सी ही स्त्रियों को वोट का अधिकार मिला है। खास वजह जिस पर स्त्री को वोट देने से विरोध किया जाता है यह है कि बहुत कम स्त्रियाँ वोट को काम में लाने के वास्ते राज़ी होंगी। मैं इस राय को ठीक नहीं समझता। मैंने म्यूनिसिपल चुनाव में देखा है कि स्त्रियाँ वोट किस चाव से देती हैं। यदि ज़रूरी समझा जावे तो प्रत्येक स्त्री से पूछ लिया जावे कि वह अपना नाम वोटरों की फेहरिस्त में लिखवाना चाहती हैं या नहीं और उसके राज़ी होने पर लिखवाया जावे।''

71. वही

''इस अवसर पर स्त्रियों को वोट का अधिकार न देना बड़ी बुद्धि की बात हे। भारत की सामाजिक दशा और स्त्रियों की शिक्षा अभी ऐसी नहीं कि स्त्रियों को वोट का अधिकार उस समय दिया जावे कि सीधे रियाया ही दिया करेगी। थोड़ी सी अगुआ स्त्रियों को छोड़ अभी तक सर्वसाधारण स्त्रियाँ कांग्रेस, कान्फ्रेंस इत्यादि तक में शरीक नहीं हुई हैं और न वह म्यूनिसिपल या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में दाख़िल हुई हैं। यह सोचना कि वह काउनसिल में पहुँचें समय के पहले है। हम यह नहीं जानते कि सर संकरन और मि. हौग क्यों स्त्रियों के वोट के तरफ हैं।''

72. वही

''वोटवाली कमेटी ने सामाजिक कारणों से वोट का अधिकार भारत की स्त्रियों को देना मुनासिब नहीं समझा है। हमारी स्त्रियाँ और विलायत की वोटर स्त्रियाँ इसको पसन्द नहीं करेंगी। यदि यह वजह ठीक भी हो तो भी कोई वजह इसकी नहीं कि ईसाई स्त्रियों को जो कि शिक्षित और समझदार होती हैं वोट का अधिकार न हो जिस किसी बात से कि जिससे वोट का अधिकार हिन्दू या मुसलमान स्त्री को नहीं

दिया जाता ईसाई और पारसी स्त्री में नहीं होती अतएव मैं यह कहूँगा कि हिन्दोस्तानी ईसाई स्त्रियों को वोट का अधिकार होना चाहिये।''

73. प्रभा, अप्रैल 1920, पृ. 60
74. वही, मई 1920, पृ. 27
75. वही, पृ. 2
76. स्त्रीदर्पण, अक्टूबर 1920, पृ. 169
77. आज का स्त्री आंदोलन, (सं.) रमेश उपाध्याय संज्ञा उपाध्याय, पृ. 14
78. वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंगः कुछ प्रवृत्तियाँ, पृ. 124
79. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, (अनु. एवं सं.) रमा शंकर सिंह 'दिव्यदृष्टि', प्र. 121–122
80. वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंगः कुछ प्रवृत्तियाँ, पृ. 126
81. वही, पृ. 127
82. कमलेश मोहन, रामेश्वरी नेहरू, (अनु.) शमीम खान, पृ. 53
83. स्त्रीदर्पण, मार्च 1917, पृ. 156–157
84. वही, पृ. 157–158
85. वही, अगस्त 1917, पृ. 112
86. वही, जुलाई 1917, पृ. 6
87. वही, मार्च 1917, पृ. 113–114

'नवजागरण' हिन्दी साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। साहित्यिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, ज्ञान–विज्ञान में नवीन चेतना का सूत्रपात नवजागरणकालीन दौर में हुआ लेकिन विमर्श के दौर में विमर्शकार कई ऐतिहासिक तथ्यों को अनदेखा किए बैठे हैं। वास्तव में नवजागरणकालीन स्त्री जीवन के प्रश्न स्त्री विमर्श की जड़ें हैं। यह प्रायः याद दिलाते हैं कि स्त्री विमर्श को प्रेरणा कहाँ से मिली? इसका आरंभिक स्वरूप क्या था?

प्रत्येक देश अथवा युग का साहित्य समसामयिक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। देश के अस्तित्व पर संकट आने पर समाज, साहित्य, कला सब एक हो जाते हैं। 20वीं शताब्दी के मध्य तक भारत देश मुख्यतः पराधीन था। भारत को स्वाधीन कराने के लिए 1857 के विद्रोह को अंजाम दिया गया। इसमें भारतीयों को सफलता नहीं मिल पाई। भविष्य में भारतीयों को पराजय का मुँह न देखना पड़े उन्होंने अपने संघर्ष का तरीका बदल दिया। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन का समाज में बीजवपन हुआ। धीरे–धीरे उसका विकास हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं में भी होने लगा। 20वीं शताब्दी के हिंदी साहित्यिक क्षेत्र में सरस्वती, स्त्रीदर्पण, मर्यादा, प्रभा, आदि पत्रिकाएँ राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की प्रेरणा थी। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन 'राष्ट्रीय' स्तर का विशाल आंदोलन था। स्त्रियों की सहभागिता के बिना राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन एकांगी था। इसलिए राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन स्त्री मुक्ति आंदोलन में निहित था। स्त्रीदर्पण आदि पत्रिकाएँ पहले ही स्त्री जीवन बनाम राष्ट्रीय चेतना का आधार थी। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं ने भारतीय जन–जीवन में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत करने का प्रयास किया जिससे संयुक्त राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन मोर्चा निकाला जा सके। इन पत्रिकाओं में तत्कालीन स्त्री समाज का पुख्ता इतिहास दर्ज है। तत्कालीन साहित्यिक पत्रिकाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से इतिहास को संरक्षित ही नहीं करती बल्कि विविध आंदोलनों का नेतृत्व करने में अग्रणीय रही है।

द्विवेदी काल नैतिकता, मर्यादा, आदर्शवाद जैसी प्रवृत्तियों का अपनाता है। इससे स्त्री जाग्रति के लिए कोई स्पेस नहीं बचता। लगभग सभी विमर्शकार पितृसत्तात्मक मूल्यवादी हैं। घर–गृहस्थी, बालकों का लालन–पोषण, सास–ससुर की सेवा, पतिभक्ति आदि कर्तव्य

पितृसत्तात्मक मूल्यवादी आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैं। बँधी–बँधाई परिपाटी को छोड़ना कोई नहीं चाहता है। सब इसी पर चलकर परिवर्तन चाहते है। स्त्री अवधारणाओं के साथ यही समस्या है। समाज ने स्त्री अवधारणाओं को गूढ़ बना दिया है। उसे अनेक प्रतिमानों की मूर्त बना डाला है। स्त्री अवधारणाएँ सामाजिक संरचना में ऐसी जड़ीभूत हैं इन्हें तोड़ते–तोड़ते सदियाँ बीच चुकी है। वेद, पुराण, धार्मिक ग्रंथों की निर्मिति स्त्री अवधारणाएँ है; यह सर्वविदित है। लेकिन यही धार्मिक ग्रंथ स्त्री अवराधारणाओं को एक सिरे से गार्गी, मैत्रेयी, सीता, शकुंतला, द्रौपदी आदि के माध्यम से खारिज कर देते है। आधुनिक समय में दृष्टिकोण बदल स्त्रियों की दबी/छिपी चेतना को सामने लाने की आवश्यकता है।

प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं के स्वरूप को पुरुष सत्तात्मक कहने में कोई संकोच नहीं होता है। प्रारंभिक स्त्री जीवन संबंधी प्रश्नों को विमर्शकारों ने समाज, संस्कृति और परिवेश के अनुरूप उद्घाटित किया है। अधिकतर विमर्शकार स्त्रियों को आदर्शवादी, सुगृहिणी, मर्यादावादी, परंपरावादी, सहनशील उत्पाद मानकर चलते हैं। उनका समस्त विमर्श सीता–सावित्री बनने, घर–गृहस्थी सहजकर रखने, बच्चों के लालन–पोषण, सास–ससुर की सेवा, घरेलू अथवा सीमित शिक्षा, स्त्री धर्म, स्त्री कर्तव्य एवं दायित्वों, अधिकारों के नाम पर कुछेक अधिकार देने की अर्जी करता है। यदि अधिकतर विमर्शकार कहा जा रहा है तो इसमें कुछ विमर्श ऐसे भी हैं जिनके लिए मात्र स्त्री पर आरोपित स्त्री धर्म, कर्तव्य, दायित्व के कोई मायने नहीं है। वह परंपरावादी मूल्यों का खंडन करते हैं। नवीन मूल्यों की स्थापना द्वारा भारतीय समाज में समानता का बीजारोपण करना चाहते हैं। प्रारंभिक पत्रिकाओं में स्त्री जीवन प्रश्नों की कोई कमी नहीं है। स्त्री–पुरुष दोनों ने जीवन और समाज के व्यापक क्षेत्र का समावेश स्त्री जीवन के प्रश्नों से किया है। सभी प्रश्नों पर सहमति प्रकट करना जरूरी नहीं है और असहमत प्रश्नों की महत्ता कम हो ऐसा भी नहीं है बल्कि प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री जीवन से जुडें प्रश्न 'दर्पण' हैं–स्त्रियों को आत्मसाक्षात्कार कराते हैं। इन प्रश्नों की वर्तमान से तुलना करने पर वास्तविक स्त्री जीवन मूल्यों का बोध होता है।

विवाह सामाजिक संरचना का आधार है। जब यह सामाजिक कुरीतियों का एक मात्र कारक बनता है तब इसका मानव जीवन में महत्त्व खत्म प्रतीत होने लगता है। एक सभ्य समाज से अधिक प्रगतिशील भारतीय समाज की जंगली जनजातियाँ पाई गई हैं। अधिकतर

जनजातियों में बाल–विवाह, मृत–स्त्रीक विवाह की प्रथा नहीं है। विधवाओं के पुनर्विवाह पर कोई ऐतराज नहीं है। एक असभ्य–अशिक्षित जाति के विवाह संस्था संबंधित स्वतंत्र विचार सभ्य समाज का मार्गदर्शन कर सकते है। यदि इन जनजातियों में शिक्षा का संचार हो जाए; यह समाज के लिए एक अच्छा उदाहरण सामने रख सकते हैं। हालांकि सभ्य समाज से विविध परंपराएँ स्थानांतरित हो रही हैं। यह उनकी संस्कृति के लिए सबसे बड़ा खतरा है। उन्हें अपनी संस्कृति को बनाए रखने का प्रयास करना चाहिए। आज भी विवाह और शिक्षा का स्तर ज्यादा नहीं बढ़ पाया है। शिक्षा को सामाजिक संरचना को आधार बनाकर सुधार लाया जा सकता है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री शिक्षा क्या? भाषा, साहित्य से जुड़े प्रश्न साहित्यिक विमर्श का केंद्र बने। यहाँ भी वैचारिक भिन्नताएँ है लेकिन 20वीं शताब्दी में स्त्री शिक्षा–साहित्य संबंधी प्रश्नों का उठना तत्कालीन समय की पुकार थी।

किसी देश की पहचान उसकी संस्कृति से होती है और संस्कृति की पहचान स्त्रियाँ है। स्त्रियों की पहचान 'स्त्री धर्म' से होती है क्योंकि उनमें 'स्त्री धर्म' कूट–कूट कर निवास करता है। धर्म और कर्म की निर्मिति में धर्मशास्त्र अथवा संस्कृति पुरुष की सृष्टि है। इसके विरोध में आंदोलन कैसे हो! पुरुषसत्ता के अस्तित्व का प्रश्न था। इसका खामियाजा भारतीय स्त्रियों ने अपने अधिकारों को गँवाकर भुगता। लंबे समय तक स्त्रियों ने धर्म और कर्म के मार्ग पर चलकर अनजाने में पुरुषसत्ता के अस्तित्व को बनाए रखने में सहायता की। 20वीं शताब्दी में पश्चिमी प्रभुत्व से परिस्थितियाँ ऐसी बदली जैसे कोई चमत्कार हो। भारतीय पुरुषों और स्त्रियों ने स्त्री धर्म की पुनर्व्याख्या द्वारा भारतीय स्त्रियों में जिंदा रखने का प्रयास किया। यह बिलकुल स्त्री विरोधी था। यह व्याख्या कभी स्त्रियों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित नहीं करती किंतु यह दोष पुरुषों का नहीं, वर्चस्ववादी मानसिकता है। हमें इस मानसिकता को बदलना है। भारतीय कानून ने स्त्री–पुरुष समान अधिकार, मौलिक कर्तव्यों एवं दायित्वों का प्रावधान किया है। यह कागजी दर्जा है। व्यवहारिक रूप से स्त्री पर आरोपित सभी कर्तव्य, दायित्व और धर्म फर्जी है। यह स्त्रियों पर अन्याय है। नियमानुसार स्त्री–पुरुष समान होने के नाते कर्तव्यों, दायित्वों एवं मनुष्य धर्म का निर्धारण स्त्री–पुरुष में समान हो। तभी इसके मायने है अन्यथा थोपी गई रूढ़ियों के अलावा कुछ नहीं है।

स्त्री की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक समस्याओं का निदान 'स्त्री मुक्ति' में है। इसके लिए भारतीय स्त्रियाँ कितनी जद्दोजहद कर रही है। स्त्री मुक्ति प्रश्न स्त्रियों को मुख्यधारा में लाने का प्रयास है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को परंपराओं के आधुनिकीकरण के रूप में केंद्रीय महत्त्व मिला हुआ है। प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाओं में स्त्री के मार्ग का प्रतिपक्ष पुरूष नहीं है बल्कि उनसे जुड़ी वर्चस्ववादी मानसिकता है। इसने इस वर्चस्ववाद का संचार स्त्रियों में भी किया है। इनसे जड़ीभूत रूढियों और परंपराओं का आधुनिकीकरण प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में किया गया। यह पश्चिमी और भारतीय संस्कृति की टकराहट का मध्यस्थ मार्ग है जिसे भारतीयों ने खोजने में जरा–सी भी देरी नहीं की। इसके बावजूद सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृति अधिकारों के लिए लड़ती स्त्री को एक भूमिका के रूप में स्त्री संगठनों और आंदोलनों में प्रस्तुत किया है। प्रारंभिक पत्रिकाओं में यही आदर्श आगे की स्त्रियों को देने का प्रयास है।

20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की हिन्दी पत्रिकाओं में स्त्री जीवन से संबंधित प्रश्नों में बहुत से अंतर्विरोध एवं त्रुटियाँ मिलेगी। मात्र इस कारण समूचे स्त्री जीवन प्रश्नों को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि स्त्री के नवोत्थान की भूमिका इन्हीं प्रश्नों में विद्यमान है। ये प्रश्न स्त्री आंदोलन का एक प्रारूप है। इन्होंने स्त्री विमर्श को केंद्रीय मुद्दा बनाकर उभारा है। अतः 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों की पत्रिकाएँ एक प्रमाणिक ऐतिहासिक दस्तावेज है।

आधार ग्रंथ सूची

एकः पत्रिकाएँ

प्रभा[‡] (मासिक) — कालूराम गंगराडे (संपादक) खण्डवा (मध्यप्रदेश), 1913–1916, गणेशशंकर विद्यार्थी, देवदत्त शर्म्मा (संपादक), कानपुर, 1920

उपलब्ध अंकों की सूची– 1913 अप्रै.–दिस; 1915 मार्च–दिस; 1916 जन.–फर; 1920 जुला.–दिस;

मर्यादा (मासिक) — कृष्णकांत मालवीय (संपादक), अभ्युदय प्रेस, प्रयाग, 1915

उपलब्ध अंकों की सूची–1915 जन.–जून; जुला.–दिस; 1916 जन.–जून; जुला. –दिस; 1918 जन.–जून; जुला.–दिस; 1919 जन.–जून; जुला.–दिस; 1920 जन. –जून; जुला–दिस.

सरस्वती (मासिक) — श्यामसुंदर दास (संपादक), 1900 फिर महावीरप्रसाद द्विवेदी, 1903, इंडियन प्रेस, प्रयाग,

उपलब्ध अंकों की सूची–1900 जन.–दिस; 1901 जन.–दिस; 1902 जन.–दिस; 1903 जन.–दिस; 1904 जन.–दिस; 1905 जन.–दिस; 1906 जन.–दिस; 1907 जन.–दिस; 1909 जन.–दिस; 1910 जन.–दिस; 1911 जन.–दिस; 1913 जन–जून; जुला.–दिस; 1914 जन.–जून; जुला.–दिस; 1915 जन.–जून; जुला. –दिस; 1916 जुला.–दिस; 1917 जन.–जून; 1919 जन.–जून; जुला.–दिस.

स्त्रीदर्पण (मासिक) — रामेश्वरी नेहरू (संपादक), इलाहाबाद ला जनरल प्रेस, इलाहाबाद

[‡] 1913–1920 तक की अवधि के दौरान किन्हीं कारणवश इस पत्रिका का प्रकाशन सुचारू रूप से नहीं हो पाया। 1920 में जब इसका पुनः प्रकाशन कानपुर से हुआ, तब यह राजनैतिक स्वर धारण कर प्रकाश में आई।

उपलब्ध अंकों की सूची–1917 जन.–जून; जुला.–दिस; 1918 जुला.–दिस; 1919 जन.–जून; जुला.–दिस; 1920 जन.–जून; जुला.–दिस.

द्वितीयः माइक्रोफिल्म

बालाबोधिनी (मासिक) भारतेंदु हरिश्चन्द्र (संपादक), काशी

उपलब्ध अंकों की सूची–1874 जन.; 1874 फर.–मार्च; 1874 अप्रैल; 1874 जून; 1874 सितंबर; 1875 जुलाई; 1875 अगस्त; 1875 सितंबर; 1875 अक्टू.; 1875 नव.;, 1876 जन.; 1876 मार्च; 1874 अप्रैल.

हिन्दी प्रदीप (मासिक) पं. बालकृष्णभट्ट (संपादक), प्रयाग (इलाहाबाद)

उपलब्ध अंकों की सूची–1900 अप्रै.–जून; अग.–नव; 1901 मई.–सित; 1903 जन.–दिस; 1904 जन.–दिस; 1905 जन.–दिस; 1906 जन; मार्च–दिस; 1907 जन.–फर; अग.–दिस; 1908 जन.–अप्रै.

सहायक ग्रंथ (हिन्दी):

अज्ञात हिंदू महिला, सीमंतनी उपदेश, संपादकः डॉ. धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1982.

अरविन्द त्रिपाठी (सं.), आलोचना के सौ बरस–1, शिल्पायन, दिल्ली, सं. 2003.

अनामिका, स्त्रीत्व का मानचित्र, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, सं. 1999.

अनामिका, मन मांझने को जरूरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008.

आलोक मेहता, भारत में पत्रकारिता, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, प्र. 2006.

आशारानी व्होरा, औरतः कल, आज और कल, कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली, प्र. 2005.

आशारानी व्होरा, भारतीय नारीः दशा और दिशा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, सं. 1983.

ओमलता (सं.), स्त्रियों का सामाजिक जीवन एवं निबंध, स्वराज प्रकाशन, प्र. सं. 2013.

उमा चक्रवर्ती, जाति समाज में पितृसत्ताः नारीवादी नजरिए से, (अनु.) विजय कुमार झा, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, सं. 2011.

उषा महाजन, उठो अन्नापूर्णा साथ चलें, समरलोक हिमालय पुस्तक भंडार, नई दिल्ली, सं. 1995.

ए. आर. देसाई, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, मैकमिलन इंडिया, दिल्ली, सं. 1988.

एम. ए. अंसारी, नारी जीवन सुलगते प्रश्न, ज्योति प्रकाशन, जयपुर, प्र. 2006.

एस. माधवन, स्त्री शक्तिः सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण 2011.

एरिक हॉब्सबाम, साम्राज्य का युग (1875–1914), (अनु.) प्रकाश दीक्षित, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्र. 2009.

कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा (सं.), स्त्री मुक्ति का सपना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2005.

कुसुम त्रिपाठी, औरतः इतिहास रचा तुमने, कल्याणी शिक्षा परिषद्, नई दिल्ली, प्र. 2010.

के. दामोदरन, भारतीय चिंतन परंपरा, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि., नई दिल्ली

के. एम. मालती, स्त्री विमर्शः भारतीय परिप्रेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. 2010.

कृष्ण कुमार, गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया), प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली, संस्करण 2000.

कृष्ण बिहारी मिश्र, आधुनिक सामाजिक आंदोलन और आधुनिक हिन्दी साहित्य, आर्य बुक डिपो, नयी दिल्ली, प्र. 1972.

गुरूरामजी विश्वकर्मा मधुकर, भारतीय नारी और उसका त्याग, कल्पाज पब्लिकेशन, दिल्ली, सं. 2006.

गोपा जोशी, भारत में स्त्री असमानताः एक विमर्श, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सं. 2006.

चन्द्र मोहन अग्रवाल (सं.), नारी व समाज, सतीश गर्ग इंडियन पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, सं. 2001.

जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी, हिन्दी पत्रकारिता का इतिहास, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, सं. 2011.

जॉन स्टुअर्ट मिल, स्त्री और पराधीनताः प्रकृति, शक्ति और भूमिका से जुड़े प्रश्न, अनुवाद एवं प्रस्तुतिः युगांक धीर, संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण 2002.

चारू गुप्ता, स्त्रीत्व से हिंदुत्व तक राजकमल प्रकाशन, सं. 2012

ज्योतिष जोशी, साहित्यिक पत्रकारिता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. 2007.

ताराबाई शिंदे, स्त्री–पुरुष तुलना, (अनु.) जुई पालेकर, संवाद प्रकाशन, मेरठ, प्र. सं. 2002.

दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे (सं.), हाशिये का वृतांतः स्त्री, दलित और आदिवासी समाज का वैकल्पिक इतिहास, आधार प्रकाशन, पंचकूला, सं. 2011.

देवेन्द्र चौबे (सं.), साहित्य का नया सौंदर्यशास्त्र, किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र. 2006.

धर्मेन्द्र गुप्त, लघु पत्रिकाएँ और साहित्यिक पत्रकारिता, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. 2000.

नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, संपादक डॉ. हरदयाल, मयूर पेपरबैक्स, संस्करण 2013.

नामवर सिंह (प्रधान सं.), विश्वनाथ त्रिपाठी (सं.), चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी': प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नयी दिल्ली, प्र. 1997.

नंददुलारे वाजपेयी, हिन्दी साहित्यः बीसवीं शताब्दी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2010.

नासिरा शर्मा, औरत के लिए औरत, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, सृ. 2014.

निवेदिता मेनन, नारीवादी राजनीति; संघर्ष एवं मुद्दे, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, सं. 2001

नेमिशरण मित्तल (अनु.), भारतीय पुनर्जागरण में अग्रणी महिलाएं, संपादकः सुशीला नैयर, कमला मनकेकर, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, प्र. 2005.

पंकज बिष्ट (सं.), धर्मः प्रासंगिकता के सवाल, समयांतर प्रकाशन, प्र. सं. 2006.

पंडिता रमाबाई, हिंदू स्त्री का जीवन, शंभू जोशी अनुवादक, संवाद प्रकाशन, मेरठ, संस्करण 2006.

पंडित श्री हरगोविंद शास्त्री, मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, संस्करण 1965.

फ़्रेडरिख़ एंगेल्स, परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति, (अनु. और सं.) नरेश 'नदीम', प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 2006.

बंसीधर, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी का सृजनात्मक साहित्य, नटराज पब्लिशिंग हाउस, करनाल हरियाणा, प्र. स. 1986.

बच्चन सिंह, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2011.

वसुधा डालमिया, संजीव कुमार (सं.) राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2014.

बिपन चन्द्र (सं.), आधुनिक भारत, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., सं. 2009.

बृंदा करात, भारतीय नारीः सघर्ष और मुक्ति, (अनु.) उषा चौहान, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, सं. 2008.

भारत यायावर (सं.), महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, खण्डः सात, किताबघर, नई दिल्ली, सं. 1995.

मंजुल भगत, समग्र कथा–साहित्य, (सं.) कमल किशोर गोयनका, किताबघर दिल्ली, सं. 2004.

महादेवी वर्मा, श्रृंखला की कड़िया

मन्नू भंडारी प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं. 1984.

मधुरेश, हिंदी कहानी का विकास, लोकभारती प्रकाशन, सं. 2011.

मुकुटबिहारी वर्मा, स्त्री–समस्याः स्त्री आंदोलन के इतिहास–सहित, सस्ता–साहित्य–मंडल, अजमेर, सं. 2000.

मेरी वोल्सटनक्राफ़्ट, स्त्री–अधिकारों का औचित्य–साधन, (अनु.) मीनाक्षी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. 2003.

मैनेजर पाण्डेय, आलोचना की सामाजिकता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2005.

रमणिका गुप्ता, स्त्री मुक्तिः संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2014.

मृदुला गर्ग, चित्तकोबरा, राजकमल प्रकाशन, सं. 2013.

रमेश उपाध्याय, सज्ञा उपाध्याय (सं.), आज का स्त्री आंदोलन, शब्दसंधान, नयी दिल्ली, 2004.

राघवचेतन राय (अनु.), भारत की बीसवीं सदीः पीछे मुड़कर देखते हुए, संपादकः एन. एन. वोहरा, सब्यसाचि भट्टाचार्य, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली, प्र. 2009.

राज किशोर, स्त्री–पुरुषः कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006.

रामचंद्र तिवारी, हिन्दी का गद्य–साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सं. 2006.

राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास (1800–1990), (अनु. एवं सं.) रमा शंकर सिंह 'दिव्यदृष्टि', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2005.

राधे श्याम शर्मा, हिन्दी पत्रकारिताः स्वरूप और आयाम, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्र. 2002.

रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, सं. 2011.

राजकिशोर (सं.), आज के प्रश्नः स्त्री, परंपरा और आधुनिकता, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं. 2010.

रामविलास शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.नई दिल्ली, सं. 1977.

रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 1986.

रोमिला थापर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, अनुवादः आदित्यनारायण सिंह, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, प्र. 2001.

लता सिंहल, भारतीय संस्कृति में नारी, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, प्र. 1991.

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2009.

लेविस हेनरी मार्गन, (अनु. और सं.) नरेश 'नदीम', प्राचीन समाज, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण 2010.

वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य; कुछ प्रसंग : कुछ प्रवृत्तियां, हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली, प्र. 1993.

शाहिद अमीन, ज्ञानेंद्र पांडेय (सं.), निम्नवर्गीय प्रसंग भाग–2, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. 2002.

शिवकुमार मिश्र, भक्ति आंदोलन और भक्ति–काव्य, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. 2012.

शोभा नटाणी, भारतीय समाज और नारीः दशा और दिशा (भाग–2), मार्क पब्लिशर्स, जयपुर, प्र. 2010.

शंभुनाथ, हिंदी नवजागरण और संस्कृति, आनंद प्रकाशन, कोलकाता, प्र. 2004.

शंभुनाथ (सं.), सामाजिक क्रांति के दस्तावेज (भाग–1), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, सं. 2006.

श्रीनिवास शर्मा (सं.), राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और हिन्दी पत्रकारिता, छपते–छपते प्रकाशन, कोलकाता, सं. 1999.

संजय गर्ग, स्त्री विमर्श का कामजयी इतिहास, सामयिक प्रकाशन, सं. 2012.

सत्यप्रकाश मिश्र (सं.), बालकृष्ण भट्ट के श्रेष्ठ निबंध, लोकभारती पेपरबैक्स, संस्करण 2011.

सरला माहेश्वरी, नारी प्रश्न, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, सं. 2007.

सबीहा रहमानी, भारतीय मुस्लिम महिला एवं सशक्तिकरण, अध्ययन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यटर्स, नई दिल्ली, प्र. 2006.

सीमोन द बोउवार, स्त्रीः उपेक्षिता, (अनु.) प्रभा खेतान, हिंद पॉकेट बुक्स प्रा. लिमिटेड, दिल्ली, सं. 1994.

सुधाकर पांडेय (सं.), साहित्य का बृहत् इतिहास, नवम भाग, द्विवेदी कालः (सं. 1950 से 1975 वि.), नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2034 वि.

सुमन राजे, इतिहास में स्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, प्र. 2012.

क्षमा शर्मा, स्त्रीत्ववादी विमर्शः समाज और साहित्य, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. 2002.

ज्ञानेन्द्र रावत (संकलन–संपादक), औरतः एक समाजशास्त्रीय अध्ययन, विश्वभारती पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्र. 2006.

सहायक ग्रंथ (अंग्रेजी):

A. R. Gupta, Women in Hindu Society: A Study of Tradition and Transition, Jyotsna Prakashan, New Delhi, 1976.

Joan Kelly, Women, History, and Theory: The Essays of Joan Kelly, University of Chicago Press, London, 1984.

Lynn E. Gatwood, Devi and the Spouse Goddess: Women, Sexuality, and Marriage in India, Manohar Publications, New Delhi, 1985.

Martha Alter Chen, Widows in India: Social Neglect and Public Action, Sage Publications, First Edition 1998.

Manmohan Kaur, Role of Women in the Freedom Movement (1857-1947), Sterling Publishers, Delhi, 1968.

Monmayee Basu, Hindu Women and Marriage Law: From Sacrament to Contract, Oxford University Press, New Delhi, 2001.

Rajmohini Seth, Modernization of Working Women in Developing Societies, First Edition 1976.

The Maharani of Baroda & S. M. Mitra, The Position of Women in Indian Life, Cosmo Publications, New Delhi, 2005.

Toril Moi, Sexual/Textual Politics: Feminist Literary Theory, London and New York; Routledge, 1985.

Vanaja Dhruvarajan, Hindu Women and the Power of Ideiology, Vistaar Publications, New Delhi, 1989.

सहायक पत्र–पत्रिकाएँ (हिन्दी):

आजकल

आलोचना

कल्पना

तदभव

बयां

नया प्रतीक

नया ज्ञानोदय

स्त्रीकाल

हंस

ज्ञानोदय

सहायक पत्र–पत्रिकाएँ (अंग्रेजी):

Economic & Political Weekly

Seminar

The Indian Economic and Social History Review

अंतर्जालीय स्रोतः

www.wikipedia.com

www.britannica.com

www.strikaal.com

www.hindisamay.com

www.shabdankan.com

www.jagran.com